दधि के साथ दूध के पकाने से 'दधिकूर्चिका' बनती है, इसी प्रकार तक्र के साथ दूध को पकाने से तक्रकूर्चिका बनती है। तक्र से लघु छाछ का मण्ड [मस्तु] है, तक्रकूर्चिका दधिकूर्चिका से लघु है।

वि० मन्तव्य—तक्र के तथा दही के गाढ़े भाग का नाम "कूर्चिका" है, उसे "पनीर" भी कहते हैं, उसके जल का नाम "मस्तु" है, उसको तक्रमण्ड तथा दधिमण्ड भी कहते हैं। दूध के गाढ़े भाग का नाम भी "कूर्चिका" है, जिसका नाम "खोया" या "खुर्चन" है। दूध को पकाने पर जलांश भाप बनकर उड़ जाता है और "खोया" रह जाता है, दूध को फाड़कर घन भाग ले लिया जाता है उसको "छेना" कहते हैं।

गुरुः किलाटोऽनिलहा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः।

किलाट (फटे हुए दूध का घना भाग), गुरु, वायुनाशक, पुंस्त्वप्रद (शुक्रवर्धक) एवं निद्राप्रद है।

मधुरौ बृंहणौ वृष्यौ तद्वत्पीयूषमोरटौ ॥ ९१ ॥

पीयूष (तुरन्त ब्रिआई गाय का सात दिन तक का दूध), और मोरट (सात दिन के पीछे जब तक दूध साफ न हो), मधुररस और देह एवं शुक्रवर्धक हैं।

वि० मन्तव्य – पीयूष को "फेउँच" तथा पञ्जाब में "बाहुली" कहते हैं। परन्तु यह प्रसूता गौ भैंस के दूध को गर्म करने पर बनती है। वैसे भी दुहने के १०, २० मिनट के पश्चात् दूध जम जाता है। यह दूध यदि धारोष्ण दिया जाय तो श्वास में लाभ करता है, इसका नाम पीयूष-अमृत है। प्रसव के अनन्तर ३-४-५ दिन तक का दूध पीयूष कहलाता है। जब तक वह जमता या गाढ़ा होता रहता है ॥ ९१ ॥

नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहं, चिरोत्थितं गुरु कफमेदोविवर्धनं बलकरं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते ॥ ९२ ॥

तुरन्त निकाला मक्खन-लघु, देह को कोमल करनेवाला, मधुर-कषाय, थोड़ा अम्ल, शीतल, मेधावर्धक अग्निदीपक, हृद्य, संग्राही, पित्त-वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), अविदाहि, क्षय, कास, श्वास, व्रण, शोष, अर्श, अर्दित को दूर करनेवाला है। देर का निकला मक्खन—गुरु, कफ, मेद को बढ़ानेवाला, बलकारक (ओजस्कर), बृंहण (देह की वृद्धि करनेवाला), शोषनाशक, विशेषकर बालकों के लिये उत्तम है ॥ ९२ ॥

क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च।

दूध से निकला मक्खन—इसमें स्नेह और मधुरता बहुत अधिक रहती है, अतिशीतल, देह को सुकुमार करनेवाला, आँखों के लिये हितकारी, संग्राहि, रक्तपित्तनेत्ररोगनाशक एवं वर्ण को स्वच्छ करनेवाला है ॥ ९३ ॥

संतानिका पुनर्वातघ्नी तर्पणो वृष्या बल्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च ॥

दूध की मलाई – वातनाशक, तृप्ति करनेवाली, बलकारक, शुक्रवर्धक, स्निग्ध, रुचिकारक, मधुररस, विपाक में मधुर, रक्तनाशक और गुरु है ॥ ९४ ॥

विकल्प एष दध्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः।
विकल्पानवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत् ॥ ९५ ॥
इति तक्रवर्गः।

यह जो दधि एवं तक्र आदि का वर्णन किया है, यह सब गाय के दूध से ही बनी वस्तुओं के हैं, अजा आदि के शेष रहे भेदों को दूध के वीर्य (गुणों) से ही कल्पना कर लेना चाहिये ॥ ॥ ९५ ॥ इति तक्रवर्गः ॥

अथ घृतम्।

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमनभिष्यन्दिस्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्मामिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ।९६।

इसके आगे घृतवर्ग कहते हैं—

घी के सामान्य गुण—मधुररस, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, थोड़ा अभिष्यन्दि, शरीर को स्निग्ध करनेवाला; उदावर्त्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वातपित्त को शान्त करता है, अग्निदीपक, स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सुकुमारता, ओज तेज बल को बढ़ाता है, आयुवर्धक, वृष्य, पवित्र है, आयु को स्थिर रखता है, गुरु, आँखों के लिये हितकारी, कफवर्धक पाप एवं अलक्ष्मी को शान्त करता है, विषनाशक एवं राक्षस भय को दूर करता है[1] ॥ ९६ ॥

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम्।
चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिगुणोत्तरम् ॥९७॥

गाय का घी—विपाक में मधुर, शीतवीर्य, वात-पित्त-विषनाशक, आँखों के लिये अतिश्रेष्ठ, बलकारक, गुणों में अतिश्रेष्ठ है ॥ ९७ ॥

आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्धनम्।
कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥ ९८ ॥

बकरी का घी—अग्निदीपक, चक्षुष्य, बलवर्धक कास, श्वास, क्षय में भी हितकारी, और विपाक में लघु है ॥ ९८ ॥

मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम्।
वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं घृतम् ॥ ९९ ॥

१—"यस्मात्तेजोमयं ब्रह्म घृते तच्च व्यवस्थितम्।
तेजोऽमृतमयं दिव्यं महापातकनाशनम् ॥"

भैंस का घी—मधुर, रक्त-पित्त नाशक, विपाक में गुरु, कफवर्धक, वात-पित्त को शान्त करनेवाला शीतवीर्य होता है ॥

औष्ट्रं कटु घृतं पाके शोफक्रिमिविषापहम् ।
दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ १०० ॥

ऊँटनी का घी—विपाक में कटुरस, शोफ-कृमिविष को दूर करनेवाला, अग्निदीपक, कफ-वायुनाशक, कुष्ठ, गुल्म, उदर को नष्ट करता है ॥ १०० ॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् ।
कफेऽनिले योनिदोषे शोषे कम्पे च तद्धितम् ॥ १०१ ॥

भेंड़ का घी—विपाक में लघु, पित्त को कुपित नहीं करता। कफ, वायु, योनिरोग, शोष और कम्परोग में हितकारी है ॥ १०१ ॥

पाके लघूष्णवीर्यं च कषायं कफनाशनम् ।
दीपनं बद्धमूत्रं च विद्यादैकशफं घृतम् ॥ १०२ ॥

घोड़ी का घी—विपाक में लघु, उष्णवीर्य, कषायरस कफनाशक, अग्निदीपक, मूत्र को रोकनेवाला है ॥ १०२ ॥

चक्षुष्यमग्र्यं स्त्रीणां तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् ।
वृद्धिं करोति देहाग्न्योर्लघुपाकं विषापहम् ॥ १०३ ॥

स्त्रियों का घी—आँखों के लिये अतिश्रेष्ठ, अमृत के समान, शरीर एवं अग्नि को बढ़ाता है, विपाक में लघु, विषनाशक है ॥ १०३ ॥

कषायं बद्धविण्मूत्रं तिक्तमग्निकरं लघु ।
हन्ति कारेणवं सर्पिः कफकुष्ठविषक्रमीन् ॥ १०४ ॥

हथिनी का घी—कषायरस, मल-मूत्र का अवरोधक, तिक्त, अग्निकारक, लघु, कफ, कुष्ठ, कृमि को नष्ट करता है ॥१०४॥

क्षीरघृतं पुनः संग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रशमनं नेत्ररोगहितं च ॥ १०५ ॥

दूध से निकला घी—संग्राहि, रक्तपित्त, भ्रम, मूर्च्छा को नाश करता है और नेत्र रोगों में हितकारी है ॥ १०५ ॥

सर्पिर्मण्डस्तु मधुरःसरो योनिश्रोत्राक्षिशिरसां शूलघ्नो वस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०६ ॥

घी का मण्ड (पिघले घी के ऊपर का स्वच्छ भाग), मधुर; सर (विरेचक), योनिशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल और शिरःशूल को मिटानेवाला, बस्ति (कर्म), नस्य एवं आँख के पूरण तर्पण में व्यवहृत होता है ॥ १०६ ॥

सर्पिः पुराणं सरं कटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं बस्तिनस्यपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०७ ॥

पुरातन घी (दस साल पुराना)—सर (विरेचक), कटुविपाकी त्रिदोष—(वात, पित्त, कफ) नाशक, मूर्च्छा, मद (विष-रक्त एवं मद्यजनित मद), उन्माद, ज्वर, उदर, गर (संयोगजन्य विष)—शोष; अपस्मार रोगनाशक; योनिशूल; कर्णशूल, नेत्रशूल, शिरःशूल को नष्ट करता है, अग्निदीपक, बस्ति-कर्म नस्य और आँख के तर्पणमें प्रयुक्त किया जाता है ॥

भवति चात्र—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत् ।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ १०८ ॥

दस साल का पुराना घी—तिमिर (नेत्ररोग), श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह (स्कन्दादि), अपस्मार को नाश करता है ॥ १०८ ॥

(एकादशशतं चैव वत्सरानुषितं घृतम् ।
रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम् ॥१०९॥

एक सौ ग्यारह साल तक रक्खा हुआ घी, राक्षसों के भय को नाश करता है, इसके आगे (एकसौ ग्यारह साल के आगे) महाघृत हो जाता है। एक सौ ग्यारह साल का घी कुम्भसर्पि हो जाता है, कई आचार्य सौ साल के पुराने घी को कुम्भसर्पि कहते हैं।

वि० मन्तव्य—पुराना घी—१ वर्ष पुराना, १० वर्ष पुराना, १५ वर्ष से अधिक पुराना अथवा १०० वर्ष अथवा १११ वर्ष पुराना घृत "पुराण" या पुराना कहलाता है। सब का तात्पर्य है जितना अधिक पुराना हो उतना अधिक उत्तम होता है। पुराना होने पर घृत का वर्ण मोमियाँ या कुछ काला-पीला सा हो जाता है जैसा मोममिश्रित तैल का। उसमें विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न हो जाती है। वह सन्निपात में शिर (तालु ब्रह्म-रन्ध्र स्थान) पर, श्वास में—वक्षस् एवं पार्श्व पर लगाया या मला जाता है। अपस्मार आदि में ५-१० रत्ती मात्रा में खाया भी जाता है। इसका नाम "महाघृत" है ॥

पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः ।
बल्यं पवित्रं मेध्यं च विशेषात्तिमिरापहम् ॥११०॥
सर्वभूतहरं चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥ १११ ॥)

इति घृतवर्गः ।

जिन प्राणियों में वायु की अधिकता हो उनको महाघृत पीना चाहिये, वह कफनाशक है। बलकारक, पवित्र, मेधावर्धक खासकर नेत्ररोगनाशक है। सब तरह की बाधा को दूर करता है, यह घी प्रशस्त है ॥ ११०,१११ ॥

अथ तैलानि

तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलबलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितं पित्तजननं योनिशिरःकर्णशूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनं च तथा छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टच्युतमथितक्षतपिचितभग्नस्फुटितक्षाराग्निदग्धविश्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्न-

मृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिल-तैलं प्रशस्यते ॥११२॥

इसके आगे तैल कहते हैं—

तैल आग्नेय गुण, उष्ण, तीक्ष्ण, मधुररस, मधुरविपाक, बृंहण (शरीर को बढ़ानेवाला), प्रीणन, व्यवायी, सूक्ष्म, विशद, गुरु, सर, विकासि, (सन्धि बन्धों को खोलनेवाला), वृष्य (शुक्रल), त्वक्प्रसादन (अभ्यंग और भोजन में त्वचा का प्रसादन करनेवाला), शोधन, मेधावर्धक, मार्दव (कोमलता), मांस-स्थिरता-वर्ण-बलकारक, आँखों के लिये हितकारी, मूत्र को रोकनेवाला, लेखन, तिक्तकषाय अनुरस पाचक, वायु, कफ का नाशक, कृमिनाशक, खाने पर पित्तजनक (थोड़ा पित्त प्रकोपक); योनिशूल, शिरःशूल, कर्णशूल का शामक, और गर्भाशय का शोधक है। छिन्न (दो भागों में विभक्त), भिन्न (विदारित), विद्ध (सूई आदि से बिंधा), उत्पिष्ट (चूर्णित), च्युत (स्थान से गिरा), मथित (विलोडित), क्षत (क्षत घाव आदि), पिच्चित (चपटा हुआ), भग्न (टूटा), स्फुटित (फूटा), क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, विश्लिष्ट (सन्धिबन्ध से अलग हुआ), दारित (बहुत स्थानों से फटा), अभिहत (चोट लगने पर), दुर्भग्न (चूर्णित, अवपातित, बुरी तरह से टूटा), मृग (शेर आदि), व्याल (सर्प आदि) के काटने पर परिषेक, अभ्यंग, अवगाहन आदि कार्यों में तिलतैल उत्तम है[1] ॥११२॥

तद्बस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥११३॥

तिल का तेल—बस्ति कार्य में, पान में, नस्य, कान या आँख में डालने के लिये, खानपान को संस्कृत (पकाने) करने में, वायु को शान्त करने के लिये तिलतैल बरतना चाहिये ॥

एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मस्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरं च ॥११४॥

एरण्ड का तैल—मधुर उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु-कषाय अनुरस, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में घुसनेवाला), स्रोतों का शोधक, त्वचा के लिये हितकारी, वृष्य (शुक्रवर्धक), विपाक में मधुर, वयःस्थापक, योनि (गर्भाशय) एवं शुक्र का शोधक, आरोग्य, मेधा, क्रान्ति (प्रभा), स्मृति एवं बल कारक, वात-कफनाशक और अधोभाग (विरेचन) द्वारा दोष का हरण करनेवाला है ॥११४॥

निम्बातसीकुसुम्भमूलकजीमूतकवृक्षकृतवेधनार्कक-म्पिल्लकहस्तिकर्णपृथ्वीकापीलुकरञ्जेङ्गुदीशिग्रुसर्षपसुवर्च-लाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेह-शिरोरोगापहराणि चेति ॥११५॥

निम्ब (नीम), अतसी (अलसी), कुसुम्भ, मूलक (मूली), जीमूतक (देवदाली), वृक्षक (कुटज), कृतवेधन (तुरई), अर्क (आक), कंपिल्ल (कमीला), हस्तिकर्ण (लाल एरण्ड), पृथ्वीका (काला जीरा), पीलु, करञ्ज (करंजुवा), इंगुदी, शिग्रु (सहजन), सर्षप (सरसों), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), विडङ्ग (वायविडङ्ग) ज्योतिष्मती (मालकंगनी), इनके फलों के तेल, तीक्ष्ण, लघु, उष्णवीर्य, कटुरस, कटु विपाक, सर (विरेचक) हैं, वायु, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग को नष्ट करनेवाले हैं ॥११५॥

वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं बलावहम् ।
कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥११६॥

अलसी (क्षुमा) का तेल—वायुनाशक, कटुविपाक, आँखों के लिये अहितकारी, स्निग्ध, उष्ण, गुरु और पित्तकारक है ॥

कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु ।
कफमेदोनिलहरं लेखनं कटुदीपनम् ॥११७॥

सरसों का तेल—कृमिनाशक, कण्डू, कुष्ठ को नाश करनेवाला, लघु, कफ, मेद, वायु नाशक, लेखन (स्थूलता को कम करनेवाला) कटु विपाक और अग्निदीपक है ॥११७॥

कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु ।
कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम् ॥११८॥

इङ्गुदी का तेल—कृमिनाशक, थोड़ा तिक्तरस लघु, है। कुष्ठरोग, कृमिरोग का नाशक, दृष्टि, शुक्र, बलको कम करता है॥

विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषकृत् ।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च ॥११९॥

कुसुम्भ का तैल, विपाक में कटु, तीनों दोषों को कुपित करता है, रक्तपित्त—कारक, तीक्ष्ण आँखों के लिये अहितकर और विदाहि है ॥११९॥

किराततिक्तकातिमुक्तकबिभीतकनालिकेरकोलाक्षोड-जीवन्तीप्रियालकर्बुदारसूर्यवल्लीत्रपुसैर्वारुककर्कारुकूष्मा-ण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्त-प्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि चेति ॥१२०॥

किराततिक्तका (चिरायता), अतिमुक्त (माधवी लता का फल), बिभीतक (बहेड़ा), नालिकेर (नारियल), कोल (बेर) अक्षोड़ (अखरोट), जीवन्ती (स्वर्ण जीवन्ती फल), पियाल, कर्बुदार (कचनार), सूर्यवल्ली (अर्कपुष्पी), त्रपुस (ककड़ी), एर्वारुक (खीरा), कर्कारु (वाडव-छोटा खीरा) कूष्माण्ड (पेठा)

१—प्रभा-आग्नेय गुणयुक्त परन्तु उष्ण नहीं, क्षार उष्ण हैं, परन्तु सौम्य हैं, मछलियाँ उष्ण हैं, परन्तु आग्नेय गुण नहीं हैं। तिल आग्नेय और उष्ण दोनों है।

आदि के तैल, मधुररस, मधुर-विपाक, वात-पित्तशामक, शीत-वीर्य, अभिष्यन्दि, मूत्रविरेचक और अग्निमान्द्य करनेवाले हैं ॥

मधूककाश्मर्यपलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफ-पित्तप्रशमनानि ॥१२१॥

मधुक (महुआ), काश्मरी (गम्भारी), पलाश (ढाक) के बीजों के तैल-मधुर-कषाय रस, कफपित्तनाशक है ॥१२१॥

तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहक्रिमिप्रशमने उभयतोभागदोषहरे च ॥१२२॥

तुवरक[1] और भिलावे का तैल—उष्णवीर्य, मधुरकषायरस, तिक्त-अनुरस, वायु, कफ, कुष्ठ, मेद, मेह, क्रमि, नाशक तथा वमन एवं विरेचन दोषों मार्गों से दोष नाशक हैं ॥१२२॥

सरलदेवदारुशिंशपागुरुगण्डीरसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः क्रमिकफकुष्ठानिलहराश्च ॥१२३॥

सरल, देवदारु, गण्डीर (वृक्ष विशेष), शिंशपा (शीशम), अगर के सार (मध्य काष्ठ) का स्नेह, तिक्त, कटु, कषायरस, दूषित व्रणों का शोधक, क्रमि-कुष्ठ वायु नाशक है ॥१२३॥

तुम्बीकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीश्यामासप्तलानीलिकाकम्पिल्लकशङ्खिनीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अधोभागदोषहराः क्रमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च ॥१२४॥

तुम्बी (कडुवी तुम्बी), कोशाम्र (एक प्रकार के आम), दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती, (दन्त भेद), श्यामा (विधारा), सप्तला (सातला), नीलिका (नीलनी), कम्पिल्ल (कमीला), शङ्खिनी (यवतिक्ता), इनका स्नेह, (तैल), तिक्त, कटु, कषाय रस, अधो भाग (विरेचन) द्वारा दोषनाषक, क्रमि, कुष्ठ, कफ, वायुनाशक, दूषित व्रणों का शोधक है ॥१२४॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोषप्रशमनमीषत्तिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं च ॥१२५॥

यवतिक्ता (कालमेघ) के फल का तेल, सब दोषों को शान्त करता है, थोड़ा-सा तिक्त, अग्निदीपक, लेखन (मेद को कम करनेवाला), मेध्य (पवित्र), पथ्य और रसायन है ॥१२५॥

एकैषिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माभिवर्धनं च ॥१२६॥

एकैषिका (काली त्रिवृत का फल) का तेल, मधुर, अतिशीतल, पित्तहर, वायु का प्रकोपक और कफवर्धक है ॥१२६॥

सहकारतैलमीषत्तिक्तमतिसुगन्धि वातकफहरं रूक्षं मधुरकषायं रसवन्नातिपित्तकरं च ॥१२७॥

सहकार तैल (आम का तेल), ईषत् तिक्त, अतिसुगन्धित, वात-कफह, रूक्ष, मधुर-कषाय, रसवान्, बहुत पित्तकारक नहीं (थोड़ा पित्त करनेवाला) है ॥१२७॥

फलोद्भवानि तैलानि यान्यनुक्तानि कानिचित् ।
गुणान् कर्म च विज्ञाय फलानीव विनिर्दिशेत् ॥१२८॥

इस स्थान में फल से उत्पन्न जिन तेलों का वर्णन नहीं किया उन तेलों के गुण एवं कर्मों से ही जानना चाहिये ॥

यावन्तः स्थावराः स्नेहाः समासात्परिकीर्तिताः ।
सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः ॥१२९॥

जितने भी स्थावर स्नेह संक्षेप से यहाँ पर कहे हैं; उन सब के गुण तैल के समान समझना चाहिये, ये सब तैल वायु के नाशक हैं ।

वि० मन्तव्य—स्थावर द्रव्यों का स्नेह—तिल, एरण्ड एवं निम्ब आदि, किराततिक्त आदि, मधूक आदि बीजों का स्नेह (तैल) कोल्हू आदि में पीड़ कर निकाला जाता है। इसी प्रकार सौंफ, अजवायन तथा इलायची, लवङ्ग, जायफल आदि का भी निकाला जाता है। तुम्बी आदि के बीजों का तैल होता है और प्रणियों की वसा आदि स्नेह भी स्निग्ध होने के कारण तैल के समान खाने और लगाने के उपयोग में आते हैं ॥१२९॥

सर्वेभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते ।
निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि ॥१३०॥

सब प्रकार के तेलों में तिल का तेल ही गुणवान् है—अन्य एरण्डादि के स्नेह को भी तैल कहते हैं। क्योंकि—निष्पत्तेः—(जिस प्रकार तिलों से तेल बनता है, उसी प्रकार इनसे भी बनता है), गुणत्वात्—तिल तैल के कर्म-धर्मगुणयुक्त होने से अन्यों को भी तैल कहते हैं ॥१३०॥

ग्राम्यानूपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः, जाङ्गलैकशफक्रव्यादादीनां लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नाः, प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः । तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च ॥१३१॥

इति तैलवर्गः ।

ग्राम्य (गाय, ऊँट आदि), आनूप (महिष आदि), औदक (मछली आदि) प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा गुरु, उष्णवीर्य, मधुररस, वातनाशक है। जाङ्गल (हिरण आदि) एकशफ (घोड़े आदि), क्रव्याद (व्याघ्र आदि), की वसा आदि लघु, शीत, कषाय रस, रक्त-

---

१ तुवरक—पश्चिमसमुद्र तीर पर उत्पन्न होनेवाला एक वृक्ष है। जैसे कहा है :—

पत्रैस्तु केशराकारैः कपित्थसदृशैः फलैः ।
वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरजः ॥

पित्तनाशक, प्रतुद (कबूतर आदि) विष्किर (बटेर आदि) कफनाशक हैं। इनमें घी, तैल, वसा, मेद, मज्जा, ये उत्तरोत्तर (घी से तेल, तैल से वसा आदि), गुरु विपाक और वातनाशक हैं ॥१३१॥ इति तैलवर्गः ॥

अथ मधुवर्गः ।

मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं सन्धानं शोधनं रोपणं संग्राहि चक्षुष्यं प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारिपित्तश्लेष्ममेदोमेहाहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनं च; तत्तु लघुत्वात् कफघ्नं, पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् ॥१३२॥

इसके आगे मधुवर्ग कहते हैं—

मधु के सामान्य गुण—मधुर, कषाय-अनुरस, रूक्ष, शीतल अग्निदीपक, वर्ण्य (वर्ण के लिये हितकारी), स्वर्य (स्वर के लिये हितकारी), लघु, सुकुमार (सुकुमारता करनेवाला), लेखन (मेदनाशक), हृद्य (हृदय के लिये प्रिय), सन्धान (भग्न को जोड़नेवाला), शोधन, रोपण, वाजीकरण (शुक्रल), संग्राहि, चक्षुष्य, प्रसादन (आंख और शरीर को स्वच्छ करनेवाला), सूक्ष्म मार्गों में घुसनेवाला, पित्तश्लेष्म, मेद, मेह; हिचकी, श्वास, कास, अतिसार, छर्दि, तृष्णा, कृमिविष को शान्त करता है, ह्लादि (सुखकारक) और त्रिदोषनाशक है। यह मधु लघु होने से कफनाशक है, पिच्छिल गुण होने से मधुरता से, कषाय होने के कारण वात पित्तनाशक है ॥१३२॥

पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च ।
आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥१३३॥

मधु के आठ भेद हैं। यथा—पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक छात्र, आर्घ्य औद्दालक, दाल[1] ॥१३३॥

[1] मक्खियों के भेद—"महत्याः पिंगलायास्तु मक्षिकाः पुत्तिकाः स्मृताः।" भ्रमर-प्रसिद्ध हैं, इनका मधु भ्रामर है। 'मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्माः क्षुद्राऽऽख्यास्तत्कृतं मधु। मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तं।' माक्षिक—"महत्यः पिंगलास्तीक्ष्णविषास्तु मक्षिकाः स्मृताः।" छात्र—"वरटाः पिंगलाः पोताः प्रायो हिमवतो वने। कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्जं छात्रं मधु स्मृतम् ॥" आर्घ्य—"तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णाः षट्पदसन्निभाः। अर्घ्यास्ता मक्षिका ज्ञेया आर्घ्यं तत्कृतमुच्यते ॥" औद्दालक—"प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिलाः स्वल्पकीटकाः। कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत् स्यादौद्दालकं मधु ॥" दाल-"इन्द्रनील-दलाकाराः सूक्ष्मा या मक्षिकाः शुभाः। वृक्षकोटरमध्यस्थास्तज्जं दालमुदाहृतम ॥" (इन्द्रनील का लक्षण—"क्षीरमध्ये क्षिप्तेन्नीलं क्षीरञ्चेन्नीलतां व्रजेत्। इन्द्रनील इति ख्यातः")। वर्ण द्वारा इनका भेद—"माक्षिकं तैलवर्णं स्यात् घनवर्णन्तु पौत्तिकम्। क्षौद्रं कपिलवर्णं स्यात्, श्वेतं भ्रामरमुच्यते ॥"

विशेषात्पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात् ।
वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदकृन्मधु ॥१३४॥

विषयुक्त मक्षिकाओं से (अथवा विषयुक्त पुष्पों से) उत्पन्न होने के कारण-पौत्तिक मधु--रूक्ष, उष्ण, वायु-रक्त-पित्त को करनेवाला, मेद-ग्रन्थि आदि का छेदक, विदाही, मत्तता उत्पन्न करता है ॥१३४॥

पैच्छिल्यात् स्वादुभूयस्त्वात् भ्रामरं गुरुसंज्ञितम् ।
क्षौद्रं विशेषतो ज्ञेयं शीतलं लघु लेखनम् ॥१३५॥
तस्माल्लघुतरं रूक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम् ।
श्वासादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद्विशेषतः ॥१३६॥
स्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छिलं रक्तपित्तजित् ।
श्वित्रमेहकृमिघ्नं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् ॥१३७॥

पिच्छिल गुण होने से तथा मधुरता के अधिक होने से भ्रामर मधु—गुरु होता है। क्षौद्र—मधु शीतल, लघु, एवं मेद का लेखन करनेवाला है। माक्षिक मधु--क्षौद्र से भी अधिक लघु; रूक्ष एवं श्रेष्ठ होता है। यह मधु श्वासकासादि रोगों में खासकर उत्तम है। छात्र मधु--स्वादु (मधुर) विपाक, गुरु, शीतवीर्य, पिच्छिल, रक्त-पित्त-नाशक, श्वित्र-प्रमेह-कृमि-नाशक एवं गुणों में श्रेष्ठ है ॥१३५-१३७॥

आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम् ।
कषायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत् ॥१३८॥

आर्घ्य मधु—आँखों के लिये अतिहितकर, अतिशय, कफपित्तनाशक, कषायरस, विपाक में कटु, बलकारक, तिक्त है, परन्तु वायु नहीं करता ॥१३८॥

औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम् ।
कषायमम्लमुष्णं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥१३९॥

औद्दालक मधु—रुचिकारक, स्वर्य (स्वर के लिये उपयोगी) कुष्ठ-विषनाशक, कषाय, उष्णवीर्य, अम्ल, पित्तकारक और विपाक में कटु होता है ॥१३९॥

छर्दिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्भवम् ।

दाल मधु—छर्दि, एवं प्रमेह का नाशक तथा रूक्ष होता है[1]॥

बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं समम् ॥१४०॥
मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम् ।

नूतन मधु—बृंहण (देह एवं शुक्र को बढ़ानेवाला), कफ को बहुत अधिक कम नहीं करता और सर (विरेचक) होता है।

[1] निर्णयसागर की छपी सुश्रुत में—

"कषायमुष्णमम्लं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥"

यह पाठ दाल मधु के गुणों में लिखा है, परन्तु हाराणचन्द्र जी ने पृथक् किया है।

पुराना मधु—मेद एवं स्थूलता को घटानेवाला, संग्राहि और अतिशय लेखन करनेवाला होता है ॥१४०॥

दोषत्रयहरं पक्वमामसम्लं त्रिदोषकृत् ॥१४१॥

कालवश के कारण पका हुआ मधु (अग्नि के संयोग से नहीं), तीनों दोषों का नाशक होता है, आम (थोड़े समय का संचित मधु, अपक्व) मधु—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है ॥

तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून् ।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ॥१४२॥

मधु यदि युक्तिपूर्वक नाना प्रकार के औषधि-समूहों के साथ मिलाकर व्यवहार किया जाये, तो बहुत से रोगों का नाश करता है । क्योंकि—मधु नाना प्रकार के द्रव्यों से एकत्रित किया जाता है, और अति उत्तम योगवाही है (जिस प्रकार के द्रव्य के साथ मिलता है, उसी प्रकार का कर्म करता है) ।१४२।

तत्तु नानाद्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्परसानां मक्षिकासंभवत्वाच्चानुष्णोपचारम् ॥१४३॥

निम्न कारण से मधु को शीत अवस्था में ही (बिना गरम किये) व्यवहार में लाना चाहिये । मधु—नाना प्रकार के द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक विरुद्ध, पुष्प रसों से उत्पन्न होने के कारण; विषैली मक्खियों से उत्पन्न होने के कारण मधु उष्ण वस्तुओं के साथ नहीं मिलता ॥१४३॥

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु ।
उष्णार्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् ॥१४४॥

विषैली मक्खियों से उत्पन्न होने के कारण मधु गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता । क्योंकि—जिस प्रकार विष गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता, उसी प्रकार—उष्णार्त्त (घर्म-गरमी से पीड़ित) उष्ण (उष्ण स्पर्श वाले) द्रव्यों के साथ (उष्णवीर्य द्रव्य के साथ नहीं) उष्ण (उष्ण देश या काल) में मधु नहीं मिलता ॥१४४॥

तत्सौकुमार्याच्च तथैव शैत्यान्नानौषधीनां रससंभवाच्च ।
उष्णैर्विरुध्येत विशेषतश्च तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि ॥

और जिस प्रकार कोमल नवनीत गरम पानी या गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता, इसी प्रकार मधु भी कोमल, शीतल होने से, नाना प्रकार की औषधियों के रस से उत्पन्न होने कारण मधु गरम द्रव्यों से तथा आन्तरीक्ष जल के साथ विरोधी होता है ॥१४५॥

उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम् ।
अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत् ॥१४६॥

परन्तु वमन कार्यों में मधु को उष्ण द्रव्यों के साथ मिलाकर देना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार से यह जीर्ण नहीं होता, शरीर में स्थिर नहीं होता, इसलिये पूर्व कारणों से विरोधी नहीं है । (तथापि वृद्ध वैद्य इसका व्यवहार नहीं करते, क्योंकि कहीं कुछ भाग नीचे की ओर न चला जाये ॥१४६॥

मध्वामात्परस्त्वन्यदामं कष्टं न विद्यते ।
विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम् ॥१४७॥
इति मधुवर्गः ।

मधुजन्य आम (अजीर्ण) से बढ़कर और कोई अजीर्ण नहीं है, मधु से उत्पन्न अजीर्ण रोग अतिकष्टसाध्य है । क्योंकि—विरुद्ध चिकित्सा होने से (आम की, स्वेद, उष्णोदक उपचार हैं, इनका मधु के साथ विरोध है । यह अजीर्ण विष के समान सम्पूर्ण चिकित्सा को निष्फल कर देता है ।

वि० मन्तव्य—वनवासी तथा हिमालय आदि पर्वतों के निवासी आज भी भोजन में तथा महामान्यों (महमानों) के भोजन में खण्ड एवं गुड़ शक्कर के समान ही मधु का प्रयोग करते हैं और प्राचीन काल में तो मधुपर्क का भोजन के समान प्रयोग-उपयोग होता ही था । अस्तु-इस प्रकार भरपेट मधु खाने पर यदि अजीर्ण हो जाता है तो वह अन्य रोटी आदि के अजीर्ण की अपेक्षा बड़ा भीषण होता है । मधु की उक्त जातियों को आज भी वे लोग कुछ न कुछ जानते हैं । छात्रमधु—बर्रे के छत्ता में मिशरी के से कण पाये जाते हैं । माक्षिकमधु—मक्षिकाविट् नाम से बाजार में मिलता है । आयुर्वेदिक योगों में उसकी चर्चा भी पाई जाती है, यूनानी चिकित्सा में उसका विशेष प्रचार है । हमारे विचार में 'दाल' मधु वह है जो आम आदि के दलों पत्तों पर तेलिया लगता है । यह कभी २ कहीं लगता है, मधुर होता है । क्षौद्रमधु—यह श्वेताभ, छोटी २ प्रायः न काटनेवाली मक्षिकाओं का मधु है, इनको मखीर कहते हैं, इनकी गोणी भी छोटी होती है । अर्घ्यमधु-यह अर्घोपयोगी मधु है जो अधिक पाया जाता है । यही सर्वत्र मधु या शहद के नाम से मिलता है, इसकी गोणी बहुत बड़ी होती है । उस में से ५–७–१० सेर तक मधु और १ सेर तक मोम निकलता है, यह मक्षिका तीक्ष्णतुण्डा-बुरी तरह काटनेवाली होती हैं । उक्त सब प्रकार की मक्षिकाओं को धूआँ से उड़ाकर मधु प्राप्त किया जाता है ॥१४७॥

इति मधुवर्गः ।

अथेक्षुवर्गः ।

इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तशमनाः कृमिकफकराश्चेति । ते चानेकविधाः । तद्यथा—॥१४८॥

इसके आगे इक्षुवर्ग कहते हैं—

इक्षु के समान्य गुण—इक्षु मधुर, मधुरविपाक, गुरु, शीतल, स्निग्ध, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक), मूत्रल रक्तपित्तशामक, कृमि एवं कफ को करते हैं ॥१४८॥

यथा—

पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः श्वेतपोरकः ।
कान्तारस्तापसेक्षुश्च काष्ठेक्षुः सूचिपत्रकः ॥१४९॥

नैपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत् ।
इत्येता जातयः स्थौल्याद्,

पौण्ड्रक (पोण्डा), भीरुक, वंशक, शतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोरा, कोशकृत्, ये संक्षेप में (स्थूलदृष्टि से) बारह भेद हैं ॥१४९॥

गुणान् वक्ष्याम्यतः परम् ॥१५०॥

सुशीतो मधुरः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरः ।
अविदाही गुरुर्वृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥१५१॥
आभ्यां तुल्यगुणः किंचित्सक्षारो वंशको मतः ।
वंशवच्छ्वेतपोरस्तु किंचिदुष्णः स वातहा ॥१५२॥
कान्तारतापसाविक्षू वंशकानुगतौ मतौ ।
एवंगुणस्तु काष्ठेक्षुः स तु वातप्रकोपणः ॥१५३॥
सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो दीर्घपत्रकः ।
वातलाः कफपित्तघ्नाः सकषाया विदाहिनः ॥१५४॥
कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः ।

इसके आगे इनके गुणों को कहते हैं—

पौंड्रक और भीरुक—शीतल, मधुर, स्निग्ध, बृंहण (देहवर्धक), कफकारक, सर (विरेचक), अविदाहि, गुरु, वृष्य (शुक्रवर्धक) है । वंशक (बाँस गन्ना)—पौण्ड्रक और भीरुक के समान गुणवाला है, परन्तु कुछ क्षारयुक्त होता है । शतपोर के गुण वंशक के समान हैं, परन्तु कुछ उष्ण एवं वायुनाशक है। कान्तार और तापसेक्षु के गुण वंशक गन्ने के समान हैं। काष्ठेक्षु के गुण भी वंशक के समान हैं, परन्तु यह वातप्रकोपक है। सूचीपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, और नीलपोर वायुकारक, कफ पित्तनाशक, कषायरस, विदाही हैं। कोशकार—गुरु, शीतल, रक्तपित्त एवं क्षय का नाश करता है ॥१५०–१४४॥

अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव तु ॥१५५॥
अग्रेष्वक्षिषु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः ॥१५६॥

इक्षु जड़ में अति मधुर होता है, मध्य में मधुर होता है, तथा गन्ने की आँख (पर्वसन्धि जहाँ पर से गन्ना उगता है) में नमकरस होता है ॥१५५,१५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारणः ।
वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥१५७॥

दांतों से चूसकर निकाला हुआ रस—अविदाही, कफकारक, वात (पाठ भेद में रक्त)-पित्त का नाशक, मुख को आनन्दित करता है, वृष्य (शुक्रवर्धक) है ॥१५७॥

गुरुर्विदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ।

यन्त्र (चरखी) में निकाला रस—गुरु, विदाही[1] विष्टम्भि वायुकारक) होता है । (कोल्हू में—वायु-धूप का योग होने से तथा छिलके के भी पेरने से गुरुत्व आदि गुण आ जाते हैं, जिससे देर में पचता है) ।

पक्वो गुरुः सरः स्निग्धः सतीक्ष्णः कफवातनुत् ॥१५८॥

आग पर गरम किया रस—गुरु, सर (विरेचक) स्निग्ध, तीक्ष्ण, कफ-वायु—नाशक है ॥१५८॥

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृच्च ॥

फाणित (राब)—गुरु, मधुर, अभिष्यन्दि, बृंहण, अवृष्य, त्रिदोषकारक है ॥१५९॥

गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्ररक्तशोधनो नातिपित्तजिद्वातघ्नो मेदःकृमिकफकरो बल्यो वृष्यश्च ॥

मैला गुड़—ईषत्क्षार, मधुर, थोड़ा शीतवीर्य, स्निग्ध, मूत्रशोधक, पित्त का थोड़ी मात्रा में शमन करनेवाला, वायुनाशक, मेदकफकारक और वृष्य (शुक्रवर्धक) है ॥१६०॥

पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः ।
सपुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः ॥१६१॥

निर्मल गुड़—पित्तनाशक मधुर, वायुनाशक, रक्त को स्वच्छ करता है । पुराना गुड़—अधिक गुणशाली एवं अतिशय हितकारी हो जाता है ॥१६१॥

मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च ॥१६२॥

गुड़ से मत्स्यण्डिका (लाल खण्ड), मत्स्यण्डिका से खाण्ड, खाण्ड से शर्करा, साफ होती है, ये उत्तरोत्तर शीतल, स्निग्ध, गुरुतर (अधिक भारी), मधुरतर, वृष्य, रक्त-पित्त शामक एवं तृष्णा का नाश करती है[1] ।

वि० मन्तव्य—मत्स्यण्डिका-कच्ची खण्ड-बिना मली खण्ड है, इसमें राब का अंश रहता है; खाण्ड—दरदरी खण्ड, कुछ स्वच्छखण्ड मली हुई खण्ड का नाम है, शर्करा—सर्वथा स्वच्छ श्वेत खण्ड का नाम है । शास्त्र विरुद्ध धारणा के कारण-साधारण जनता मलिन खण्ड तथा भुरे गुड़ को शर्करा (शक्कर) कहने लग गई है ॥१६२॥

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा ।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा ॥१६३॥

इन गन्ने के विकारों में जिस जिस प्रकार से स्वच्छता आती है, उसी प्रकार से स्नेह (स्निग्धता), गौरव (गुरुता), शीतलता एवं सरत्व (विरेचन गुण) आता जाता है ॥१६३॥

---

१ विदाही का लक्षण—
"द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद् वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् ।
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि ॥"

१ क्रियात्मक रूप में शर्करा से खाण्ड और खाण्ड से दानेदार मिश्री (विलायती चीनी) अधिक साफ होती है । खाण्ड से शर्करा कभी भी अधिक साफ नहीं होती । इसलिये 'शर्कराखण्डमत्स्यण्डिका विमला जाता' यह पाठ सम्भवतः ठीक रहता ।

यो यो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः।
तेन तेनव निर्दिश्यस्तेषां विस्रावणो गुणः ॥१६४॥

मत्स्यण्डिका, खण्ड और शर्करा के जो जो अपने गुण हैं; वे ही गुण इनके विस्रुत (स्रवित) रस (शर्बतों) में समझने चाहिये।

वि० मन्तव्य—मत्स्यण्डिका आदि को चुआ कर, उसमें से चोटा या सीरा निकाल कर खण्ड को स्वच्छ किया जाता है, जितना ही चोटा निकलता जाता है उतना ही स्वच्छता आती है। शर्करा को जमाकर मिश्री बनाई जाती है, फूलमिश्री सर्वथा स्वच्छ होती है। यह बिल्लौर के समान स्वच्छ, श्वेत एवं चमकीली होती है। चोटा का नाम "विस्रावण" है। मिशरी बनाने के लिये चुआते समय शर्करा से जो चोटा निकलता है अधिक स्वच्छ होता है। राव को खाँची में डाल दिया जाता है, ऊपर सेवार बिछा दी जाती है, कुछ दिनों पश्चात् उसका सीरा (चोटा) खाँची के निचले छिद्र से बहने लगता है और कण खाँची में रह जाते हैं ॥१६४॥

सारस्थिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा।
तथा गुणवती सर्वा विज्ञेया शर्करा बुधैः ॥१६५॥

जैसे जैसे शर्करा मल के निकल जाने से सारमात्र बची हो, इसलिये अत्यन्त स्वच्छ एवं क्षार से रहित हो, वह वैसे वैसे ही गुणवाली समझनी चाहिये ॥१६५॥

मधुशर्करा पुनश्छर्द्यतीसारहरी रूक्षा छेदनी प्रसादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च ॥१६६॥

कालान्तर में, शुष्क होने से मधु में शर्करा बैठ जाती है, यही मधशर्करा—वमन, अतिसार रोगनाशक, रूक्ष, छेदक (कफ आदि को), प्रसादनी (त्वचा-रक्त आदि को स्वच्छ करनेवाली), कषाय-मधुर और मधुर विपाकवाली है।

वि० मन्तव्य—मधुशर्करा—जैसे राब में खण्ड बैठती है वैसे किसी-किसी मधु में भी खाण्ड बैठ जाती है—खण्ड के से कण बन जाते हैं और चोटा के समान मधु का तरल भाग ऊपर आ जाता है। बोतल या भाण्ड में मधु रख देने पर—चार छः मास में खण्ड के कण बैठ जाते हैं। मधु का तरल भाग पृथक् करने पर "मधुशर्करा" मधु की खण्ड रह जाती है॥

यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा चेति ॥१६७॥

यवास शर्करा (यवास के क्वाथ को घन करके उत्पन्न की गई शर्करा)—मधुर-कषायरस, तिक्त—अनुरस कफनाशक और विरेचक होता है।

वि० मन्तव्य—यवास शर्करा—माना या मना नाम से मिलती है। यह राजयोग्य विरेचन है, इसे १-२ तोला लेकर गुलाब जल में घोलकर पीने से विरेचन होता है, यूनानी का "तुरञ्जबीन" भी यही है, जवासा के पौद पर मधुर कण बैठ जाते हैं उनका संग्रह कर लिया जाता है ॥१६७॥

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः ॥१६८॥

जितनी भी शर्करायें हैं, वे सब दाह (जलन) को नष्ट करती हैं। रक्तपित्तनाशक, छर्दि मूर्छा तृषा को नष्ट करती है।

वि० मन्तव्य—ताड़, मुनक्का आदि जितने मधुर द्रव्य हैं उनके रसों को इक्षुरस के समान पकाकर—सुखाकर, इक्षुशर्करा के समान शर्कराएँ बना ली जाती हैं। मधुरसार ही गुड़ तथा गुड़ का सार शर्करा है ॥१६८॥

रूक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत्।
कफघ्नं मधुरं पाके कषायं बस्तिदूषणम् ॥१६९॥

इतीक्षुवर्गः।

महुवे के फूलों से बनाई राब रूक्ष, वातपित्तकारक, कफनाशक, मधुर, विपाक में कषायरस और वस्ति को दूषित करती है ॥१६९॥ इति इक्षुवर्गः।

अथ मद्यवर्गः।

सर्वं पित्तकरं मद्यमम्लं रोचनदीपनम्।
भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विदाह्युष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम्।
विकासि सृष्टविण्मूत्रं शृणु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

इसके आगे मद्यवर्ग कहते हैं—

मद्य के सामान्यगुण—सब मद्य पित्तकारक, अम्लरस, अग्निदीपक, रोचक, भेदक (कफ), कफवातनाशक, हृदय के लिये प्रिय, बस्तिशोधक (मूत्रल) हैं। पचने में लघु विदाही, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, इन्द्रियबोधन (इन्द्रियों में पटुता होशियारी उत्पन्न करता है), मल-मूत्र का प्रवर्त्तक है। विशेष लक्षणों को आगे कहते हैं। ये गुण—पैष्टिक, मार्द्वीक और गौड तीन प्रकार के मद्य के हैं ॥१७०,१७१॥

मार्द्वीकमविदाहित्वान्मधुरान्वयतस्तथा।
रक्तपित्तेऽपि सततं बुधैर्न प्रतिषिध्यते ॥१७२॥
मधुरं तद्धि रूक्षं च कषायानुरसं लघु।
लघुपाकि सरं शोषविषमज्वरनाशनम् ॥१७३॥

मार्द्वीक (मृद्वीका से बने) मद्य के गुण—अविदाहि होने से एवं मधुर द्रव्य (द्राक्षा) से उत्पन्न होने के कारण रक्तपित्त रोग में भी निरन्तर उपयोग कर सकते हैं[1]। यह मार्द्वीक मद्य—मधुररस, रूक्ष, कषाय अनुरस, लघु, विपाक में लघु, सर (विरेचक), शोष-विषमज्वरनाशक है ॥१७२,१७३॥

१ रक्तपित्त चिकित्सा में—
"द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा।
शृतं पयो वाप्यथ पर्णिनीभिः।" चरक।

माद्वीकाल्पान्तरं किंचित् खार्जूरं वातकोपनम्।
तदेव विशदं रुच्यं कफघ्नं कशनं लघु ॥ १७४ ॥
कषायमधुरं हृद्यं सुगन्धीन्द्रियबोधनम्।

खार्जूर (खजूर से बना) मद्य—माद्वीक मद्य से गुणों में थोड़ा ही भिन्न है, वायुकोपक, विशद, रुचिकारक, कफनाशक, लघु, कृशता उत्पन्न करनेवाला, कषाय-मधुर, हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, इन्द्रियों में पटुता उत्पन्न करता है ॥१७४॥

कासार्शोग्रहणीदोषमूत्राघातानिलापहा ॥ १७५ ॥
स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा बृंहणदीपनी।

सुरा कास-अर्श-ग्रहणीरोग और मूत्राघात-वायुरोग-नाशक, दूध, रक्त की क्षीणता में हितकारी, बृंहण (शरीरवर्धक) और अग्निदीपक है ॥१७५॥

कासार्शोग्रहणीश्वासप्रतिश्यायविनाशिनी ॥ १७६ ॥
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्तमांसकरी सुरा।

श्वेत सुरा—कास, अर्श, ग्रहणी, श्वास, प्रतिश्यायनाशक, मूत्र-कफ-दूध-रक्त और मांस को बढ़ाती है ॥१७६॥

छर्द्यरोचकहृत्कुक्षितोदशूलप्रमर्दनी ॥ १७७ ॥
प्रसन्ना कफवातार्शोविबन्धानाहनाशनी।

प्रसन्ना (मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग)—वमन, अरुचि, हृद्रोग, तोद (पीड़ा), शूल को नष्ट करती है, कफवायु, अर्श, विबन्ध, आनाह को नष्ट करती है ॥१७७॥

पित्तलाऽल्पकफा रूक्षा यवैर्वातप्रकोपणी ॥ १७८ ॥
विष्टम्भिनी सुरा गुर्वी श्लेष्मलं तु मधूलकम्।
रूक्षा नातिकफा वृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता १७९

कुधान्य यव किण्व द्वारा तैयार की गई सुरा—पित्तकारक, थोड़ा कफ को बढ़ाती है, रूक्ष एवं वायुप्रकोपक है। मधूलिका[1] (छोटे गेहुँओं से बनी) सुरा—विष्टम्भि (गुड़गुड़ शब्द करनेवाली), गुरु एवं कफकारक है। आक्षिकी (बहेड़ों से बनी) सुरा—रूक्ष, कफ को थोड़ा बढ़ाती है, वृष्य, पाचन होती है। यह सुरा बहेड़ों की बल्कलों से बनती है ॥१७८,१७९॥

त्रिदोषो भेद्यवृष्यश्च कोहलो वदनप्रियः।
ग्राह्युष्णो जगलः पक्ता रूक्षस्तृट्कफशोफकृत् ॥१८०॥
हृद्यः प्रवाहिकाटोपदुर्नामानिलशोषहृत्।

कोहल मद्य (जौ के सत्तु से बना)—त्रिदोष (तीनों दोषों को उत्पन्न करता है), भेदि, अवृष्य और मुख के लिये प्रिय है। जगल (मद्य के नीचे बैठा, किण्व भाग)—संग्राहि, उष्ण, पाचक (लेप करने से शोथ का), रूक्ष, प्यास-कफ (लेप द्वारा) का नाशक है। हृदय के लिये प्रिय, प्रवाहिका, आटोप (आध्मान), दुर्नाम (अर्श), अनिल (वायु) और शोथ (क्षय) को नष्ट करता है ॥१८०॥

१ मधूलिका का अर्थ महुवे के फूलों से बनी भी करते हैं।

बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी वातकोपनः ॥ १८१ ॥

बक्कस (जल रहित किण्व) में सार न रहने से यह विष्टम्भि (देर में जीर्ण होनेवाला) एवं वायुप्रकोपक है ॥१८१॥

दीपनः सृष्टविण्मूत्रो विशदोऽल्पमदो गुरुः।
कषायो मधुरः शीधुर्गौडः पाचनदीपनः ॥ १८२ ॥

गुड़जन्य (गन्ने के रस को पकाकर उसमें धाय के फूल, और थोड़ा—गुड़ डालकर बनाया) सीधु—मल-मूत्र निकालनेवाला, थोड़ा मदकारक, कषाय मधुररस, पाचक तथा अग्निदीपक है[1] ॥१८२॥

शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो बस्तिशोधनः।
वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः ॥ १८३ ॥

शर्कराजन्य शीधु—मधुर, रुचिकारक, अग्नि-दीपक मूत्राशय का शोधन करता है। वातनाशक, विपाक में मधुर, हृदय को प्रिय, इन्द्रियों में पटुता उत्पन्न करता है ॥१८३॥

कर्शनः शीतरसिकः श्वयथूदरनाशनः।
वर्णकृज्जरणः स्वर्यो विबन्धघ्नोऽर्शसां हितः ॥१८४॥

शर्करा की भाँति पके हुए रस से बना सीधु—बल एवं वर्ण (गौरादि)-कारक, विरेचक, शोथनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, रुचिकारक, कफ तथा अर्श रोग के लिये हितकारी है ॥१८४॥

तद्वत् पक्वरसः शीधुर्बलवर्णकरः सरः।
शोषघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः ॥१८५॥

शीतरसिक[2] (अपक्व गन्ने के रस से बना) सीधु—शरीर में कृशता उत्पन्न करता है, शोफ और उदररोगनाशक, वर्णकारक, अन्नादि को जीर्ण करता है, स्वर के लिये हितकारी, विबन्धनाशक; और अर्श के लिये हितकारी है ॥१८५॥

माक्षिकः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः संग्राहको लघुः।
कषायमधुरः शीधुः पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनः ॥१८६॥

आक्षिक (बहेड़े के छिलकों से बना) सीधु—पाण्डु-रोगनाशक, व्रण के लिये हितकारी, संग्राहि, लघु, कषाय-मधुर, पित्तनाशक, रक्त को स्वच्छ करता है ॥१८६॥

जाम्बवो बद्धनिष्यन्दस्तुवरो वातकोपनः।

जाम्बव (जामुन से बना) सीधु—बद्धनिष्यन्द (मूत्र को बन्द करनेवाला), तुवर (कषाय)—रस, वात का प्रकोपक है। (यह मद्य जामुन के रस में धाय के फूल प्रक्षेप करके बनता है)।

तीक्ष्णः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ॥ १८७ ॥
मुखप्रियः स्थिरमदो विज्ञयोऽनिलनाशनः।

१ "शालिपिष्टकपिष्टयादि कृतं मद्यं सुरा।"

(२) "इक्षुः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसः स्मृतः।
आमैस्तैरेव यः सीधुः स शीतरसिको मतः॥"

सुरासव—(सुरा से बना आसव)—तीक्ष्ण; हृदय के लिये प्रिय, मूत्रल, कफ-वातनाशक, मुख के लिये प्रिय, स्थिर-मद (चिरकाल तक मत्तता करनेवाला), वायुनाशक है ॥१८७॥

लघुर्मध्वासवश्छेदी मेहकुष्ठविषापहः ॥ १८८ ॥
तिक्तः कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकृत् ।

मध्वासव (मधु और गुड़ से बनाया)—लघु, छेदी (कफ को निकालनेवाला), प्रमेह, कुष्ठ, विषनाशक, तिक्तकषायरस, शोफनाशक, तीक्ष्ण, स्वादु एवं गुरु है ॥१८८॥

तीक्ष्णः कषायो मदकृद्दुर्नामकफगुल्महृत् ॥ १८९ ॥
कृमिमेदोनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः ।

मैरेय (सुरा और आसव को मिलाकर तैय्यार की हुई शराब)–तीक्ष्ण, कषाय, मदकारक, दुर्नाम (अर्श), कफगुल्म नाशक, कृमि मेद-वायु नाशक, मधुर एवं गुरु है ॥१८९॥

वल्यः पित्तहरो वर्ण्यो हृद्यश्चेक्षुरसासवः ॥ १९० ॥

गन्ने के रस से बना आसव-बलकारक, पित्तनाशक, वर्ण-कारक, हृदय के लिये प्रिय होता है ॥१९०॥

शीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाह्यग्निबलप्रदः ।
रूक्षः कषायः कफहृद्वातपित्तप्रकोपणः ॥ १९१ ॥

महुवे के फूलों से बना सीधु——विदाही, अग्नि एवं बलवर्धक, रूक्ष, कषायरस, कफनाशक वातपित्तप्रकोपक है ॥

निर्दिशेद्रसतश्चान्यान् कन्दमूलफलासवान् ।

कन्द, मूल, फल (काण्डत्वक्) आदि से बने आसवों के गुण इनके रसों के अनुसार ही समझने चाहिये ॥

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम् ॥ १९२ ॥
अनिष्टगन्धि विरसमहृद्यं च विदाहि च ।

नूतन मद्य–अभिष्यन्दि, गुरु, वात आदि दोषों का प्रकोपक, अवाञ्छित गन्धवाला, रस रहित, हृदय के लिये अप्रिय और विदाहि होता है। (नूतन मद्य–एक साल पुराना न हो, या जिसमें रसोत्पत्ति न हुई हो) ॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु कृमिनाशनम् ॥ १९३ ॥
स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम् ।

पुरातन (जीर्ण) मद्य—सुगन्धि, रोचिष्णु (अच्छी प्रकार रुचता है), अग्निदीपक, हृदय को प्रिय, कृमिनाशक, स्फुट स्रोतस्कर (स्रोतों को खोलनेवाला), लघु, वायु-कफनाशक है। (पुरातन—एक साल व्यतीत होने पर) ॥१९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ॥ १९४ ॥
बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः ।
दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्ताविरोधनः ॥ १९५ ॥
शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णार्शसां हितः ।

अरिष्ट के गुण[1]—अरिष्ट में आसव से अधिक (अभया-चित्रक आदि) द्रव्यों का संयोग होता है, संस्कार से (आसव से अधिक कर्म किये जाने से), गुणों में अधिक होता है। अतः अरिष्ट—बहुत रोगों को नष्ट करता है, दोषों को शान्त करनेवाला है, अग्निदीपक, कफवातनाशक, सर (विरेचक), पित्त को थोड़ा कम करता है। शूल, आध्मान, उदर, प्लीहा, ज्वर, अजीर्ण, अर्शरोग में हितकारी है ॥१९४-१९५॥

पिप्पल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः ॥ १९६ ॥

पिप्पल्याद्यरिष्ट—पिप्पल्यादिगण से बनाया अरिष्ट–गुल्म-कफ-रोग-नाशक है ॥१९६॥

चिकित्सितेषु वक्ष्यन्तेऽरिष्टा रोगहराः पृथक् ।

रोगनाशक अरिष्टों को पृथक् रूप से चिकित्सास्थान में कहेंगे ।

अरिष्टासवशीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् ॥१९७॥
बुद्ध्या यथास्वं संस्कारमवेक्ष्य कुशलो भिषक् ।

अरिष्ट (क्वाथ द्वारा सिद्ध-द्रव्य प्रधान), आसव (बिना क्वाथ के सिद्ध-द्रव्य प्रधान), सीधु (गुडकृत), मद्य (द्रव्य एवं द्रवप्रधान-उभयप्रधान), इनके गुण-कर्म को—इनके संस्कार (बनाने की विधि) को देखकर–जो जिस रोग आदि की अपेक्षा से द्रव्य संस्कार किया जाता है, उसके अनुसार इनके गुण-कर्मों को अपनी बुद्धि से वैद्य को जानना चाहिये ॥१९७॥

सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धं विरसं कृमिलं गुरु ॥ १९८ ॥
अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् ।
अल्पौषधं पर्युषितमत्यच्छं पिच्छिलं च यत् ॥१९९॥
तद्वर्ज्यं सर्वथा मद्यं किंचिच्छेषं च यद्भवेत् ।
तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु ॥ २०० ॥
कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्जरं च विशेषतः ।
पित्तप्रकोपि बहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च ॥ २०१ ॥
अहृद्यं पेलवं पूति कृमिलं विरसं च यत् ।
तथा पर्युषितं चापि विद्यादनिलकोपनम् ॥ २०२ ॥
सर्वदोषैरुपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ।

सान्द्र (घना), विदाही (देर में जीर्ण होनेवाला), दुर्गन्ध, रसरहित, कृमियुक्त, गुरु, अप्रिय, तरुण (नूतन), तीक्ष्ण, उष्ण (स्पर्श में) कुत्सित पात्र में स्थित, अल्पौषध (जिसमें धातकी आदि द्रव्य थोड़े पड़े हों), पर्युषित (सन्धान से दूसरे पात्र में रात को रक्खा), अति अच्छ (अत्यन्त पतला), पिच्छिल (गुरु, और जो मद्य नीचे पात्र में थोड़ा बचा हो, वह

---

१ "अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात्" आसव–बिना क्वाथ के बनता है ।

मद्य सदा त्याज्य है। जिस मद्य में औषधियाँ थोड़ी हों, तरुण (नवीन), पिच्छिल (स्निग्ध) गुरु हो वह कफ को प्रकुपित करनेवाला, और खासकर दुर्जर होता है। बहल (सान्द्र), तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही मद्य पित्तप्रकोपक है। अप्रिय, पेलव (अच्छ-स्वच्छ), पूति (दुर्गन्धयुक्त), कृमियुक्त, रसरहित, एवं रात को रक्खा मद्य वायुप्रकोपक होता है। सम्पूर्ण दोषों से युक्त मद्य सब दोषों को प्रकुपित करता है ॥१९८-२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवातजित् ॥२०३॥
रुच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदावहम्।

मद्य के गुण—

पुराना देर तक रक्खा, जातरस (रस पूर्ण उत्पन्न हो गया है), अग्निदीपक, कफ-वातनाशक, रुचिकारक, प्रसन्न (निर्मल) सुरभि (सुगन्धि), मदावह (हर्ष उत्पन्न करनेवाला) मद्य सेवन करना चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यतः ॥२०४॥
सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तैक्ष्ण्याच्च विकासित्वाच्च वह्निना।
समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम्।
विचाल्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात् ॥२०५॥

मद्य जिस प्रकार से मद उत्पन्न करता है, वह कहते हैं—

रस एवं वीर्य के कारण मृद्वीका आदि भेद से अनेक प्रकार का मद्य—अपनी शक्ति द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा मन को चलायमान (चञ्चल) करके, वह्नि के साथ मिलकर, धमनियों के द्वारा ऊपर की ओर (आग का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है) जाकर हृदय में पहुँचकर शीघ्रता से मद उत्पन्न कर देता है। अग्नि के साथ—मद्य के मिलने के कारण—सौक्ष्म्य से (मद्य सूक्ष्म गुण है), औष्ण्यसे (उष्ण होने से ऊर्ध्वगामी है), तैक्ष्ण्य से (तीक्ष्ण होने से शीघ्र मद उत्पन्न करता है), विकासी (सन्धि-बन्धनों को शिथिल करता) है ॥२०४,२०५॥

चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पानतो जायते मदः।
आचाराद्वातिके दृष्टिः, पैत्तिके शीघ्रमेव च ॥२०६॥

कफप्रकृति के मनुष्य में मद्य पीने से मद (नशा) देर में उत्पन्न होता है, वातप्रकृति के में जल्दी, पित्त प्रकृति के मनुष्य में भी शीघ्र एवं तीक्ष्ण (तेज) नशा होता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमण्डनलालसः।
गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मदः ॥२०७॥

मानसभेद से मदभेद—

सत्त्वप्रकृति के मनुष्य में नशा होने से—शौच (पवित्रता), दाक्षिण्य (सहायता), हर्ष (आनन्द) मण्डन लालसा (वेश-भूषा की इच्छा), गीत-अध्ययन की इच्छा, गायन, अध्ययन सौभाग्य (कीर्ति), सुरतोत्साह (मैथुन में उत्साह) उत्पन्न होता है ॥२०७॥

राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाहसम्।
कलहं सानुबन्धं तु करोति पुरुषे मदः ॥२०८॥

राजसप्रकृति के मनुष्य में मद होने से—दुःख उठाना, शरीर नाश करने का साहस[1], निरन्तर लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न होता है ॥२०८॥

अशौचनिद्रामात्सर्यागम्यागमनलोलताः।
असत्यभाषणं चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥२०९॥

तमोगुणवाले पुरुष में मद होने से—अशौच (अपवित्रता), निद्रा मात्सर्य (अदखाई-ईर्षा), अगम्या के गमन की अभिलाषा, असत्य-भाषण-ये लक्षण होते हैं ॥२०९॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदनं भुक्तपाचनम्।
वैस्वर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुकृमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च।

[2]शुक्त-(कांजी या मस्तु में गुड़, शहद मिलाकर बनाया) रक्त-पित्तकारक, छेदि (कफ भेदन), भोजन को पचाता है। स्वरभंग करता है, आमाशय में जलन पैदा करता है, कफ-पाण्डुरोग-कृमि-नाशक, लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, कफनाशक और विपाक में कटु है ॥२१०॥

तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त के समान सन्धान द्वारा कन्दादि से बनाये शुक्त भी शुक्त समान गुणवाले हैं, परन्तु विशेष रूप में रुचिकर होते हैं॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च।
तथापूर्वं गुरुतराण्यभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥

शुक्त के भेद—

गौड़ (गुड़ से बने), रसशुक्त (गन्ने के रस से बनाये), मधुशुक्त (जम्बीर फल के रस से बनाये), तथा-पूर्व (जो जिससे पूर्व है वह, मधुशुक्त से रसशुक्त, रसशुक्त से गुड़शुक्त) गुरु हैं एवं दोष-धातु-मलों में क्लिन्नता उत्पन्न करनेवाले हैं (प्रकोपक हैं)[1] ॥२१२॥

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्।

तुषाम्बु[2]—अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, हृदय-पाण्डु कृमिरोग नाशक है।

ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

सौवीरक (कांजी)—ग्रहणी-अर्शरोग नाशक भेदक (विरेचक) है ॥२१३॥

---

१ साहस पाँच प्रकार का है। यथा—मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम्। पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम्॥

२ शुक्त का लक्षण—
"यन्मस्त्वादिशुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकांजिकम्।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते॥"

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।
स्पर्शात् पानात्तु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥
तैक्ष्ण्याच्च निर्हरेदाशु कफं गण्डूषधारणात् ।
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषक्लमापहम् ॥२१५॥
दीपनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।
समुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मद्यवर्गः ।

धान्याम्ल[3]—चूँकि धान्यों से बना है, इसलिये जीवन (प्राणधारक), दाहनाशक (स्पर्श द्वारा), पीने से-वायु-कफ एवं तृष्णा नाशक, लघु, तीक्ष्ण होने से कफ को शीघ्र बाहर निकालता है। मुख में कुल्ले के रूप में धारण करने से—मुख की विरसता, दुर्गन्धता को, मल को, शुष्कता को दूर करता है, थकान को मिटाता है, अग्निदीपक, पाचक, मेदी (मलभेदि), अस्थापन (निरूहण बस्तियों) में उपकारी है। समुद्र में रहकर जीवन व्यतीत करनेवाले (नाविकों) पुरुषों को 'सात्म्य' होता है ॥२१४-२१६॥ इति मद्यवर्गः ॥

अथ मूत्राणि ।

मूत्राणि गोमहिष्यजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्शउदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

इसके आगे मूत्रक कहते हैं—

मूत्रों के सामान्य गुण—मूत्र आठ प्रकार के हैं। यथा—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट, के।[1] ये मूत्र—उष्णवीर्य, कटु-तिक्त, लवण-अनुरस, लघु, संशोधक, कफ-वायु-कृमि-मेद-विष-गुल्म-अर्श-उदर-कुष्ठ-शोफ-अरोचक-पाण्डुरोग-नाशक, हृदय के लिये प्रिय और अग्निदीपक है।

वि० मन्तव्य—मूत्रप्राणी के शरीर का पित्तप्रधान द्रव है, अत एव पित्त का समानधर्मा है—दोनों के रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव समान हैं और कर्म भी समान हैं। मूत्र-वातजनित विकारों तथा कृमि आदि रोगों में विरेचनार्थ दिया जाता है। इसमें जो पीलापन होता है वह पित्त के मिश्रण का सूचक है, प्राणी जितना लवण खाता है उसका अधिकांश मूत्र में घुला रहता है। अतएव वह लवणानुरस होता है, कटु तिक्त आदि भक्ष्यों के रस भी मूत्र के साथ निकल जाते हैं। पित्त मिश्रित होने के कारण ही यह उष्ण, तीक्ष्ण एवं अग्निदीपक होता है ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत् सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।
शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥
अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।
पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

कहा भी है—

सब प्रकार के मूत्र—कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण लवण-अनुरस, लघु, स्रोतों के शोधक, कफ वायु-नाशक, कृमि-मेद विष अर्श-उदर-गुल्म-शोफ-अरोचक-पाण्डुरोग नाशक, विरेचक, हृदय के लिये प्रिय और अग्निदीपक एवं पाचक हैं ॥२१८-२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम् ।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफवातनुत् ॥२२०॥
शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गाय का मूत्र—(बैल का नहीं)—कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त होने से वायुकारक नहीं। लघु, अग्निदीपक, मेध्य (पवित्र), पित्तकारक, कफ—वायुनाशक, शूल, गुल्म, उदर, आनाह (आध्मान) नाशक, विरेचन एवं आस्थापन तथा जो रोग मूत्रप्रयोगसाध्य हैं, उनमें गाय का मूत्र प्रयोग करना चाहिये[1] ॥२२०,२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।
आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

---

१ गुडाम्बु का लक्षण—

"गुडाम्बुना सतैलेन सन्धानं काञ्जिकं तु यत् ।
कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥"

मधुशुक्त का लक्षण—

"जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् ।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ।
त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥"

कई आचार्य—मधुशुक्त के स्थान पर मद्यशुक्त पढ़ते हैं।

मद्यशुक्त का लक्षण—

"सर्वं मद्यं पञ्चरसं (लवणवर्जं) कालान्तरवशाद्यदा ।
त्यक्त्वान्यरसमम्लत्वं याति शुक्तं तदुच्यते ॥"

२ तुषोदक—"तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः"

सौवीरक—

"सौवीरकं यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतम् ।
गोधूमैरपि सौवीरमाचार्य्याः केचिदूचिरे ॥"

३ धान्याम्ल—

"धान्याम्लं शालिचूर्णैश्च कोद्रवादिकृतं च यत् ॥"

१ गाय, भैंस, बकरी, भेड़ इनमें स्त्रीलिङ्ग का घोड़ा, गधा, ऊँट, हाथी इनमें पुरुष जाति का मूत्र बरतना चाहिये।

भैंस का मूत्र (भैंसे का नहीं)—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, मेह, अविशुद्धि (वमन आदि की उचित प्रवृत्ति न होने) में, आनाह, शोफ, गुल्म, पाण्डुरोग में बरतना चाहिये ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।
कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र (बकरे का नहीं)—कासश्वासनाशक, शोफ, कामला, पाण्डुरोगनाशक, कटु-तिक्तरस, बकरी का मूत्र वायु को थोड़ा सा प्रकुपित करता है ॥२२३॥

कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।
सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् ॥२२४॥

भेड़ का मूत्र (पुंल्लिंग का नहीं)—कास प्लीहा, उदर, श्वास, शोष (क्षय), वर्चग्रह (मलावरोध-मल का सूख जाना) में हितकारी, क्षारयुक्त, तिक्त-कटुरस, उष्णवीर्य, वातनाशक है॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।
आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिदद्रुषु शस्यते ॥२२५॥

घोड़े का मूत्र (घोड़ी का नहीं)—अग्निदीपक, कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, वायु एवं मानस रोगों को दूर करता है। कफनाशक, कृमि एवं दाद में घोड़े का मूत्र उत्तम है ॥२२५॥

सतिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।
तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हाथी का मूत्र (हथिनी का नहीं)—तिक्त, लवणरस, भेदि (विरेचक), वातनाशक, पित्तप्रकोपक, तीक्ष्णक्षार कार्य (जलाने) में; किलास (कुष्ठभेद) रोग में हाथी का मूत्र प्रयोग करना चाहिये ॥२२६॥

गरचेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणिरोगनुत् ।
दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् ॥२२७॥

गधे का मूत्र (गधी का नहीं]—गर (संयोगजन्यविष) एवं मानस रोगों का नाशक, तीक्ष्ण, ग्रहणीरोगनाशक, अग्निदीपक, कृमि, वात, कफ नाशक है ॥२२७॥

शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतकृमिनाशनम् ।
अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं मानुषं च विषापहम् ॥२२८॥

ऊँट का मूत्र (ऊँटनी का नहीं)-शोफ, कुष्ठ, उदर, उन्माद, वायु, कृमिरोग नाशक एवं अर्शरोग नाशक है। प्रसंगवश--मनुष्यमूत्र के गुण—मनुष्य का मूत्र विषनाशक है।

वि० मन्तव्य—नरमूत्र—सर्प विष की उत्तम औषध है। मात्रा-४-४ तोला कई बार १-१ घण्टा पर देने से विषवेग शान्त होने लगता है। दंशस्थल पर मूत्र का सेचन भी करना चाहिये। वृश्चिक एवं वर्रे (भिण्ड-भरिण्ड पञ्जाबी भाषा) के दंश पर भी सेचन से लाभ होता है ॥२२८॥

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितानि तु ।
देशकालविभागज्ञो नृपतेर्दातुमर्हति ॥२२९॥

देश-काल के विभाग को जाननेवाला वैद्य (कहे या न कहे) सम्पूर्ण द्रव (तरल) द्रव्यों को राजा के लिये विधान कर सकता है ॥२२९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे "अन्नपानविधि" नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥

धन्वन्तरिमभिवाद्य सुश्रुत उवाच—प्रागभिहितः 'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयिणः' द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयवृद्धी दोषाणां साम्यं च, ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः, आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च, तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यं, तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्यानेकविधविकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथग्द्रव्यरसगुणवीर्यविपाककर्माणीच्छामि ज्ञातुं, न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिषजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिग्रहणं च कर्तुं समर्थाः, आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यस्मात्तस्मादन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवानित्युक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः—अथ खलु वत्स सुश्रुत ! यथाप्रश्नमुच्यमानमुपधारयस्व ॥३॥

धन्वन्तरि को नमस्कार करके सुश्रुत ने कहा—आपने पहिले कहा है कि-प्राणियों के बल एवं ओज का कारण आहार है। यह आहार छः रसों में आश्रित है। रस द्रव्य के आश्रित है; दोष-धातुओं का साम्य, क्षय एवं वृद्धि, द्रव्य, रस, गुण, वीर्य विपाक के कारण से होती है। ब्रह्म आदि लोकों[1] का भी आहार ही स्थिति (अवस्थान), उत्पत्ति, विनाश का कारण है। आहार से ही शरीर की वृद्धि बल एवं आरोग्य एवं वर्ण स्वच्छता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों में निर्मलता (या पटुता) आती है। आहार की विषमता से ही अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है। इस चार प्रकार (अशित, पीत, लीढ और खादित रूप) एवं बहुत प्रकार के पृथिवी आदि द्रव्यों से उत्पन्न

---

१ ब्रह्मादिलोक—ब्रह्मा का प्रथमलोक ब्रह्मलोक है—
"षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ॥"

होनेवाले तथा अनेक प्रकार के (मण्ड-पेया-विलेपी आदि) की संस्कारकल्पनावाले, नाना प्रकार की शक्तिवाले आहार के, पृथग्-पृथग् द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्मों को जानना चाहता हूँ। कारण—बिना स्वरूप को जाने वैद्य स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग का निवारण नहीं कर सकते। चूंकि—सब प्राणी आहार के वश में हैं। इसलिये—हे भगवान्! आप अन्नपान विधि (कल्पना) का उपदेश मुझको करिये।

इस प्रकार कहने पर-भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा कि हे वत्स! अपने प्रश्न का उत्तर ठीक प्रकार से सुनकर धारण करो ॥३॥

तत्र, लोहितशालिकलमकर्दमकपाण्डुकसुगन्धकशकुनाहृतपुष्पाण्डकपुण्डरीकमहाशालिशीतभीरुकरोध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहायनकदूषकमहादूषकप्रभृतयः शालयः ॥ ४ ॥

शालिवर्ग–लोहितक शालि (लाल चावल), कलम (कलवि), कर्दमक (कोंदा), पाण्डु (पीले तुष का, राम जवान), सुगंधक (देवशालि-बासमती), शकुनाहृत[1] (हंसराज), पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरु, रोध्रपुष्प, दीर्घशूक, कांचनक, महिषशूक, महाशूक, हायनक, दूषक, महादूषक आदि (यवकनैषध आदि) शालि हेमन्त में पकनेवाले धान्य हैं[2] ॥४॥

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः।
पित्तघ्नाल्पानिलकफाः स्निग्धा बद्धाल्पवर्चसः ॥५॥

शालियों के सामान्य गुण मधुर, शीतवीर्य, लघुपाकी, बलकारक, पित्तनाशक, वायु-कफ को थोड़ा बढ़ाते हैं, स्निग्ध, मल को थोड़ा शुष्क (कम) करते हैं ॥५॥

तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः।
चक्षुष्यो वर्णबलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृषापहः ॥६॥
व्रण्यो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविषापहः।

इन शालियों में लालशालि (लालमती) श्रेष्ठ, दोषनाशक, शुक्रल, मूत्रल, चक्षुष्य, वर्णकृत्, बलकारक, स्वर के लिये हितकारी, हृदय के लिये प्रिय, प्यासशामक, व्रण के लिये हितकारी ज्वरहर, सम्पूर्ण रोगों को तथा विष को दूर करता है ॥६॥

तस्मादल्पान्तरगुणा क्रमशः शालयोऽवराः ॥७॥

इन लाल शालि से अन्य शालि के गुणों में थोड़ा ही भेद है, अन्यशालि इस लालशालि से उत्तरोत्तर हीन गुणवाले हैं॥

षष्टिककाङ्गुकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलकासनपुष्पकमहाषष्टिकचूर्णककुरवककेदारप्रभृतयः षष्टिकाः ॥८॥

षष्टिक (साठी धान्य-ग्रीष्म ऋतु में पकनेवाले)—षष्टिक (श्वेत साठी), कंगु (कङ्गनी), मुकुन्दक-पीतककाकलक असनपुष्पक-महाषष्टिक-चूर्णक-कुरवक-केदार आदि षष्टिक (साठी-धान्य) हैं-ये ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं ॥८॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः।
शालीनां च गुणैस्तुल्या बृंहणाः कफशुक्रलाः ॥९॥

ये साठी धान्य—मधुररस, मधुरविपाक, वातपित्तशामक, शालिकों के समान गुणवाले, बृंहण (देहवर्धक), कफ एवं शुक्रवर्धक हैं ॥९॥

षष्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
मृदुः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नः स्थैर्यकृद्बलवर्धनः ॥१०॥
विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः।

इन साठी धान्यों में सफेद साठी श्रेष्ठ होते हैं, कषाय-अनुरस, लघु, मृदु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, स्थिरताकारक, बलवर्धक मधुर-विपाक, संग्राही लाल धान्यों के समान गुण वाले हैं ॥१०॥

शेषास्त्वल्पान्तरास्तस्मात् षष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥११॥

शेष साठी धान्यों में श्वेत साठी के गुणों से थोड़ा ही भेद होता है, ये साठी-श्वेत साठी से गुणों में कुछ कम होते हैं॥

कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावाक्षकत्वरितककुक्कुटाण्डकपारावतकपाटलप्रभृतयो व्रीहयः ॥ १२ ॥

व्रीहि-धान्य (वर्षा ऋतु में पकनेवाले धान्य)—कृष्णव्रीहि (काले तुषवाले धान्य), शालामुख, जतुमुख, नन्दीमुख, लावाक्ष (बटेर की आँख के समान), त्वरित, कुक्कुटाण्डक, पारावतक, पाटल आदि (खञ्जरीट, खञ्जन क्षौमक) व्रीहिधान्य हैं ॥१२॥

कषायमधुराः पाकेऽमधुरा वीर्यतोऽहिमाः।
अल्पाभिष्यन्दिनस्तुल्याः षष्टिकैर्बद्धवर्चसः ॥१३॥

सामान्य गुण—कषाय, मधुररस, मधुरविपाक, शीतवीर्य, अल्प अभिष्यन्दि, मल को रोकनेवाले और साठी धान्यों के समान गुणवाले हैं (कुधान्यों से श्रेष्ठ हैं) ॥१३॥

कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशो व्रीहयोऽपरे ॥१४॥

इन व्रीहिधान्यों में काले तुषवाले धान्य श्रेष्ठ हैं,

---

१ शकुनाहृत—
"द्वीपान्तरात् समानीतो गरुडेन महात्मना।
शकुनाहृतः सः शालिः स्यात् गरुडापरनामकः॥"

२ देश भेद से द्रव्य का नाम बदल जाता है। इसलिए शूक, शमी, कुधान्य इनको किसानों से पूछना चाहिये, जानवरों को शिकारियों से, पक्षियों को चिड़ीमारों से, कन्द-मूल-फलों को तपस्वियों से, शाकों को ग्राम्य एवं अरण्यवासियों से, कृतान्न (सिद्ध-अन्नों) को रसोइयों से, औषध द्रव्यों को अत्तारों से और जो कि औषध द्रव्य बाजार में नहीं मिलते, उनको बनवासियों से जानना चाहिये।

कषाय-अनुरस, लघु हैं। इस कृष्ण व्रीहि से अन्य व्रीहि धान्यों के गुणों में थोड़ा-सा ही भेद है—कृष्णव्रीहि से गुणों में कुछ कम है ॥१४॥

दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः।
कषाया बद्धविण्मूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥१५॥

जली हुई भूमि में उत्पन्न शालि—लघुपाकी (शीघ्र जीर्ण होनेवाले), कषायरस, मलमूत्र को रोकनेवाले, रूक्ष, कफ को कम करनेवाले होते हैं ॥१५॥

स्थलजाः कफपित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः।
किंचित्सतिक्तमधुराः पवनानलवर्धनाः ॥१६॥

स्थलजन्य (जांगल देश में उत्पन्न)—धान्य कफ–पित्तनाशक, कषायरस, कटु-अनुरस, कुछ तिक्त, मधुरविपाक, वायु-पित्त को बढ़ाते हैं ॥१६॥

कैदारा मधुरा वृष्या बल्याः पित्तनिबर्हणाः।
ईषत्कषायाल्पमला गुरवः कफशुक्रलाः ॥१७॥

केदार (खेतों में—जलबहुल देश में उत्पन्न) धान्य–मधुर, शुक्रवर्धक, बलकारक, पित्तनाशक, थोड़ा कषाय रस, थोड़े मल कारक, गुरु कफ एवं शुक्रवर्धक हैं ॥१७॥

रोप्यातिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः।
अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्धनाः ॥१८॥

जो धान्य एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाये जाते हैं, वे धान्य लघु, शीघ्र जीर्ण होनेवाले, गुणों में श्रेष्ठ, अदाहि, दोषनाशक, बलकारक और मूत्र को बढ़ानेवाले हैं ॥

शालयश्छिन्नरूढा ये रूक्षास्ते बद्धवर्चसः।
तिक्ताः कषायाः पित्तघ्ना लघुपाकाः कफापहाः ॥१९॥

जो धान्य काटने के पीछे फिर बढ़ते हैं—ये धान्य रूक्ष एवं मल को रोकनेवाले हैं। तिक्त, कषायरस, पित्तनाशक, लघुपाकी और कफ नाशक हैं ॥१९॥

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हिताहितः।
तद्वत् कुधान्यमुद्गादिमाषादीनां च वक्ष्यते ॥२०॥

इति शालिवर्गः।

शालिवर्ग को हित-अहित रूप में विस्तार से यहाँ कह दिया है। इसी प्रकार (विस्तार से)—कुधान्य, मूङ्ग आदि तथा माष आदि को भी कहेंगे ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्गः।

कोरदूषकश्यामाकनीवारशान्तनुवरकोद्दालकप्रियङ्गु-मधूलिकानन्दीमुखीकुरुविन्दगवेधुकसरबरुकतोद-(य)-पर्णिमुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः कुधान्यविशेषाः ॥२१॥

कुधान्य—कोरदूषक (कोदा), श्यामाक (सांवक-तीन प्रकार का है—श्यामक, उष्ट्रश्यामक, हस्तिश्यामक), नीवार (उड़िया-धान्य), शान्तनु, वरक (वरटिका), उद्दालक, प्रियंगु, मधूलिका, नान्दीमुखी, कुरुविन्द, गवेधुक, तोदपर्णी, मुकुंदक, वेणुयव आदि (झण्टी-घर्भुटी आदि) कुधान्यवर्ग हैं ॥२१॥

उष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः।
श्लेष्मघ्ना बद्धनिष्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः ॥२२॥
कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः।
कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः ॥२३॥

सामान्य गुण—उष्णवीर्य, कषायरस, मधुर, रूक्ष, कटु-विपाक, कफनाशक, मूत्र को रोकनेवाला, वातपित्तप्रकोपक हैं। इनमें कोद्रव नीवार-श्यामाक-शान्तनुकषाय, मधुररस, शीतवीर्य, पित्तनाशक हैं ॥२२, २३॥

कृष्णा रक्ताश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः।
यथोत्तरं प्रधानाः स्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः ॥२४॥

काला, लाल, पीला, श्वेत, प्रियंगु—उत्तरोत्तर रूक्ष, कफहर आदि गुणों में श्रेष्ठ ॥२४॥

मधूली मधुरा शीता स्निग्धा नन्दीमुखी तथा।

मधूलिका और नान्दीमुख–मधुर, शीतल, स्निग्ध होते हैं॥

विशोषी तत्र भूयिष्ठं वरुकः समुकुन्दकः ॥२५॥

बरुक-मुकुन्दक—ये विशेषकर द्रव धातुओं को सुखाते हैं॥

रूक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्योष्णाः कटुपाकिनः।
बद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः ॥२६॥

वेणुयव (बाँस के जौ)—रूक्ष, उष्णवीर्य, कटु-विपाक, मूत्र को रोकनेवाला, कषायरस, कफनाशक, वातकोपक हैं ॥२६॥

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसतीन-त्रिपुटकहरेण्वाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

शमी धान्य—मूङ्ग (हरे, पीले, काले, लाल), वनमुद्ग (वन में उत्पन्न मूङ्ग), कलाय (मटर), मकुष्ठक (मोठ), मसूर (दो प्रकार के हैं—काले और पाण्डुर), चणक (चने), सतीन (वर्त्तुलक-मटर) त्रिपुटक (स्वल्प), हरेणु, आढकी (अरहर) आदि की वैदल संज्ञा है, वैदल—दो दलोंवाले हैं, दाल के काम में आते हैं ॥२७॥

कषायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्सराः।
बद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥
नात्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः।
प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

मूङ्ग के गुण—कषाय-मधुररस, शीतवीर्य, विपाक में कटु, वायुकारक, मल-मूत्र को बाँधनेवाले, पित्तकफनाशक, एवं वायु को बहुत नहीं बढ़ाते, आँखों को स्वच्छ करते हैं। इन मङ्गों में हरे मूङ्ग श्रेष्ठ हैं, वनमूङ्ग-मूङ्ग के समान गुणकारी हैं ॥२८, २९॥

विपाके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः।

मसूर—मधुर विपाक, मल को रोकनेवाले हैं॥

मकुष्ठकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मोठ—कृमि को उत्पन्न करते हैं, कलाय (मटर) वायु को बढ़ाते हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

अरहर—कफ-पित्तनाशक, वायु को थोड़ा प्रकुपित करती है ॥

वातलाः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

चने के गुण—वातनाशक, शीतवीर्य, मधुर, कषायरस, रूक्ष, कफनाशक, रक्त-पित्तनाशक, पुंस्त्व (पुरुषत्व)—नाशक हैं। चनों को यदि घी के साथ मिलाकर बरता जाये तो त्रिदोष-नाशक होते हैं ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्चसः ।

ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन—मल को रोकते हैं। मूँग और मसूर को छोड़कर सब वैदल (दालें) आध्मान (पेट में अफारा) उत्पन्न करते हैं, (मूङ्ग-मसूर थोड़ा आध्मान उत्पन्न करते हैं) ॥३३॥

माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः

स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः ।

संतर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

माष (उड़द)—गुरु, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाले, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य (शुक्रवर्धक), मधुर, वायुनाशक, सन्तर्पक, (तृप्ति-कारक), दुग्धवर्धक, खासकर बलवर्धक; शुक्रप्रवर्त्तक एवं कफ प्रवर्त्तक हैं ॥३४॥

कषायभावान्न पुरीषभेदी

न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

संतर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

राजमाष (अलसान्द्र)—कषायरस होने से—मल का विरेचक नहीं, मूत्रल भी नहीं, कफ को उत्पन्न नहीं करता, मधुरविपाक, मधुररस, सन्तर्पण (तृप्तिकारक), दुग्धवर्धक और रुचि कारक है। (कफहर होने से अवृष्य भी है) ॥३५॥

माषैः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आत्मगुप्ता (कौंच) और काकाण्डफल (शूक-शिम्बी) के गुण भी माष (उड़द) के समान हैं।

आरण्यमाषा गुणतः प्रदिष्टा

रूक्षाः कषाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

जङ्गली उड़द—रूक्ष, कषायरस और अविदाही होते हैं (अन्य उड़दों की अपेक्षा से) ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कषायः

कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः ।

शुक्राश्मरीगुल्मनिषूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहन्ता ॥३७॥

कुलत्थी—उष्णवीर्य, कषायरस, विपाक में कटु, कफ-वायुनाशक, शुक्र, अश्मरी गुल्मनाशक, संग्राही, पीनस एवं कासनाशक हैं ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिक्का—

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

वन कुलत्थी (चाकसू)—आनाह (अफारा), मेद, गुदकील (अर्श), हिचकी--श्वासरोग नाशक, रक्तपित्तकारक, कफनाशक अक्षिरोगों को खासकर नष्ट करती है ॥३८॥

ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः

स्निग्धो व्रणे लेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र—

स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च ।

तिल—कुछ कषाय-अनुरस, मधुर, ईषत् तिक्त, संग्राही, पित्तकारक, उष्ण, विपाक में मधुर, बलकारक, स्निग्ध, व्रण पर लेप करने के लिये हितकारी है। दान्तों के लिये हितकारी, अग्निजनक, मेधाजनक, मूत्र को थोड़ा बढ़ाता है, दूधवर्धक, बालों के लिये हितकारी, वायुनाशक और गुरु है ॥३९॥

तिलेषु सर्वेष्वसितप्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

तिलों में काले तिल सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं, सफेद तिल मध्यम और अन्य (हरे, पीले, लाल) हीन गुणवाले हैं ॥४०॥

यवः कषायो मधुरो हिमश्च

कटुर्विपाके कफपित्तहारी ।

व्रणे तु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं

प्रबद्धमूत्रो बहुवातवर्चाः ॥४१॥

स्थैर्याग्निमेधास्वरवर्णकृच्च

सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च ।

मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरूक्षः

प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥४२॥

यव—जौ कषाय, मधुर, शीतवीर्य, विपाक में कटु, कफ-पित्तनाशक, व्रणरोग में लेपन के लिये पथ्य (वात, पित्त, कफ-जन्य व्रणों में तिल के समान पथ्य है), मूत्र को कम करनेवाला (इसीलिये प्रमेहरोगियों के लिये पथ्य), कुक्षिवात और मल को बढ़ाता है। स्थिरता (आयु की), अग्नि-मेधा-स्वर और वर्ण को बढ़ाता है। कुछ पिच्छिल है और स्थूल का कर्षण (पतला)

करता है। मेद-वायु प्यास को (मेद से रुकी वायु को) नष्ट करता है, अत्यन्त रूक्ष है, स्रोतों का विशोधक है। रक्त-पित्त का प्रसादक है ॥४१,४२॥

एभिर्गुणैर्हीनतरैस्तु किंचि—
द्विद्याद्यवेभ्योऽतियवानशेषैः।

अतियव—(बिना शूक के, काले, लाल जौ)-में भी यव के समान गुण हैं, परन्तु विशेषकर ये हीनगुण-निम्न श्रेणी के हैं॥

गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च
बल्यः स्थिरः शुक्ररुचिप्रदश्च ॥४३॥
स्निग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता
सन्धानकृच्छ्लेष्मकरः सरश्च।

गोधूम (गेहूँ)—मधुर, गुरु, बलकारक, स्थिर (स्थिरता करनेवाली, आयुःस्थापक), शुक्रप्रद और रुचिप्रद हैं। अति स्निग्ध, अतिशीत; वायु-पित्त का नाशक; भग्नस्थान को जोड़ती है, कफवर्धक (नूतन—गेहूँ; एक साल पुरानी गेहूँ कफवर्धक नहीं), और सर (विरेचक) है ॥४३॥

रूक्षः कषायो विषशोषशुक्र—
बलासदृष्टिक्षयकृद्विदाही ॥४४॥
कटुर्विपाके मधुरस्तु शिम्बः
प्रभिन्नविण्मारुतपित्तलश्च।

शिम्बी के सामान्यगुण—रूक्ष, कषायरस, विष, शोष, शुक्र; कफ, दृष्टि का क्षय करनेवाली, विदाही, विपाक में कटु, मधुर, वायु और मल का अवरोधक तथा पित्तकारक है[1]॥४४॥

सितासिताः पीतकरक्तवर्णा
भवन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्बाः ॥४५॥
यथादितस्ते गुणतः प्रधाना
ज्ञेयाः कटूष्णा रसपाकयोश्च।

सित (श्वेत), असित (काले), पीतक (पीले) रक्त (लाल) रंग के जो अनेक प्रकार के शिम्बी (सेम) हैं, वे क्रमशः काले से श्वेत, पीले से काला, लाल से पीला गुणों में (रस, वीर्य, विपाक लक्षणों में) अधिक श्रेष्ठ होते हैं, कटुरस, उष्णवीर्य, एवं कटु विपाक है ॥४५॥

सहाद्वयं मूलकजाश्च शिम्बाः
कुशिम्बिवल्लीप्रभवास्तु शिम्बाः ॥४६॥
ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च
बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च।

दोनों सहा (मुद्गपर्णी, मासपर्णी), मूलकजन्य शिम्बी कौंच की लता से उत्पन्न कच्चे बीज, ऊपर पके बीजों का गुण हैं, अथवा मूलकशिम्बी), वल्लीशिम्बी (शूकशिम्बी), मधुररस, मधुरविपाक, बलवर्धक और पित्तनाशक हैं ॥४६॥

विदाहवन्तश्च भृशं विरूक्षा
विष्टभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ॥४७॥
रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च
सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिम्बाः।

वैदलिक (मूङ्ग से लेकर मटर तक के शिम्बी), विदाहवान् (अम्लपाकी), अत्यन्त रूक्ष, पेट में गुड़गुड़ाहट उत्पन्न करके जीर्ण होते हैं, वायुकारक, रुचिप्रद, कठिनाई से पचते हैं॥४७॥

कटुर्विपाके कटुकः कफघ्नो
विदाहिभावादहितः कुसुम्भः ॥४८॥

कुसुम्भ (धनिया)—कटुरस, कटुविपाक, कफनाशक अम्लपाकी होने से अहितकारी है ॥४८॥

उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी
पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके।

अतसी (अलसी)—उष्णवीर्य, मधुररस, वायुनाशक, पित्तवर्धक, विपाक में कटु है।

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः
सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपी ॥४९॥
तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न—
स्तथागुणश्चासितसर्षपोऽपि।

सिद्धार्थक (सरसों)—कटुरस, कटुविपाक, रक्त-पित्तप्रकोपक, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कफ-वायु-नाशक है। काली सरसों के गुण भी श्वेत सरसों के समान हैं ॥४९॥

अनार्तवं व्याधिहतमपर्यागतमेव च।
अभूमिजं नवं चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥५०॥

त्याज्य धान्य—अनार्त्तव (अन्य ऋतु में उत्पन्न), व्याधिहत (कुंकुम आदि कनसुवा, कुंभी आदि रोग लगने पर), अपर्यागत (अपक्व), अभूमिजन्य (ऊसर, पत्थरवाली, विषयुक्त भूमि में उत्पन्न), नव (नया) जो एक साल पुराना न हो वह धान्य (शूक, शमी धान्य) गुणवाला नहीं है ॥५०॥

नवं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम्।

नये धान्य (शूक-शिम्बी)—अभिष्यन्दि होते हैं और एक साल से ऊपर दूसरे वर्ष तक ही धान्य लघु (गुणकारी) रहता है, इसके आगे वीर्य रहित हो जाता है[1]।

विदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम् ॥५१॥

विरूढ (अंकुरित) धान्य—विदाहि, गुरु, विष्टम्भि (गुड़ गुड़ शब्द के साथ जीर्ण होते हैं), और आँखों को दूषित करते हैं ॥५१॥

शाल्यादेः सर्षपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः।
कालप्रमाणसंस्कारमात्राः संपरिकीर्तिताः ॥५२॥

इति कुधान्यवर्गः।

---

१ शिम्बी—दाने मटर का दाना आदि।

१ कहा भी है—
"वर्षोषितं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम्।
न तु त्यजति तद्वीर्यं क्रमशो विजहाति तत् ॥"

शालि से लेकर सरसों तक नाना प्रकार के आहार द्रव्यों को काल-प्रमाण (एक साल पुराना) संस्कार (व्रीहि गुरु होने पर संस्कार—पाकविशेष से ताजा रूप हल्के, लघु[१] हो जाते हैं), मात्रा-(अग्निबल की अपेक्षा करती है, तीन प्रकार की है, हीन, मध्य और उत्तम) भेद से कह दिया है।

वि० मन्तव्य—शूक धान्य-जिन पर शूक (छोटा या बड़ा शूक)—तीखा तूड़ होता है, यथा सब प्रकार के चावल तथा गेहूँ जौ आदि, शिम्बी धान्य-जो फली के भीतर होते हैं, जैसे माष, मूंग आदि, इनको "शमी धान्य" कहते हैं। शालि वे हैं जो जलप्लावन चाहते हैं या जिनको अधिक जल की आवश्यकता होती है। षष्टिक धान्य-जो बोने पर ६० दिन में पक जाते हैं। जैसे मक्का जुनरी आदि। कुधान्य-कुत्सित या निम्न-श्रेणी के धान्य या तृण धान्य-घास के रूप में उत्पन्न धान्य, यथा-कोदों सामा आदि। वैदलधान्य-जिनके बीज में दो दाल होते हैं। इन्हीं का नाम शिम्बी धान्य है। धान्य का अर्थ है-धाने पोषणे साधुः। (पोषण)—शरीर पोषण में साधक। खाद्य या भोजनोपयोगी औषध बीज ॥५२॥

अथ मांसवर्गः।

अत उर्ध्वं मांसवर्गानुपदेक्ष्यामः, तद्यथा—जलेशया आनूपाः, ग्राम्याः, क्रव्यभुजः, एकशफाः, जाङ्गलाश्चेति षण्मांसवर्गा भवन्ति। एतेषां वर्गाणामुत्तरोत्तरा प्रधानतमाः। ते पुनर्द्विविधा जाङ्गला आनूपाश्चेति। तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः तद्यथा-जङ्घालाः, विष्किराः, प्रतुदाः, गुहाशयाः, प्रसहाः, पर्णमृगाः, बिलेशयाः, ग्राम्याश्चेति। तेषां जङ्घालविष्किरौ प्रधानतमौ ॥५३॥

इसके आगे मांस वर्ग को कहते हैं—

यथा—मांसवर्ग छै भागों में विभक्त है—जलेशय (जल में रहनेवाले), आनूप (जलबहुल प्रदेश में रहनेवाले, महिष आदि), ग्राम्य (गाय आदि), क्रव्यभुज (मांस खानेवाले, गुहाशय और प्रसह); एक शफवाले (घोड़े आदि) और जाङ्गल (जंघाल, विष्किर, प्रतुद, पर्ण मृग, बिलेशय) ये छः भेद हैं। इन वर्गों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। छै प्रकार के होने पर भी स्थानभेद से दो प्रकार के हैं-जांगल और आनूप। यह जांगल-वर्ग आठ प्रकार का है। यथा-जंघाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, बिलेशय और ग्राम्य। इनमें जंघाल और विष्किर श्रेष्ठ हैं ॥५३॥

तत्रैणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्राप्रषतचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्घाला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्ष्णा हृद्या बस्तिशोधनाश्च ॥५४॥

इनमें जंघाल—(प्रशस्त जंघावाले)—एण (काला) हरिण (श्वेत हरिण), ऋक्ष (नीलाण्ड), कुरङ्ग (चतुरङ्ग), कराल (कस्तूरा) कृतमाल (समूह में रहने वाले मृग), शरभ (ऊँट के समान, बड़े सींगों का); श्वदंष्ट्रा (चतुर्दंष्ट्र), पृषत (चित्तल) चारुष्कर (चारु शरीर), मृगमातृका (मोटे पेटवाली) आदि जंघाल मृग हैं। गुण—कषाय, मधुर, वात पित्तनाशक, तीक्ष्ण, हृदय के प्रिय, बस्ति (मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में पथ्य, मूत्रविरेचक हैं) ॥५४॥

कषयामधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा।
संग्राही रोचनो बल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥५५॥

एण मृग—कषायरस, मधुरवीर्य, हृदय के लिये प्रिय, पित्त-रक्त-कफरोग-नाशक, संग्राही, रोचक, बलकारक, एवं ज्वरनाशक है ॥५५॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः।
शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥

कृष्ण हरिण—मधुररस, मधुर विपाक, दोषनाशक, अग्निदीपक है। सुगन्ध हरिण—शीतल, मल-मूत्र का अवरोधक (इसलिये अतिसार एवं प्रमेही रोगियों के लिये पथ्य) और लघु है ॥५६॥

एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते।
यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥

एण और हरिण में भेद—काले मृग को एण कहते हैं, ताम्रवर्ण को हरिण कहते हैं। और जो न काला एवं न ताम्रवर्ण होता है उसे कुरङ्ग कहते हैं ॥५७॥

शीताऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्कारुचिप्रणुत् ॥५८॥

मृगमातृका—शीतवीर्य, रक्त-पित्तशामक, सन्निपात, क्षय, श्वास, कास, हिचकी एवं अरुचिनाशक है ॥५८॥

लावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकावर्तकनप्तृकावार्तीकचकोरकलविङ्कमयूरक्रकरोपचक्रकुक्कुटसारङ्गशतपत्रकुतित्तिरिकुरुवाहकयवालकप्रभृतयस्त्र्याहला[१] विष्किराः ॥५९
लघवः शीतमधुराः कषाया दोषनाशनाः।

विष्किर (विखेरकर खानेवाले)—लाव (बटेर), तित्तिरि (तीतर), कपिञ्जल (गौर तित्तिर), वर्तीर (कपिंजल), वर्तिका (वर्त्तीर से बड़ा), वर्त्तक, नप्तृका (घुग्घू), वर्तीक (वर्त्तिचटक), चकोर, कलविंक (काला चटक), मयूर, क्रकर (कयार), उपचक्र (चक्रवाक), कुक्कुट, सारङ्ग (चातक), शतपत्रक (करफोड़ा), कुतित्तिरि, कुरुवाहक (कुरुरुक), यवालक (यवगुड़क), आदि

१ लघुपाकी का लक्षण—
"लघु पथ्यतमं प्रोक्तं गुर्वपथ्यतमं स्मृतम्।
पाकं गच्छति यच्छीघ्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम्॥"

१ त्र्याहला का अर्थ—चञ्चु और दोनों पञ्जों से चोट करके खाते हैं, इसलिये त्र्याहला कहते हैं।

तीन नखों वाले हैं, ये तीन नखों से भूमि को कुरेदते हैं। इनके गुण लघु, शीतवीर्य, मधुरकषाय और दोषशामक हैं ॥५९॥

संग्राही दीपनश्चैव कषायमधुरो लघुः ।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते तु पूजितः ॥ ६० ॥

लाव (बटेर) संग्राहि, अग्निदीपक, कषाय, मधुररस, लघु, विपाक में कटु और सन्निपात रोग में उत्तम है[१] ॥६०॥

ईषद्गुरूष्णमधुरो वृष्यो मेधाग्निवर्धनः ।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥ ६१ ॥

तीतर के गुण—ईषद्गुरु, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधा एवं अग्नि का वर्धक, सर्वदोषनाशक, संग्राही, वर्ण को स्वच्छ करता है ॥ ६१ ॥

रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः ।
कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥ ६२ ॥

कपिञ्जल—रक्त-पित्तनाशक, शीतल और लघु है। कफजन्य रोगों में तथा वायु के मन्द (Dull) होने में श्रेष्ठ हैं ॥

हिक्काश्वासानिलहरो विशेषाद् गौरतित्तिरिः ।
वातपित्तहरा वृष्या मेधाग्निबलवर्धनाः ॥ ६३ ॥
लघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः ।

क्रकर (केकरा)—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल), मेधा-अग्नि-बलवर्धक लघु एवं हृदय के लिये प्रिय है। उपचक्र के गुण भी क्रकर के समान हैं ॥ ६३ ॥

कषायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ हितः ॥६४॥
मयूरः स्वरमेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् ।
स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः ॥ ६५ ॥

मोर के गुण—कषाय, मधुर, लवण, त्वचा एवं केशों के लिए हितकारी, अरुचि में प्रशस्त, स्वर, मेधा, अग्नि, आँख, कर्णेन्द्रिय को दृढ़ (मजबूत) करता है, उष्णवीर्य, वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धन), स्वेद, स्वर, बलदायक है ॥ ६४,६५ ॥

बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद्ग्राम्यो गुरुस्तु सः ।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥ ६६ ॥

कुक्कुट—वन का कुक्कुट बृंहण (देहवर्धक) गुरु है, ग्राम्य कुक्कुट—बृंहण एवं अधिक गुरु है। वायुरोग क्षय, वमन, विषमज्वर को नष्ट करता है ॥ ६६ ॥

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिकुलिङ्गगृहकुलिङ्ग-गोक्ष्वेडकडिण्डिमाणवकशतपत्रकमातृनिन्दकभेदाशिशुक-सारिकावल्गुलीगिरिशालट्वाऽन्नदूषकसुगृहाखञ्जरीटहा-रीतदात्यूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥ ६७ ॥

प्रतुद—कपोत (जङ्गली कबूतर), पारावत (घर में पले कबूतर), भृङ्गराज (भँवरा), परभृत (कोयल), कोयष्टिक (कोयंग), कुलिङ्ग (जङ्गली चटक), गोक्ष्वेड़ (गोनर्द), गृहकुलिङ्ग (घर की चटक), डिण्डिमाणवक, शतपत्रक (राजशुक), मातृनिन्दक (पुत्रञ्जक), मेदाशी (पुत्राशी), शुक (तोता), सारिका (मैना), वल्गुली (गुदलिका), गिरीश (गिरिवर्तिका), लट्वा (लाट), अन्नदूषक, सुग्रहा (पीत-मस्तक), खंजरीट (सित-असित वर्ण), हारीत, दात्यूह (कालकण्टक) आदि प्रतुद हैं ॥६७॥

कषायमधुरा रूक्षाः फलाहारा मरुत्कराः ।
पित्तश्लेष्महराः शीता बद्धमूत्राल्पवर्चसः ॥ ६८ ॥

इसके सामान्यगुण—कषाय, मधुर, रूक्ष, फल को खानेवाले वायु को उत्पन्न करते हैं, पित्त-कफनाशक, शीतवीर्य, मूत्र को कम करनेवाले और मल को रोकनेवाले हैं ॥ ६८ ॥

सर्वदोषकरस्तेषां भेदाशी मलदूषकः ।

मेदाशी—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है, वातादिदोष जनक, मूत्रादि-मल-दूषक हैं।

कषायस्वादुलवणो गुरुः काणकपोतकः ॥ ६९ ॥

काण कपोत—(बनवासी कबूतर) कषाय, स्वादु, लवणरस और गुरु है ॥ ६९ ॥

रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च ।
विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥ ७० ॥

पारावत—रक्त-पित्तनाशक, कषायरस, विशद (पिच्छिल के विपरीत), विपाक में मधुर और गुरु है ॥ ७० ॥

कुलिङ्गो मधुरः स्निग्धः कफशुक्रविवर्धनः ।
रक्तपित्तहरो वेश्मकुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः ॥ ७१ ॥

कुलिंग—मधुर, स्निग्ध, कफ शुक्रवर्धक, रक्त-पित्तनाशक है; घर का कुलिंग—अतिशय शुक्र को बढ़ाता है ॥ ७१ ॥

सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जारश्रृगालमृगेर्वारुकप्रभृतयो गुहाशयाः ॥ ७२ ॥

गुहाशय (गुफा में रहनेवाले)-सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), तरक्षु, ऋक्ष, द्वीपी, मार्जार, श्रृगाल, मृग, एर्वारुक आदि—पर्वत की गुहाओं में रहते हैं ॥ ७२ ॥

मधुरा गुरवः स्निग्धाः बल्या मारुतनाशनाः ।
उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम् ॥ ७३ ॥

इनके सामान्य गुण—मधुर, गुरु, स्निग्ध, बलकारक, वायुनाशक, उष्णवीर्य, नेत्ररोगी एवं गुह्यप्रदेश (शिश्नादि में उत्पन्न रोग) के रोगियों के लिये सदा हितकारी हैं ॥ ७३ ॥

काककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्र-प्रभृतयः प्रसहाः ॥ ७४ ॥

---

१ बटेर के चार भेद—
'गौरिकः पांसुलश्चैव पौण्ड्रको दर्भरस्तथा ।
लावश्चतुर्विधः प्रोक्तः तित्तिरो द्विविधः स्मृतः ॥''
गौर तीतर—हिचकी, श्वास, वायु का नाशक है।
१ कंक—कङ्कः स्यात् कंकमल्लाख्यो बाणपत्रार्हपक्षकः ।
लोहपृष्ठो दीर्घपादः पक्षाधः पाण्डुवर्णभाक् ॥''

प्रसह—काक (कौवा), कङ्क[1] (दीर्घचंचु), कुरर (कुरल), चाक, भास, शशघाती[1], उल्लूक, चिल्लि, श्येन (बाज), गीध आदि पक्षी, झपटकर (छीनकर) खाते हैं' इसलिये प्रसह हैं ॥

एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः।
रसवीर्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः ॥ ७५ ॥

इनके सामान्य गुण—ये कौवे आदि सब पक्षी गुणों में रस, वीर्य, विपाक में सिंह आदि के समान हैं। विशेषकर राजयक्ष्मा रोगी के लिये हितकारी हैं ॥ ७५ ॥

मद्गुमूषिकवृक्षशायिकावकुशपूतिघासवानरप्रभृतयः पर्णमृगाः ॥ ७६ ॥

पर्णमृग-मद्गु (वृक्षचर सर्प), मूषिक, वृक्षशायिका (गिलहरी), अवकुश (गोलांगूल), पूतिघास (खाटाश), वानर आदि वृक्षों पर रहने से पर्णमृग हैं ॥ ७६ ॥

मधुरा गुरवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च कासार्शःश्वासनाशनाः ॥ ७७ ॥

सामान्य गुण—मधुर, गुरु, वृष्य (शुक्रवर्धक), नेत्ररोग के लिये हितकारी, राजयक्ष्मा रोगी के लिये उत्तम, मल-मूत्र के प्रवर्त्तक, कास, अर्श, श्वास नाशक हैं ॥ ७७ ॥

श्वाविच्छल्यकगोधाशशवृषदंशलोपाकलोमशकर्णकदलीमृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहाबभ्रुप्रभृतयो बिलेशयाः।

बिलेशय-श्वावित् (सूई के समान बालोंवाला) शल्लकी, गोधा (गोह), शश (शशक), वृषदंश (गाँव की बिल्ली), लोपाक (शृगाल भेद लोमड़ी), लोमशकर्ण (बड़े बिल्ले के समान), कदलीमृग, अजगर (सर्प), सर्प (सांप दर्वीकर), मूषिक, (चूहा), नकुल (नेवला), महाबभ्रु (बड़ा नकुल), आदि जानवर बिलों में रहने से बिलेशय हैं ॥ ७८ ॥

वर्चोमूत्रं संहतं कुर्युरेते
वीर्ये चोष्णाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः।
वातं हन्युः श्लेष्मपित्तं च कुर्युः
स्निग्धाः कासश्वासकार्श्यापहाश्च ॥७९॥

इसके सामान्य गुण—मल और मूत्र को बद्ध करते हैं, उष्णवीर्य, मधुरविपाक, वातनाशक, कफ पित्त को करनेवाले, स्निग्ध, कास, श्वास, कृशता को मिटाते हैं ॥ ७९ ॥

कषायमधुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः।
नातिशीतलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥ ८० ॥

इसमें शशक-कषाय मधुररस, पित्तनाशक, न तो वायु को करता है, और न वायु का शमन करता है, (मधुर होने से वातशमक है और शीतल होने से वायुकारक नहीं, इसलिये साधारण है) ॥ ८० ॥

गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका स्मृता।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी ॥ ८१ ॥

गोधा-मधुरविपाक (कषाय-कटुरस), वातपित्तशामक, बृंहण (देहवर्धक), बलवर्धक है ॥ ८१ ॥

शल्यकः स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विषापहः।
प्रियको मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥ ८२ ॥

शल्यक-मधुर, पित्तनाशक, लघु, शीतल, विषनाशक है। प्रियक-वायुरोग में पथ्य है। अजगर-अर्शरोगियों के लिये हितकारी है ॥ ८२ ॥

दुर्नामानिलदोषघ्नाः कृमिदूषीविषापहाः।
चक्षुष्या मधुराः पाके सर्पा मेधाग्निवर्धनाः ॥८३॥

सांप—दुर्नाम (अर्श) वायु-नाशक, कृमि एवं दूषीविष को दूर करते हैं, आँखों के लिये हितकारी, मधुर-विपाक, मेधा-अग्निवर्धक है ॥ ८३ ॥

दर्वीकरा दीपकाश्च तेषूक्ताः कटुपाकिनः।
मधुराश्चातिचक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥ ८४ ॥

इन साँपों में दर्वीकर (दर्वी जैसे फणावाले), और दीपक (राजीमन्त) कटुपाकी हैं, मधुर, आँखों के लिये अति हितकारी, मल-मूत्र एवं वायु के प्रवर्तक हैं ॥ ८४ ॥

अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रबस्तोरभ्रमेदःपुच्छकप्रभृतयो ग्राम्याः ८५

ग्राम्य-अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गाय, खर (गधा), ऊँट, बस्त (बकरा), उरभ्र (मेढ़ा), मेदःपुच्छ (दुम्बा) आदि ग्रामों में रहने से ग्राम्य हैं ॥ ८५ ॥

ग्राम्या वातहराः सर्वे बृंहणाः कफपित्तलाः।
मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्धनाः ॥ ८६ ॥

इनके सामान्य गुण—ग्राम्य पशु वातनाशक, बृंहण (शरीर वर्धक) कफ-पित्त को करते हैं। मधुररस मधुरविपाक, अग्निदीपक और बलवर्धक हैं ॥८६॥

नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥८७॥

---

१ शशघ्नी—Golden Eagle—

यह पक्षी हिमालय, उत्तर एशिया और यूरोप में होता है। इस पक्षी में यह खास बात है कि शिकार में नर और मादा एक दूसरे की मदद करते हैं। यह पक्षी एक पत्नीव्रत वाला होता है। खरगोश और इनके बच्चे दिन भर बिल में रहा करते हैं। इन को बिल में से बाहर निकालने के लिये यह खास युक्ति करता है। यह युक्ति इस पक्षी की, किसी भी अनुभवी एवं होशियार शिकारी से कम नहीं होती है। अर्थात् नर और मादा में से कोई एक पक्षी बिल के पास छिपकर बैठ जाता है, और फिर दूसरा पक्षी झाड़ियों में जाकर तेज आवाज से सीटो सी बजाता है, साथ में इतनी गड़बड़ और तूफान मचाता है कि खरगोश और उसके बच्चे घबरा के बाहर निकलकर भागने के लिये बाधित होते हैं। और ज्यों ही खरगोश बाहर निकलता है, त्यों ही निगरानी रखनेवाला पक्षी इन पर झपट पड़ता है, और इनको पकड़ लेता है।

क्योंकि इस पक्षी का मुख्य आहार खरगोश है, इसलिये इसको शशघ्नी, शशघाती—ये नाम दिये गये हैं।

बकरी (छागल)—ईष, शीतल, गुरु, स्निग्ध अल्पपित्त, अल्प कफकारक (अल्प स्नेह और अल्प गुरुता होने से अल्प-कफकारक, उष्णता का सम्पर्क होने से तथा अल्प शीतल होने से अल्प पित्त), अनभिष्यन्दि, (दोष, धातु, मलों को थोड़ा उत्तेजित करती है) तथा पीनसरोगनाशक है ॥८७॥

बृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मापहं गुरु ।

औरभ्र मांस का गुण—बृंहण (देहवर्धक) पित्तकफनाशक, गुरु है।।

मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्रसदृशं गुणैः ॥८८॥

मेद-पुच्छ (दुम्बा)—वृष्य (शुक्रल) तथा उरभ्र के समान गुणवाला है ॥८८॥

श्वासकासप्रतिश्यायविषमज्वरनाशनम् ।

श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥८९॥

गव्य (गाय) मांस का गुण—श्वास, कास, प्रतिश्याय, ज्वरनाशक, श्रम एवं अत्यग्नि के लिये हितकारी, पवित्र, वायुनाशक है ॥८९॥

औरभ्रवत्सलवणं मांसमेकशफोद्भवम् ।

एक शफ (खुरवाले घोड़े आदि) का मांस उरभ्र के समान गुणकारी, थोड़ा नमक युक्त होता है ।

अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥९०॥

दूरे जनान्तनिलया दूरे पानीयगोचराः ।

ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥

अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः ।

ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥९२॥

यह जाङ्गल वर्ग थोड़ा अभिष्यन्दी है । जो मृग और पक्षी मनुष्यों के समीपवर्ती स्थान से दूर रहते हैं, तथा पानी के स्थान से दूर रहते हैं, वे अल्प अभिष्यन्दी होते हैं (उच्छिष्ट-अभिष्यन्दि भोजनों के न मिलने से दोषकोपक नहीं होते) । जो मृग-पक्षी घरों के बहुत समीप रहते हैं, या जो पानी के बहुत समीप रहते हैं, वे बहुत ही अभिष्यन्दी दोषप्रकोपक होते हैं ॥९०-९२॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधः । तद्यथा—कूलचराः, प्लवाः, कोषस्थाः, पादिनो, मत्स्याश्चेति ॥९३॥

आनूपवर्ग (जल बहुल प्रदेश का) पाँच प्रकार का है । यथा—कूलचर (किनारों पर चरनेवाले), प्लव (तैरनेवाले), कोषस्थ (शङ्खादि सम्पुट में रहनेवाले), पादी (पाँववाले) और मछलियाँ ॥९३॥

तत्र गजगवयमहिषरुरुचमरसृमररोहितवराहखड्गिगोकर्णकालपुच्छकोद्रन्यङ्क्वरण्यगवयप्रभृतयः कूलचराः पशवः ॥९४॥

इनमें कूलचर—गज (हाथी), गवय, महिष (भैंसे), रुरु, चमर, सृमर (महाशूकर) रोहित, वराह, खड्गी (गैंडा), गोकर्ण, कालपुच्छक, ओन्दुर (ऊदबिलाव), न्यंकु (मृग), अरण्यगवय (वन्य गौ) आदि कूल—पानी के किनारे चरनेवाले पशु हैं ॥

वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः ।

शीतला बलिनः स्निग्धाः मूत्रलाः कफवर्धनाः ॥९५॥

इनके सामान्यगुण—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल) मधुररस, मधुरविपाक, शीतल, बलकारक, स्निग्ध, मूत्रल और कफवर्धक हैं ॥९५॥

विरूक्षणो लेखनश्च वीर्योष्णः पित्तदूषणः ।

स्वाद्वम्ललवणस्तेषां गजः श्लेष्मानिलापहः ॥९६॥

गज (हाथी)—रूक्ष, लेखन, उष्णवीर्य, पित्तप्रकोपक, स्वादु, अम्ल, लवणरस, कफवायुनाशक हैं ॥९६॥

गवयस्य तु मांसं हि स्निग्धं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुरं चापि व्यवायस्य तु वर्धनम् ॥९७॥

गवय का मांस, स्निग्ध मधुररस, कासनाशक, मधुरविपाक और मैथुन शक्ति को बढ़ाता है ॥९७॥

स्निग्धोष्णमधुरो वृष्यो महिषस्तर्पणो गुरुः ।

निद्रापुंस्त्वबलस्तन्यवर्धनो मांसदार्ढ्यकृत् ॥९८॥

भैंस का मांस—स्निग्ध, उष्ण, मधुर, वृष्य (शुक्रल) तर्पण (तृप्तिकारक), गुरु, निद्रा, पुंस्त्व (पुरुषत्व), बल और दूध को बढ़ाता है, मांस को दृढ़ करता है ॥९८॥

रुरोर्मांसं समधुरं कषायानुरसं स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥९९॥

तथा चमरमांसं तु स्निग्धं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुरं चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥१००॥

सृमरस्य तु मांसं च कषायानुरसं स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥१०१॥

रुरु का मांस—मधुररस, कषाय अनुरस, वातपित्तशामक, गुरु, शुक्रवर्धक है । चमर का मांस स्निग्ध, मधुररस, कासनाशक, मधुरविपाक, वात-पित्तनाशक है । शुक्रवर्धक है ॥

स्वेदनं बृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरुः ।

श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्धनम् ॥१०२॥

वराह (सूअर) का मांस—स्वेदक, बृंहण, वृष्य, शीतल, तर्पण (तृप्तिकारक), गुरु, स्निग्ध, श्रम-वायुनाशक और बलवर्धक है ॥१०२॥

कफघ्नं खड्गिपिशितं कषायमनिलापहम् ।

पित्र्यं पवित्रमायुष्यं बद्धमूत्रं विरूक्षणम् ॥१०३॥

खड्ग (गैंडे) का मांस—कफनाशक, कषायरस, वायुनाशक, पितरों के लिये हितकारी, पवित्र, आयुवर्धक, मूत्र को रोकनेवाला और रूक्ष है ॥१०३॥

गोकर्णमांसं मधुरं स्निग्धं मृदु कफावहम् ।
विपाके मधुरं चापि रक्तपित्तविनाशनम् ॥१०४॥

गोकर्ण का मांस—मधुर, स्निग्ध मृदु, कफनाशक, मधुर-विपाक, रक्तपित्तनाशक है ॥१०४॥

हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुररकादम्बकारण्डवजीवञ्जीवकबकबलाकापुण्डरीकप्लवशरारीमुखनन्दीमुखमद्गूत्क्रोशकाचाक्षमल्लिकाक्षशुक्लाक्षपुष्करशायिकाकोनालकाम्बुकुक्कुटिकामेघरावश्वेतवारलप्रभृतयः प्लवाः संघातचारिणः॥

प्लव (तैरनेवाले) पक्षी—हंस, सारस, क्रौंच, चक्रवाक (चकवा), कुरर, कादम्ब (कलहंस), कारण्डव; जीवञ्जीव, बक, बलाका, पुण्डरीक, प्लव, शरारीमुख, नन्दीमुख, मद्गु (जल-कौवा), उत्क्रोश, काचाक्ष, मल्लिकाक्ष, शुक्लाक्ष, पुष्करशायिका, कोनालक, अम्बुकुक्कुटिका (जलकुक्कुटी), मेघराव (चातक) श्वेतवारल आदि तैरनेवाले पक्षी हैं, ये इकट्ठे रहते हैं ॥१०५॥

रक्तपित्तहराः शीताः स्निग्धा वृष्या मरुज्जिताः ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च मधुरा रसपाकयोः ॥१०६॥

इनके सामान्यगुण—रक्त-पित्तनाशक, शीतल, स्निग्ध, वृष्य (शुक्रवर्धक), वायुनाशक, मलमूत्र के प्रवर्त्तक, मधुररस मधुर विपाक हैं ॥१०६॥

गुरूष्णमधुरः स्निग्धः स्वरवर्णबलप्रदः ।
बृंहणः शुक्रलस्तेषां हंसो वातविकारकृत् ॥१०७॥

हंस के गुण, उष्णवीर्य, मधुररस, स्निग्ध, स्वरवर्ण-बल-प्रद बृंहण (देहवर्धक), शुक्रवर्धक, वायुविकारनाशक है ॥१०७॥

शङ्खशङ्खनखशुक्तिशम्बूकभल्लूकप्रभृतयः कोशस्थाः ॥

कोशस्थ (शङ्ख आदि में रहनेवाले)—शङ्ख, शङ्खनख, (क्षुद्रशङ्ख), शुक्ति (सीप), शम्बूक (आवर्त्तकोश), भल्लूक (आदि शम्बूक, वोडिक) कोशस्थ हैं ॥१०८॥

कूर्मकुम्भीरश्वेतकर्कटकृष्णकर्कटकशिशुमारप्रभृतयः पादिनः॥

पादी (पाँववाले)—कूर्म (कच्छुआ), कुम्भीर (घड़ियाल), श्वेत कर्कटक, कृष्ण कर्कटक (केंकडा), शिशुमार पाँववाले (गुहामच्छ) हैं ॥१०९॥

शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः ।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥

शङ्ख एवं कूर्मादि—मधुररस, मधुरविपाक, वायुनाशक, शीतवीर्य, स्निग्ध, पित्तरोग में हितकारी, वर्चस्य (वृष्य—कूर्मो वातहरो वृष्यो) और कफवर्धक है ॥११०॥

कृष्णकर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिलापहः ।
शुक्लः सन्धानकृत् सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा ॥१११॥

इनमें कृष्ण कर्कटक-उष्ण, वायुनाशक है। श्वेत कर्कटक-भग्न को जोड़नेवाला, मलमूत्र का विरेचक और वायु-पित्त-नाशक है ॥१११॥

मत्स्यास्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

मछलियाँ दो प्रकार की हैं। एक—नदी में रहनेवाली (नादेय) और दूसरी-समुद्र में रहनेवाली (सामुद्र) ॥११२॥

तत्र नादेयाः—रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिगोमत्स्यकृष्णमत्स्यवागुञ्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयः ॥११३॥

इनमें नादेय—रोहित, पाठीन, पाटला, राजीव, वर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य[1], वागुञ्जार, मुरल, सहस्रदंष्ट्र आदि नादेय (नदी में रहनेवाली) मछलियां हैं ॥११३॥

नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।
रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः ॥११४॥

नादेय मत्स्य के सामान्य गुण—मधुर, गुरु, वायुनाशक, रक्त-पित्त प्रकोपक, उष्ण, वृष्य, स्निग्ध और मल को थोड़ा बढ़ाती हैं ॥११४॥

कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः ।
रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११५॥
पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।

रोहितक (रोहू) मत्स्य—कषाय अनुरस, शष्पशैवाल को खानेवाली, वायुनाशक, पित्त को थोड़ा कुपित करती हैं। पाठीन मत्स्य-कफवर्धक, वृष्य, निद्राकर, मांसभक्षक (होने से पुष्टिकारक), अम्लपित्त रोग तथा कुष्ठरोग को उत्पन्न करती है ॥

मुरलो बृंहणो वृष्यः स्तन्यः श्लेष्मकरस्तथा ॥११६॥

मुरल—बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रल), दूध और कफ को बढ़ाती है ॥११६॥

सरस्तडागसंभूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।
महाह्रदेषु बलिनः, स्वल्पेऽम्भस्यबलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर एवं तालाबों में उत्पन्न मछलियाँ-स्निग्ध, मधुररस होती हैं। बड़े भारी जलाशयों में उत्पन्न मछलियाँ बलवान् तथा थोड़े पानीवाले जलाशयों में उत्पन्न मछलियाँ निर्बल होती हैं ॥

तिमितिमिङ्गिलकुलिशपाकमत्स्यनिरुलनन्दिवार (रु)-लकमकरगर्गरचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः ॥

समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ—तिमि, तिमिङ्गिल, कुलिश, पाकमत्स्य, निरालक, नन्दिवारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव आदि मछलियाँ समुद्र में रहती हैं ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धाः मधुरा नातिपित्तलाः ।
उष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥११९॥
बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।
समुद्रजेभ्यो नादेया बृंहणत्वाद् गुणोत्तराः ॥१२०॥

१ कृष्ण मत्स्य—
"कृष्णमत्स्यस्तु शकली बहुकण्टकसंयुतः ।
कषायवर्णो रक्ताक्षः कथितो मत्स्यवेदिभिः ॥"

तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चचौण्ट्यकौप्यौ गुणोत्तरौ ।
स्निग्धत्वात् स्वादुपाकत्वात्तयोर्वाप्या गुणाधिकाः ॥१२१॥

सामुद्रमत्स्य के सामान्य गुण—समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ-गुरु, स्निग्ध, मधुर, ईषत्पित्तप्रकोपक, उष्ण, वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), वर्चस्य (मलवर्धक) और कफवर्धक हैं।

समुद्र में रहनेवाली मछलियां मांसभक्षक होने के कारण खासकर बलवर्धक हैं। और नदियों में रहनेवाली मछलियां बृंहण (देहवर्धक) होने से समुद्रजन्य मछलियों से गुणों में श्रेष्ठ हैं। इन समुद्र एवं नदियों की मछलियों से चौण्ट्य और कूप की मछलियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे वायुनाशक हैं और वापी (बावड़ी) की मछलियाँ स्निग्ध एवं मधुर विपाक होने के कारण, चौण्ट्य और कूप की मछलियों से अधिक श्रेष्ठ हैं॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।
सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥

नदियों से उत्पन्न मछलियाँ—चूंकि पूंछ और मुख को सहायता से गति करती हैं, इसलिये मध्य भाग से गुरु होती हैं। सरोवर एवं तालाबों में उत्पन्न मछलियों का शिर, विशेष करके लघु होता है ॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात्तस्मादुत्सोदपानजाः ।
किंचिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरवस्तु ते ॥१२३॥

उत्स (झरना), उदपान (क्षुद्र जलाशय) में उत्पन्न मछलियाँ चूंकि अधिक दूरी तक नहीं फिरतीं (अल्प व्यायाम करती हैं) इसलिये शिरोदेश को छोड़कर, बहुत गुरु होती हैं॥

अधस्ताद् गुरवो ज्ञेया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।
उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

सरस (सरोवर) में उत्पन्न मछलियों का निचला भाग विशेष करके भारी होता है, क्योंकि ये मछलियाँ छाती के द्वारा गति करती हैं, इसलिये इनका पूर्व भाग लघु रहता है ॥१२४॥

इत्यानूपो महास्यन्दी मांसवर्ग उदीरितः ॥१२५॥

यह महाभिष्यन्दि[1] (दोष, धातु मलों का अतिशय क्लिन्नकरने वाला) आनूप, मांसवर्ग कह दिया ॥१२५॥

तत्र शुष्कपूतिव्याधिविषसर्पहतदिग्धविद्धजीर्णकृशबालानामसात्म्यचारिणां च मांसान्यदभयाणि, यस्माद्विगतव्यापन्नापहतपरिणताल्पासंपूर्णवीर्यत्वाद्दोषकराणि भवन्ति; एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति ॥१२६॥

शुष्क, पूति (दुर्गन्धयुक्त), व्याधिहत (रोगग्रस्त), विषहत, सर्पहत, दिग्ध (विषादि से लिप्त शस्त्र द्वारा), विद्ध (बींधा), जीर्ण (वृद्ध), कृश (दुर्बल), बालक, असात्म्य (अनुचित आहार खानेवाले), पशुओं का मांस अभक्ष्य है। क्योंकि—शुष्क होने से, रसहीन, व्यापन्न (दूषित), अपहृत, परिणत, अल्प, असम्पूर्णवीर्य, तथा दोषकारक होने से अभक्ष्य है। इन दोषों से रहित मांस खाना चाहिये ॥१२६॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं प्रवर्त्तयेत ।
विषव्याधिहतं मृत्युं बालं छर्दिं च कोपयेत् ॥१२७॥
कासश्वासहरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम् ।
क्लिन्नमुत्क्लेशजननं कृशं वातप्रकोपणम् ॥१२८॥

दूषित मांस के खाने में दोष—

शुष्क मांस—अरुचि, प्रतिश्याय, भारीपन करता है। विष एवं रोग से मरे पशु का मांस मृत्यु करता है। बालक पशु का मांस—वमन रोग करता है। वृद्ध पशु का मांस—कास, श्वास करता है। रोग से पीड़ित पशु का मांस—तीनों दोषों को कुपित करता है। क्लिन्न (पूति) मांस-उत्क्लेश (जी मचलाना) करता है। कृश पशु का मांस वायु को कुपित करता है ॥१२७,१२८॥

स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरेष्वल्पशरीराः, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः। एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः प्रधानतमाः॥१२९॥

लिङ्ग आदि का विचार—

चौपायों में स्त्रीलिंग श्रेष्ठ है, पक्षियों में पुंल्लिङ्ग श्रेष्ठ है। महाशरीर (भैंसा, गैंडा) वाले आनूप देश के प्राणियों में अल्प शरीरवाले (रुरु आदि) श्रेष्ठ हैं। अल्पशरीरवाले (लावा आदि) विष्किरों में महान् शरीरवाले पक्षी उत्तम हैं। समान जातीयों में महान् शरीरवालों से कृशशरीरवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं ॥१२९॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः। तद्यथा रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषूत्तरोत्तरा गुरुतरः, तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिरःपादकरकटीपृष्ठचर्मकालेयकयकृदन्त्राणि॥

स्थान के विचार से मांस का गुरु-लाघव कहते हैं, यथा-रक्त से आरम्भ करके शुक्र तक धातुओं में उत्तरोत्तर गुरुत्व आता जाता है। रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र गुरु है। इसी प्रकार—सक्थि (ऊरु), स्कन्ध (कन्धे), क्रोड (उदर), शिर, पांव (पिछले), कर (अगले पांव), कटि, पीठ, चर्म (त्वचा), कालयेक (वृक्क), यकृत् (जिगर) और आंत ये उत्तरोत्तर गुरु हैं ॥१३०॥

शिरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः ।
गुरु पूर्वं विजानीयाद्धातवस्तु यथोत्तरम् ॥१३१॥

शिर, स्कन्ध, कटि, पीठ, टांगों में अपनी अपेक्षा से पूर्व को गुरु जानना चाहिये। रक्तादि धातुओं में अपनी अपेक्षा से पिछले को गुरु समझना चाहिये ॥१३१॥

---

[1] अभिष्यन्दि—
"हृदयस्थान्ननिर्यासवाहिस्रोतोमुखानि यत ।
भुक्तं लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते ॥"

सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः ।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम् ॥१३२॥
उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् ।
पक्षोत्क्षेपात्समो दृष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् ॥१३३॥

सब प्राणियों का मध्य भाग गुरु होता है, पुरुषों का पूर्व भाग गुरु होता है, स्त्रियों का अधोभाग गुरु होता है। पक्षियों की छाती और ग्रीवा विशेषकर गुरु होती हैं, पक्षियों का मध्य-भाग न तो लघु, न गुरु, समान होता है, क्योंकि पंखों के चालन के कारण समान रहता है ॥१३२,१३३॥

अतीव रूक्षं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ।
बृंहणं मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् ॥१३४॥
मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं धन्वचारिणाम् ।

आहार दृष्टि से गुरु-लाघव—

फल खानेवाले पक्षियों का मांस अति रूक्ष होता है। मांस खानेवाले पक्षियों का मांस अतिशय देहवर्धक होता है। मछलियों को खानेवाले (बगुले आदि) पक्षियों का मांस पित्त-कारक होता है, धन्व (जांगल देश) चारी पक्षियों का मांस वातनाशक होता है ॥१३४॥

जलजानूपजा ग्राम्याः क्रव्यादैकशफास्तथा ॥१३५॥
प्रसहा बिलवासाश्च ये च जंघालसंज्ञिताः ।
प्रतुदा विष्किराश्चैव लघवः स्युर्यथोत्तरम् ।
अल्पाभिष्यन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥१३६॥

वर्गों का गुरु-लाघव—जलज (जल में रहनेवाले) आनूपज (आनूप—जलबहुल प्रदेश में), ग्राम्य (गौ आदि), क्रव्याद (मांस खानेवाले), एकशफ (घोड़े आदि), प्रसह (काक आदि), बिलवासी (सिंह आदि) और जंघाल (मृग आदि), प्रतुद (कपोत-पारावत आदि), विष्किर (बटेर आदि) ये उत्त-रोत्तर लघु एवं अल्प अभिष्यन्दि होते हैं। (आनूप से जलज गुरु और महा अभिष्यन्दि हैं) ॥१३५,१३६॥

प्रमाणाधिकास्तु स्वजातावल्पसारा गुरवश्च। सर्व-प्राणिनां सर्वशरीरेभ्यः प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्ति-नस्तानाददीत, प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लि-ष्टमुपादेयं मांसमिति ॥१३७॥

अपनी ही स्वजाति में जो पशु शरीर में अधिक होते हैं वे अल्पसार (तुच्छ बल) होते हैं, तथा गुरु होते हैं। सब प्राणियों में, सम्पूर्ण शरीर के अन्दर यकृत् प्रदेश में रहने वाली सिरा स्नायु-मांस अधिक प्रधान (श्रेष्ठ) होते हैं, इनका ग्रहण करना चाहिये। (पित्ताशय-(Gale-Bladder) एवं पित्तवाहक प्रणाली को छोड़ देना चाहिये यह वृद्धवैद्यप्रथा है)। यदि प्रधान (श्रेष्ठ) न मिले तो मध्यम आयुवाले, तरुण तुरन्त मारे पशु का, अक्लिष्ट (मन के अनुकूल) मांस का ग्रहण करना चाहिये ॥१३७॥

भवति चात्र—

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया ।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते॥१३८॥

इति मांसवर्गः ।

कहा भी है—

मांस के विषय में निम्न बातों का विचार करना चाहिये—

चर (किस स्थान में विचरता है), शरीरावयव (शरीर के भाग), स्वभाव, धातु (रस रक्तादि), क्रिया (चेष्टा), लिङ्ग, प्रमाण और संस्कार (कल्पना) का विचार करना चाहिये ॥

चर—किस स्थान पर विचरता है, धन्व (जांगल देश) में, या आनूप (जलबहुल में), जल में विचरता है, किस प्रकार का यह आहार करता है, किस प्रकार का इसका विहार है। इत्यादि बातों को देखना चाहिये। शरीरावयव—शरीर के भाग पक्षियों की उर और ग्रीवा भारी होती है। स्वभाव—स्वभाव में, बटेर लघु होते हैं। धातु—रक्त से मास धातु गुरु है। क्रिया—छाती के सहारे चलने से इनका पूर्व भाग लघु होता है। लिंग—चौपायों में स्त्री लघु है, पक्षियों में पुरुष लघु है। प्रमाण—महाशरीरों में अल्प शरीर लघु हैं। संस्कार—चावलों से लाजा लघु हैं। मात्रा—गुरु पदार्थों को आधे पेट खाना, लघु पदार्थों को पेट भरकर खाना।

'च' से अग्निबल की अपेक्षा से भी विचार करना चाहिये। इन सब बातों का विचार करके गुरु लघु का निश्चय करना चाहिये ॥१३८॥

अथ फलवर्गः ।

अत ऊर्ध्वं फलान्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—दाडिमाम-लकबदरकोलकर्कन्धुसौवीरसिञ्चितिकाफलकपित्थमातुलु-ङ्गाम्राम्रातककरमर्दप्रियालनारङ्गजम्बीरलकुचभव्यपाराव-तवेत्रफलप्राचीनामलकतिन्तिडीकनीपकोशाम्राम्लीकाप्रभृ-तीनि ॥१३९॥

इसके आगे फलों को कहते हैं—

यथा—दाडिम (अनार), आमलक (आंवला), बदर (बड़े बेर), कोल (झाड़ी के बेर), कर्कन्धु (छोटे बेर), सौवीर (बेर का भेद), सिञ्चितिका (पाठान्तर में शिम्बितिका—बेर का भेद), कपित्थ (कैथ), मातुलुङ्ग (बिजौरा), करमर्द (करौंदा), पियाल, नारंग(नारंगी), जम्बीर, लकुच(बड़हल), भव्य(कामरंग-कमरख),

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'आत्तपक्षयोः' यह पाठ 'आत्मपक्षयोः' के स्थान पर दिया है। इसका अर्थ स्त्री एवं पुंल्लिङ्ग भेद से किया है।

पारावत, वेत्रफल, प्राचीन आमलक (पानीयामलक), तिन्तिड़ीक, नीप (कदम्ब), कोशाम्र (कोसिम्ब), आम्लीका (इमली) आदि फल हैं ॥१३९॥

अम्लानि रसतः पाके गुरूण्युष्णानि वीर्यतः।
पित्तलान्यनिलघ्नानि कफोत्क्लेशकराणि च ॥ १४० ॥

सामान्य गुण—फलों के रस, अम्लरस, गुरुविपाक (मधुर), उष्णवीर्य, पित्तकारक, वायुनाश और कफ को कुपित करते हैं।

कषायानुरसं तेषां दाड़िमं नातिपित्तलम्।
दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम् ॥ १४१ ॥
द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च।
त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥ १४२ ॥

दाड़िम (अनार)—कषाय—अनुरस, थोड़ा पित्तकारक, अग्निदीपक, रुचिकर, हृदय के लिये प्रिय, मल को रोकनेवाला है। अनार दो प्रकार का है—मीठा और खट्टा। इनमें मधुर—त्रिदोषनाशक और अम्ल (खट्टा) अनार वात-कफनाशक है ॥

अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम्।
चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम् ॥ १४३ ॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१४४॥

आमलकी फल—अम्ल, थोड़ा मधुर, तिक्त—कषाय- कटु रस, आँखों के लिये हितकारी, त्रिदोषनाशक, वृष्य, शुक्रवर्धक है। अम्लरस होने से वायु का, मधुर एवं शीतवीर्य होने से पित्त का, रूक्ष—कषाय होने से कफ का नाश करता है, इसलिये दूसरे सब फलों से अधिक गुणकारी है ॥१४३,१४४॥

कर्कन्धुकोलबदरमामं पित्तकफावहम्।
पक्वं पित्तानलहरं स्निग्धं समधुरं सरम् ॥ १४५॥
पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु।

कर्कन्धु, कोल, बदर—ये कच्ची अवस्था में, पित्त एवं कफवर्धक हैं। पकने पर पित्त—वायुनाशक, स्निग्ध, मधुर और सर (विरेचक) हैं। पुराने बेर—प्यासशामक, थकान को मिटाते हैं, अग्निदीपक और लघु हैं ॥१४५॥

सौवीरं बदरं स्निग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥१४६॥
कषायं स्वादु संग्राहि शीतं सिञ्चितिकाफलम्।

सौवीर बेर—स्निग्ध, मधुर, वातपित्तनाशक है। सिञ्चितिका (बेर का ही भेद) फल—कषाय रस, मधुरविपाक, संग्राही और शीतल है ॥१४६॥

आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम् ॥ १४७॥
कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु।
श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥ १४८ ॥

कपित्थ (कैथ)—कच्चा कैथ—स्वर के लिये हानिकारक, कफनाशक, संग्राहि, वातनाशक है। पकने पर—कफ—वायुनाशक, मधुर, अम्लरस, गुरु हैं; श्वास, कास, अरुचिनाशक, तृष्णानाशक और गले का (स्वर का) शोधन करता है ॥

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ॥ १४९ ॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्।
मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥ १५० ॥
दीपनं लघु संग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केसरम्।
शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥ १५१ ॥

मातुलुङ्ग (बिजौरा)—लघु, अम्ल, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय है। इसकी छाल—तिक्त, दुर्जर एवं वायु, कृमि और कफनाशक है। इसका मांस (गुद्दा)—मधुर, शीतल, गुरु, स्निग्ध, वायु पित्तनाशक है। मेध्य (मेधा के लिये हितकारी), शूल, वायु, छर्दि, कफ और अरुचि का नाशक है। इसका केसर (तन्तुजाल)—अग्निदीपक, लघु, संग्राही, गुल्म-अर्शनाशक, शूल, अजीर्ण विबन्ध (मलावरोध), अग्निमान्द्य और कफवायु रोगों में हितकारी है ॥१४९–१५१॥

अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते।
पित्तानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेशरम् ॥ १५२ ॥

बिजौरे का रस—अरुचि में खासकर उपयोगी है। बाल (छोटा बिजौरा)—पित्त एवं वायुकारक है। बद्धकेसर (जिस बिजौरे में तन्तु बद्ध रुका है) पित्तकारक है ॥१५२॥

हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम्।
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु ॥ १५३ ॥
पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम्।

पक्का आम—हृदय के लिये प्रिय, वर्णकारक, रुचिकर, रक्तमांस-बलवर्धक, कषाय-अनुरस, स्वाददार, वातहर, बृंहण और गुरु है तथा पित्तशामक और शुक्रवर्धक है ॥१५३॥

बृंहणं मधुरं बल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥ १५४ ॥
आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्धनम्।

आम्रातक फल—देहवर्धक, मधुर, बलकारक, गुरु, विष्टम्भ (वायु, ताद, शूल होना, मल का न आना) उत्पन्नकर जीर्ण होता है। वृष्य स्नेहयुक्त और कफवर्धक है ॥१५४॥

त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥ १५५ ॥

लकुच (बड़हल)—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है, विष्टम्भ (गुड़गुड़ाहट) करता है, और शुक्र को नष्ट करता है ॥

अम्लं तृषापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम्।

करमर्द (करौंदा)—अम्लरस, तृषानाशक, रुचिकर, पित्तकारक है।

वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥ १५६ ॥

पियाल (चिरौंजी)-वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), गुरु और शीतल है ॥१५६॥

हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् ।
पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥ १५७ ॥

भव्य—हृदय के लिये प्रिय, स्वादु, कषाय-अम्ल, और मुख का शोधक है। पित्त-कफनाशक, संग्राहि, गुरु, विष्टम्भी, शीतल है ॥१५७॥

पारावतं सुमधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ।

पारावत—मधुर, रुचिकारक, अत्यग्नि, एवं वायु का नाश करता है।

गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं यथा ॥ १५८ ॥

नीप (कदम्ब)—गर (संयोगजन्य विष)—दोषनाशक है, प्राचीन आमलक (पानीय आँवला) भी गरदोषनाशक है।

वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ।
ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं संपक्वं कफवातनुत् ॥ १५९ ॥

कच्ची तिन्तड़ी (कच्ची इमली)—वातनाशक, पित्त,कफकारक है। पक्की इमली—संग्राही, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, रुचिकारक, कफ-वातनाशक है ॥१५९॥

तस्मादल्पान्तरगुणं कोशाम्रफलमुच्यते ।

कोशाम्र (कोशाम्री) फल—के गुण—इमली से कुछ कम गुणवाले हैं।

अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद्भेदि तु केवलम् ॥१६०॥

पक्की अम्लिका (इमली) के गुण—पक्के तिन्तड़ीफल के समान ही हैं, किन्तु यह विरेचक हैं ॥१६०॥

अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।
वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥ १६१ ॥

नारङ्ग (नारङ्गी)—अम्ल, मधुर, हृदय के लिये प्रिय, विशद, भोजनमें रुचिकर, वातनाशक, दुर्जर, गुरु (चिरपाकी) होता है ॥१६१॥

तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥ १६२ ॥

जम्बीर—तृष्णा, शूल-कफ की वृद्धि, वमन, श्वासनाशक, वायु कफ एवं विबन्धनाशक, गुरु, पित्तकारक है। ऐरावत दन्तशठ (गुदड़िया निम्बु)—रक्त पित्तकारक है ॥१६२॥

क्षीरिवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलतिन्दुकबकुलधन्वनाश्मन्तकाश्वकर्णफल्गुपरूषकगाङ्गेरुकीपुष्करवर्त्तिबिल्वबिम्बीप्रभृतीनि ॥ १६३ ॥

कषायरस-बहुल फल—

क्षीरिवृक्षफल (बड़, पीपल, पिलखन, गूलर, आदि), जाम्बव (जामुन), राजादन (क्षीरिणी), तोदन (राजप्रिय), शीतफल (उदुम्बर), तिन्दुक, बकुल (मौलसरी), धन्वन (धामन), अश्मन्तक (आसन्त अथवा कचनारभेद), अश्वकर्ण (शाल), परुष (फालसा) फल्गु (अञ्जीर), गांगेरुकी (नागबला), पुष्करवर्त्ति, बिल्व (बेलगिरी), बिम्बी (कंदूरी) आदि हैं ॥१६३॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।
संग्राहकाणि रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥ १६४ ॥

इनके सामान्य गुण—ये फल शीतवीर्य, कफ-पित्तनाशक हैं। संग्राही, रूक्ष और कषाय एवं मधुररस हैं ॥१६४॥

क्षीरिवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
कषायं मधुरं साम्लं नातिमारुतकोपनम् ॥ १६५ ॥

क्षीरिवृक्ष फलों के गुण—गुरु विष्टम्भि, शीतल, कषाय, मधुर, अम्लरस प्राय, वायु को कुपित करते हैं ॥

अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।

जामुन का फल—अत्यन्त वातप्रकोपक, संग्राही, कफ-पित्तनाशक है ॥

स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥ १६६ ॥

राजादन फल—स्निग्ध, स्वादु-कषाय रस और गुरु है ॥

कषायं मधुरं रूक्षं तोदनं कफवातजित् ।
अम्लोष्णं लघु संग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥

तोदन फल—कषाय, मधुर, रूक्ष, कफ-वातनाशक है। अम्ल, उष्ण, लघु, ग्राही, स्निग्ध, पित्त एवं अग्निवर्धक है ॥

आमं कषायं संग्राहि तिन्दुकं वातकोपनम् ।
विपाके गुरु संपक्वं मधुरं कफपित्तजित् ॥ १६८ ॥

तिन्दुक फल—आम, कषायरस, संग्राही, वातकोपक है। भली प्रकार से पका फल, मधुरविपाक, मधुररस, कफ-पित्तनाशक है ॥१६८॥

मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि बाकुलम् ।
स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥ १६९ ॥

बकुल (मौलसरी)—मधुर, कषाय, स्निग्ध, संग्राही, दान्तों को स्थिर (दृढ करनेवाला) एवं स्वच्छ करता है ॥

सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।
तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यादश्मन्तकफलानि च ॥ १७० ॥

धान्वन (धामण) फल—कषायरस, शीत, स्वादु, कफ-वायुनाशक है। गंगेरन और अश्मन्तक के फल में भी ये ही गुण हैं ॥१७०॥

विष्टम्भि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पणं गुरु ।

फल्गु (काकादुम्बरिका अञ्जीर) का फल—विष्टम्भी, मधुर, स्निग्ध, तृप्तिकारक एवं गुरु है।

अत्यम्लमीषन्मधुरं कषायानुरसं लघु ॥ १७१ ॥
वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम् ।

परूष (कच्चा फालसा)—अत्यन्त खट्टा, थोड़ा मीठा, कषाय अनुरस, लघु, वातनाशक, पित्तकारक है ॥१७१॥

तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम् ॥ १७२ ॥

विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम् ।

पक्का फालसा—मधुररस, वायु-पित्तनाशक, विपाक में मधुर, शीत, रक्तपित्त को स्वच्छ (शान्त) करता है ।

पौष्करं स्वादु विष्टम्भि बल्यं कफकरं फलम् ॥१७३॥

पौष्कर (कमल)—मधुर, विष्टम्भी, बलकारक, कफवर्धक और गुरु है ॥१७३॥

कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम् ।
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ॥१७४॥
विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गुरु ।
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥१७५॥

बेल (कच्चा)—कफ वायुनाशक, तीक्ष्ण, स्निग्ध, संग्राही, अग्निदीपक, कटु, तिक्त, कषायरस, उष्ण होता है । यही बेल पकने पर मधुर-अनुरस, गुरु, विदाही, विष्टम्भकारक, दोषप्रकोपक एवं दुर्गन्धित वायु[1] को उत्पन्न करता है ॥१७४,१७५॥

बिम्बीफलं साश्वकर्णं स्तन्यकृत् कफपित्तजित् ।
तृड्दाहज्वरपित्तासृक्कासश्वासक्षयापहम् ॥१७६॥

बिम्बीफल—(कंदूरी)— अश्वकर्णफल-दुग्धवर्धक, कफ-पित्त नाशक, तृषा, दाह, ज्वर, पित्त, रक्त, कास, क्षय रोग को नष्ट करते हैं ॥१७६॥

तालनालिकेरपनसमोचप्रभृतीनि ॥१७७॥

मधुर फल कहते हैं—

ताल (ताड़), नारिकेल (नारियल), पनस (कटहल) और मोच (केला) आदि मधुर फल हैं ॥१७७॥

स्वादुपाकरसान्याहुर्वातपित्तहराणि च ।
बलप्रदानि स्निग्धानि बृंहणानि हिमानि च ॥१७८॥

इनके सामान्य गुण—मधुररस, मधुरविपाक, वात-पित्त-नाशक, बलदायक, स्निग्ध, देहवर्धक और शीतल हैं ॥१७८॥

फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरु पित्तजित् ।
तद्बीजं स्वादुपाकं तु मूत्रलं वातपित्तजित् ॥१७९॥

ताल का फल—मधुररस, गुरु, पित्तनाशक है । ताड़ का बीज, मधुरविपाक, मूत्रल, वात-पित्त नाशक है ॥१७९॥

नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम् ।
बलमांसप्रदं हृद्यं बृहणं बस्तिशोधनम् ॥१८०॥

नारियल का फल—गुरु, स्निग्ध, पित्तनाशक, मधुर, शीतल, बलप्रद, मांसप्रद हृदय के लिये प्रिय, बृंहण (देहवर्धक) और बस्तिशोधक (मूत्रल) है ॥१८०॥

पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु ।

पनस (कटहल)—कषायरस (थोड़ा), स्निग्ध, मधुररस और गुरु है ।

मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् ॥१८१॥
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥

मोच (केला)—मधुररस, कषाय, थोड़ा शीतल, रक्त-पित्त-नाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), रुचिकर कफकारक और गुरु है ॥

द्राक्षाकाश्मर्यमधूकपुष्पखर्जूरप्रभृतीनि ॥१८२॥

द्राक्षा (किसमिस), काश्मरी (गम्भीर), खर्जूर (खजूर, पिण्डखजूर) और मधुक-पुष्प (महुवे के फूल) आदि फल हैं ॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च ।

सामान्य गुण—ये रक्त-पित्तनाशक, गुरु एवं मधुर-रस, मधुर विपाक हैं ।

तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥१८३॥
रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा ।

द्राक्षा फल-सर (विरेचक), स्वर्य (गले के लिये हितकारी), मधुर, स्निग्ध, शीतल है । रक्त-पित्त, ज्वर, श्वास, तृषा, दाह, क्षय नाशक है ॥१८३॥

हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम् ॥१८४॥
केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ।

काश्मरी फल—हृदय के लिये प्रिय, मूत्रावरोधनाशक, पित्त-रक्त-वायु को नष्ट करता है । केशों के लिये हितकारी रसायन, मेध्य (मेधा के लिये हितकारी है) ॥१८४॥

क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु ॥१८५॥
रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत् ।

खजूर—क्षत-क्षयनाशक, हृदय के लिये प्रिय, शीतल, तृप्तिकारक, गुरु, मधुररस, मधुरविपाक और रक्त-पित्तनाशक है ॥

बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु ।
वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥१८६॥

महुवे का फूल—बृंहणीय (देहवर्धक), हृदय के लिये अप्रिय गुरु है । इसका फल वात-पित्तशामक है ॥१८६॥

वाताभाक्षोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचमोरुमाणप्रभृतीनि ॥

बाताम (बदाम), अक्षोड़ (अखरोट), अभिषुक (अंगूर), निचुल, पिचु, निकोचम (पिस्ता), उरुमाण (खुरमन्ति), लवली आदि फल हैं ॥१८७॥

पित्तश्लेष्महराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च ।
बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च ॥१८८॥

इनके सामान्य गुण—कफ-पित्तनाशक, स्निग्ध, उष्ण, गुरु, बृंहण (देहवर्धक), वायुनाशक, बलकारक और मधुररस, मधुरविपाक हैं ॥१८८॥

कषायं कफपित्तघ्नं किंचित्तिक्तं रुचिप्रदम् ।
हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥१८९॥

---

१ 'पूतिमारुतं' का अर्थ डल्हणाचार्य ने सुगन्धित वायु किया है । पकने पर सुगन्धित गन्धवाला होता है । तथा—
"पूतिः खट्वाशः वनजा मधुकर्कटी
पूतिपुष्पेति—सुगन्धितपुष्पेत्यर्थः ॥"

लवलीफल[1] (हरफा रेवड़ी)—कषाय, कफ-पित्त-नाशक, कुछ तिक्त, रुचिकारक, हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, विशद (सूक्ष्म खोतों में पहुँचनेवाला) है ॥१८९॥

वसिरं शीतपाक्यं च सारुष्करनिबन्धनम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं शीतलं वातकोपनम् ॥१९०॥
विपाने मधुरं चापि रक्तपित्तप्रसादनम् ।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥१९१॥

वसिर (सूर्यावर्त्तफल) शीतपाक्य (वल्फल) और अरुष्कनिबन्धन भिलावे का वृन्त)—ये विष्टम्भ (पेट में गुड़गुड़ाहट कारक), दुर्जर (पकने में कठिन), रूक्ष, शीतल, वायुप्रकोपक, मधुरविपाक, रक्त-पित्तनाशक हैं ॥१९०,१९१॥

शीतं कषायं मधुरं टङ्कं मारुतकृद् गुरु ।

टंक (नीलकपित्थफल)—शीत, कषाय, मधुरविपाक, वायुकारक और गुरु है ।

स्निग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातश्लेष्मघ्नमैङ्गुदम् ॥१९२॥

ऐंगुद (इंगुदी फल)—स्निग्ध, उष्ण, तिक्त, मधुर, वात-कफ नाशक है ॥१९२॥

शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम् ।

शमी का फल—गुरु, स्वादु, रूक्ष, उष्ण, केशनाशक है ।

गुरु श्लेष्मातकफलं कफकृन्मधुरं हिमम् ॥१९३॥

श्लेष्मातक (लिसोड़े का) फल—गुरु, कफकारक, मधुर, और शीतल है ॥१९३॥

करीराक्षिकपालूनि तृणशून्यफलानि च ।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च ॥१९४॥

करीर (करील), अक्षक (तानशफल या रुद्राक्ष), पीलु, तृणशून्य (मल्लिका) फलों के सामान्य गुण—मधुर, तिक्त, कटु उष्णवीर्य, कफ-वातनाशक है ॥१९४॥

तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च ।
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित् ॥१९५॥

पीलु के गुण—तिक्त, पित्तकारक, सर (विरेचक), कटुविपाक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कटुरस, स्नेहयुक्त, कफ एवं वायु का नाशक है ॥

आरुष्करं तौवरकं कषायं कटुपाकि च ।
उष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनम् ॥१९६॥

आरुष्कर (भिलावा) और तौवरक (प्रमेह चिकित्सा में कहा तुवरक फल)—कषाय, कटुविपाक, उष्ण, कृमि, ज्वर, आनाह, प्रमेह, उदावर्त्त नाशक है ॥१९६॥

कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकि तथैव च ।
करञ्जकिंशुकारिष्टफलं जन्तुप्रमेहनुत् ।
अङ्कोलस्य फलं विस्रं गुरु श्लेष्महरं हिमम् ॥१९७॥

करञ्ज, किंशुक (ढाक), अरिष्टफल (निमोली)—कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, अर्शरोग नाशक, कटुविपाक, कटुरस, कृमि (अन्तः- और बाह्य दोनों) और प्रमेह के नाशक हैं ॥१९७॥

रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।
तिक्तमीषद्विषहितम् विडङ्गं कृमिनाशनम् ॥१९८॥

विडङ्ग (वायविडङ्ग)—रूक्ष, उष्णवीर्य कटुविपाक, लघु, वायु-कफनाशक, ईषत् तिक्त विषरोग में हितकारी और कृमिनाशक है ॥१९८॥

व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।
कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम् ॥१९९॥

अभया (हरड़) का फल—व्रण के लिये हितकारी, उष्ण, सर (विरेचक), मेध्य (मेधा के लिये हितकारी), दोष (वातादि) नाशक, शोफ, कुष्ठनाशक, कषाय, अग्निदीपक, अम्ल, आंखों के लिये हितकारी है ॥१९९॥

भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यकृमिनाशनम् ।
चक्षुष्यं स्वादु पाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित् ॥२००॥

अक्ष (बहेड़ा) फल—भेदक (विरेचन), लघु उष्ण, स्वरभंग के लिये हितकर, कृमिनाशक, आँखों के लिए हितकारी, मधुरविपाक, कषाय, कफ-पित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रूक्षं वक्त्रक्लेदमलापहम् ।
कषायमीषन्मधुरं किंचित् पूगफलं सरम् ॥२०१॥

पूग (सुपारी) फल—कफ-पित्तनाशक, रूक्ष, मुख की आर्द्रता और मल को दूर करता है । कषाय, थोड़ा मधुर और कुछ विरेचक है ॥२०१॥

जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।
कक्को (ङ्का) लकं लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम् ॥२०२॥
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम् ।

जाती कोश (जायफल), कपूर, जाती (जावित्री), कटुक (लघु कक्कोल, कवाबचीनी या लताकस्तूर), कक्कोल (शीतलचीनी) और लंवग (लौंग)—तिक्त, कटु, कफ नाशक, लघु, तृष्णानाशक, मुख की आर्द्रता और दुर्गन्ध का नाश करते हैं ॥

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥२०३॥
तृष्णायां मुखशोषे च वैरस्ये चापि पूजितः ।
लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधनी ॥२०४॥

कपूर—तिक्त, सुगन्धि, शीतल, लघु, लेखन (कफनाशक) है, तृष्णा और मुख की शुष्कता एवं मुख की विरसता में उत्तम है । लताकस्तूरी के भी गुण कपूर के समान हैं, शीतल है, बस्ति (मूत्राशय) का शोधक (विबन्धनाशक) है ॥२०३,२०४॥

फलों की मज्जा—

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।

पियाली की मज्जा (गिरि)—मधुर, वृष्य (शुक्रवर्धक) पित्त-वायु-नाशक है ।

---

१ लवलीफल—
"घनस्निग्धा हरितांशुप्रपुन्नाटसदृक्छदा ।
सुगन्धिमूला लवली पाण्डुकोमलवल्कला ॥"

वैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः ॥२०५॥

विभीतक मज्जा—मदकर (मदकारक), कफ-वायुनाशक है॥

कषायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः।

तृष्णाच्छर्द्यनिलघ्नश्च तद्वदामलकस्य च ॥२०६॥

(कोल)—बेर की मज्जा—कषाय-मधुर, पित्तनाशक है। प्यास, वमन और वायुनाशक है। आँवले की मज्जा में भी बेर के समान गुण हैं ॥२०६॥

बीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाम्रसंभवः।

स्वादुपाकोऽग्निबलदः स्निग्धः पित्तानिलापहः॥२०७॥

बीजपूरक (बिजौरा), शम्याक (किरमालक-अमलतास), कोशाम्र—इनकी मज्जा—मधुर विपाक, अग्निवर्धक, बलप्रद, स्निग्ध, पित्त एवं वायुनाशक है ॥२०७॥

यस्य यस्य कफस्येह वीर्यं भवति यादृशम्।

तस्य तस्यैव वीयण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२०८॥

जिस २ फल का जैसा वीर्य (गुण-कर्म) होता है, मज्जा को भी उसी उसी गुण-कर्मोंवाली समझना चाहिये ॥२०८॥

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्।

बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम्।

ग्राह्युष्णं दीपनं तद्धि कषायकटुतिक्तकम् ॥२०९॥

जो फल पका होता है, वह गुणों में श्रेष्ठ होता है, परन्तु बिल्व (बेलगिरी) में इनका अपवाद है, बेल का कच्चा फल गुणों में श्रेष्ठ है। बिल्वफल संग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कषाय, कटुतिक्तरस है ॥२०९॥

व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम्।

वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥

इति फलवर्गः।

त्याज्य फल—

व्याधित (रोगयुक्त), कृमिजुष्ट (कृमियों से व्याप्त), पाकातीत (बहुत पका हुआ), अकालज (बिना ऋतु के उत्पन्न हुआ), और अपर्यागत (अपुष्ट) फल त्याज्य है ॥२१०॥

इति फलवर्गः।

अथ शाकवर्गः।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः।—

तत्र पुष्पफलालाबुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

इसके आगे शाकों[1] को कहते हैं—

इनमें पुष्पफल (कूष्माण्ड), अलाबु (तुम्बी), कालिन्द (मतीरा-तरबूज) आदि शाक हैं ॥२११॥

पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके सामान्य गुण—पित्तनाशक वायुकारक कफ को कम करते हैं, मूत्र-मल को प्रवृत्त करते हैं, और मधुररस हैं ॥२१२॥

पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं मध्यं कफावहम्।

शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥२१३॥

बाल (कच्चा) कूष्माण्ड—पित्तनाशक, मध्य कूष्मांड कफनाशक, शुक्ल (पूर्ण पका श्वेत), लघु; उष्ण, क्षारयुक्त, अग्निदीपक, बस्तिशोधक (मूत्रल-मूत्र-विरेचक) है ॥२१३॥

सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्।

दृष्टिशुक्रक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

कालिन्द—त्रिदोषनाशक, हृदय के लिये प्रिय, चेतोविकार (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा आदि) के रोगियों के लिये पथ्य है। दृष्टि एवं शुक्रनाशक और कफ-वायुकारक है ॥२१४॥

अलाबुर्भिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला।

तिक्तालाबुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

अलाबु (मीठी तुम्बी) भिन्नविट्का (मलप्रवर्त्तक द्रवकारक) रूक्ष, गुरु अतिशीतल है। कडुवी अलाबु—हृदय के लिये अप्रिय, वामक, वायुपित्तनाशक है ॥२१५॥

त्रपुसैर्वारुकर्कारुकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥

स्वादु तिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

फलशाक—त्रपुस (खीरा), एर्वारु (ककड़ी), कर्कारु (खीरे के भेद), शीर्णवृन्त (ककड़ी का भेदविशेष, चिर्भट या कचरी) आदि हैं। इनके सामान्यगुण—स्वादु, तिक्तरस, कफ-वायुकारक, गुरु, विष्टम्भि, शीतल, मधुरविपाक, कफ-वातकारक, मलमूत्र के प्रवर्त्तक, रक्त-पित्तनाशक हैं[1]। (पाठान्तर में क्षारयुक्त और मधुर हैं) ॥२१६,२१७॥

बालं सनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम्।

तत्पाण्डु कफकृज्जीर्णमम्लं वातकफापहम् ॥२१८॥

त्रपुस (खीरा)—बाल्यावस्था में जब नीला-सा होता है, तब पित्तनाशक है। पीला होने पर—कफकारक, बहुत पकने पर—अम्लरस, वायु कफनाशक है ॥२१८॥

---

१ शाकों के भेद—

"मूल-पत्र-करीराग्र-फल-काण्डाधिरूढकम्।

त्वक्पुष्पं कवकञ्चैव शाकं दशविधं स्मृतम् ॥"

मूल (मूली आदि), पत्र (पटोलादि), करीर (वंशादि), अग्र (बेंत आदि), फल, काण्ड (कूष्मांड आदि), अधिरूढ़ (लता), त्वक् (मातुलुङ्ग आदि), पुष्प (कचनार आदि), कवक (छातिया) आदि।

१ कविराज हाराणचन्द्र की टीका में—'स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च' यह पाठ नहीं है। 'रक्तपित्तहराणि' के स्थान में 'सक्षारमधुराणि च' यह पाठ है।

एर्वारुकं सकर्कारु संपक्वं कफवातकृत् ।
सक्षारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

एर्वारु और कर्कारु—भली प्रकार से पकने पर—कफ एवं वायुकारक हैं। क्षारयुक्त, मधुर, रुचिकारक, अग्निदीपक और थोड़ा पित्त को करती है ॥२१९॥

सक्षारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।
भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्ठीलनुल्लघु ॥२२०॥

शीर्णवृन्त (चिर्भट)—थोड़ा क्षारयुक्त, मधुर, कफनाशक, भेदक (विरेचक), अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, आनाह (आध्मान), अष्ठीला (वाताष्ठीला) रोगनाशक एवं लघु है॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुरुजम्बीर-सुमुखसुरसार्जकभूस्तृणसुगन्धककासमर्दककालमालकुठेर-कक्षवकखरपुष्पशिग्रुमधुरशिग्रुफणिज्झकसर्षपराजिकाकुला-हलावगुत्थगण्डीरहिलपर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनक-लायपलाण्डुकलायप्रभृतीनि ॥२२१॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गबेर (आर्द्रक), हींग, जीरा, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), जम्बीरक (निम्बु), सुमुख (वनबर्बरी), सुरसा (तुलसी), अर्जक (श्वेत कुठेरक), भूस्तृण (रोहिषतृण), सुगन्धक (गन्धतृण), कासमर्दक (कालकासन्दी), कालमाल (कृष्ण तुलसी), कुठेरक (तुलसीभेद), क्षवक (छिंकणी), खरपुष्प (मरूवक), शिग्रु (कडुवा सहजन), मधुशिग्रु (मधुर सहजन), फणिज्झक (तुलसी भेद), सर्षप (सरसों), राजिका (राई), कुलाहल (मुण्डितक), वेणु (बाँस), तिलपर्णिका (चोरक, अन्य लाल चन्दन), वर्षाभू (पुनर्नवा), चित्रक (चीता), मूलक (मूली), लशुन पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर) आदि शाक संस्कार एवं आहार के काम में आते हैं ॥२२१॥

कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।
कृतान्नेषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

इनके सामान्य गुण—कटु, उष्ण, रुचिकर वात-कफनाशक, कृतान्न (मूङ्गयूष-लाजमण्ड) के संस्कार तथा अनेक (क्वाथकल्कादि भेद से) प्रकार से आहारों में इनका उपयोग होता है ॥२२२॥

तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा ।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ॥२२३॥

पिप्पली (गीली)—गुरु, मधुर, शीतल कफनाशक है। शुष्क पिप्पली—कफ-वायुनाशक वृष्य (शुक्रवर्धक और ईषत् पित्तशामक है। (गीली–पित्तशामक, शुष्क–पित्तप्रकोपक हैं) ॥

स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च ।
कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित् ॥२२४॥
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मारिचं सितम् ।
गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः ॥२२५॥

मरिच (आर्द्र)—मधुरविपाक, गुरु, कफस्रावक, कटु, उष्ण लघु है। शुष्क मरिच—अवृष्य (शुक्रवर्धक नहीं) और कफ-वायुनाशक है। श्वेत मरिच (शोभाञ्जन का बीज) न तो अति उष्ण और न अतिशीत है, साधारण वीर्यवान् है। मरिच के समान गुणकारी है, खासकर आँखों के लिये हितकारी है २२४,२२५॥

नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु ।
वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ॥२२६॥

नागर (सोंठ)—कफ वायुनाशक, मधुरविपाक, वृष्य (शुक्रवर्धक), उष्ण रोचक, हृदय के लिये प्रिय, स्नेह युक्त, लघु, और अग्निदीपक है ॥२२६॥

कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत् ।
कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ॥२२७॥

आर्द्रक (आदी)—कफ-वायुनाशक, स्वर के लिये हितकारी, विबन्ध, आनाह और शूलनाशक है। कटुरस, उष्णवीर्य, रोचक हृदय के लिये प्रिय, वृष्य (शुक्रवर्धक है) ॥२२७॥

लघूष्णं पाचनं हिङ्गु दीपनं कफवातजित् ।
कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलाजीर्णविबन्धनुत् ॥२२८॥

हींग—लघु, उष्ण, पाचक, अग्निदीपक, कफ वायुनाशक कटु स्निग्ध, सर (विरेचक), तीक्ष्ण, शूल-अजीर्ण–विबन्धनाशक है ॥२२८॥

तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम् ।
कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ॥२२९॥
कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका ।

दोनों (श्वेत और काला) जीरे, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुविपाक, रुचिकारक, पित्तवर्धक, अग्निवर्धक, कटुरस, कफ-वायुनाशक, गन्धबहुल होते हैं। कारवी (सूक्ष्म जीरा), करवी (सूक्ष्म कृष्ण जीरक), उपकुञ्चिका (काली जीरी)–के गुण भी जीरे के समान हैं २२९॥

भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता ॥२३०॥
आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम् ।
सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशनी ॥२३१॥
दोषघ्नी कटुका किंचित् तिक्ता स्रोतोविशोधनी ।

कुस्तुम्बरी (धनिया हरा)—भक्ष्य (लड्डू आदि), व्यंजन (शाक आदि), भोज्यों (दाल आदि) में नाना प्रकार से उपयोग करने पर स्वादु (मधुरता) और सुगन्धि तथा हृदय के लिये प्रियता उत्पन्न करता है। सूखा धनिया–मधुरविपाक, स्निग्ध, प्यास एवं दाहनाशक, दोषनाशक, कटुरस, थोड़ा तिक्त और स्रोतोविशोधक है। (पित्त प्रकृतिवालों के लिये विरेचक है) ॥२३२॥

जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः कृमिवातकफापहः ॥२३२॥
सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवैशद्यकारकः ।
कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः ॥२३३॥

जम्बीर—पाचन (पाचक), तीक्ष्ण, कृमि, वायु, कफ नाशक है। सुरभि—अग्निदीपक, रुचिकारक, मुख की स्वच्छता को उत्पन्न करता है। कफ, वायु, विष, श्वास, कास एवं दुर्गन्धता को दूर करता है ॥२३२,२३३॥

पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः।
तद्वत्तु सुमुखो ज्ञेयो विशेषाद् गरनाशनः ॥२३४॥

सुरस—पित्तकारक, पार्श्वशूलनाशक है। सुमुख के गुण भी सुरस के समान हैं, खासकर गर (संयोगजन्य विष) को दूर करता है ॥२३४॥

कफघ्ना लघवो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णाः पित्तवर्धनाः।
कटुपाकरसाश्चैव सुरसार्जकभूस्तृणाः ॥२३५॥

सुरस–आर्जक–भूस्तृण–कफनाशक, लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तवर्धक, कटुविपाक, कटुरस हैं ॥२३५॥

मधुरः कफवातघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः।
विशेषतः पित्तहरः सतिक्तः कासमर्दकः ॥२३६॥

कासमर्द—मधुर, कफ वायुनाशक, पाचक, कण्ठशोधक, खासकर पित्तनाशक, तिक्त है ॥२३६॥

कटुः सक्षारमधुरः शिग्रुस्तिक्तोऽथ पिच्छिलः।
मधुशिग्रुः सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुः ॥२३७॥

सहजन (कड़वा)—कटु, क्षारयुक्त, मधुर, तिक्त, पिच्छिल है। मधुशिग्रु (मीठा सहजन) सर (विरेचक), तिक्त, शोफनाशक अग्निदीपक और कटु है ॥२३७॥

विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेगनाम च ॥२३८॥

सरसों का शाक, गाण्डीर और वेग (मारवाल फल)—विदाही, मल-मूत्र-अवरोधक, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण, तीनों दोषों को उत्पन्न करते हैं ॥२३८॥

चित्रकस्तिलपर्णी च कफशोफहरे लघु।

चित्रक और तिलपर्णी—कफ-शोफनाशक और लघु हैं।

वर्षाभूः कफवातघ्नी हिता शोफोदरार्शसाम् ॥२३९॥

वर्षाभू (पुनर्नवा)—कफ-वातनाशक, शोफ, उदररोगी एवं अर्शरोगियों के लिये हितकरी है ॥२३९॥

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ॥२४०॥
महत्तद्गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत्।
तदेव स्नेहसिद्धं तु पित्तनुत् कफवातजित् ॥२४१॥
त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु।
विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् ॥२४२॥

मूलकपोतिका (मूली)—कटु, तिक्तरस, हृदय के लिये प्रिय, रोचक, अग्निदीपक, त्रिदोषनाशक, लघु, गले के लिये हितकारी है। महत् (बड़ी मूली)—गुरु और विष्टम्भी है। आम (असंस्कृत अर्थात् कच्ची)—तीक्ष्ण और तीनों दोषों को उत्पन्न करती है। यही मूली स्नेह में सिद्ध होने पर-पित्तनाशक, कफवायुकारक है। सूखी मूली-त्रिदोषशामक, विषदोषनाशक और लघु है। मूली को छोड़कर अन्य सब शुष्क शाक—विष्टम्भी और वायुकारक हैं ॥२४०–२४२॥

पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः।
तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ
फलं निहन्यात् कफमारुतौ तु ॥२४३॥

पुष्प, पत्र और फल इनमें उत्तरोत्तर लघु हैं, पुष्प से पत्र (पत्ते), पत्तों से फल लघु हैं। इनमें पुष्पकफ-पित्तनाशक हैं, और फल कफवायुनाशक हैं। (कई आचार्य–ये गुण मूली के मानते हैं) ॥२४३॥

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च
गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षु-
र्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥२४४॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल—
विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु
समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२४५॥

रसोन (लहसुन)—स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, कटुरस, पिच्छिल, गुरु, सर (विरेचन), मधुररस, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक), मेधा (बुद्धि), स्वर वर्ण, आँखों के लिये हितकारी, भग्नास्थि को जोड़नेवाला है। हृदयरोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल (उदरशूल), विबन्ध, गुल्म, अरुचि, कास, शोक, दुर्नाम (अर्श), कुष्ठ, अनलसाद (अग्निमाद्य), जन्तु (कृमि), समीरण (वायु), श्वास और कफ को नष्ट करता है ॥२४४,२४५॥

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च
तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च।
बलावहः पित्तकरोऽथ किंचित्
पलाण्डुरग्निं च विवर्धयेत्तु ॥२४६॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी
बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः
सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥२४७॥

पलाण्डु (प्याज)—अति उष्णवीर्य नहीं, (ईषत् उष्णवीर्य), वायुनाशक, तीक्ष्ण, गुरु, ईषत्कफकारक, बलकारक, ईषत्पित्तकारक, अग्निवर्धक है। क्षीरपलाण्डु (मधुररस युक्त प्याज), स्निग्ध, रुचिकारक, धातुओं को स्थिर करनेवाला, बलकारक, मेधा (बुद्धि) कफ और पुष्टि कारक, स्वादु (मधुर), गुरु, रक्तपित्त में प्रशस्त और पिच्छिल है ॥२४६,२४७॥

कलायशाकं पित्तघ्नं कफघ्नं वातलं गुरु।
कषायानुरसं चैव विपाके मधुरं च तत् ॥२४८॥

कलाय शाक (मटर)–पित्तनाशक, कफनाशक, वायुकारक, गुरु, कषाय—अनुरस, विपाक में मधुर है ॥२४८॥

जन्तुघ्नकुच्चूयूथिकातरुणीजीवन्तीबिम्बीतिकानदी[1] (न्दी) भल्लातकच्छगलान्त्रीवृक्षादनीफञ्जीशाल्मलीशेलुवनस्पतिप्रसवशणकर्बुदारकोविदारप्रभृतीनि ॥२४९॥

कषायमधुर शाक—

जन्तुघ्न, चुच्चू, यूथिका (जूही), तरुणी, जीवन्ती, बिम्बी (कन्दूरी के पत्ते), नन्दी, भल्लातक, छगलान्त्री (विधारे के पत्ते), वृक्षादनी (बन्दा), फञ्जी, शाल्मली, शेलु (लिसोड़ा), वनस्पतिप्रसव (गूलर आदि के पत्ते), शण, कर्बुदार (कचनार), कोविदार (श्वेतकचनार) आदि शाक है ॥२४६॥

कषायस्वादुतिक्तानि रक्तपित्तहराणि च ।

कफघ्नान्यनिलं कुर्युः संग्राहीणि लघूनि च ॥२५०॥

इसके सामान्य गुण—

कषाय-स्वादुरस, तिक्तरस, रक्त-पित्तनाशक, कफनाशक, वायुकारक, संग्राही और लघु हैं ॥२५०॥

लघुः पाके च जन्तुघ्नः पिच्छिलो व्रणिनां हितः ।

कषायमधुरो ग्राही चुच्चूस्तेषां त्रिदोषहा ॥२५१॥

चुच्चू—विपाक में लघु, कृमिनाशक, पिच्छिल, व्रणरोगियों के लिये हितकारी है । कषाय-मधुररस, संग्राही और तीनों दोषों को नष्ट करता है ॥२५१॥

चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता ।

जीवन्ती—आँखों के लिये हितकारी, त्रिदोषनाशक है ।

वृक्षादनी वातहरा, फञ्जी स्वल्पबला मता ॥२५२॥

वृक्षादनी—वातनाशक और फञ्जी (भांग) अल्प बलवाली है, ईषत् बलवर्धक है ॥२५२॥

क्षीरवृक्षोत्पलादीनां कषायाः पल्लवाः स्मृताः ।

शीताः संग्राहिणः शस्ता रक्तपित्तातिसारिणाम् ।२५३।

क्षीरवृक्ष (अश्वत्थ आदियों) के तथा उत्पल (कमल) आदि के पल्लव (कोंपल)—कषायरस, शीतल, संग्राहक, रक्तपित्त अतीसार में प्रशस्त हैं ॥२५३॥

पुनर्नवावरुणतर्कार्युरुबूकवत्सादनीबिल्वशाकप्रभृतीनि ॥

पुनर्नवा (श्वेत), वरुण (वरना), तर्कारी (अरणिका) उरुबूक (शुक्ल एरण्ड), वत्सादनी (गिलोय), बिल्वशाक (बिल्व के पत्ते) आदि शाक हैं ॥२५४॥

उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च ।

इसके सामान्य गुण—स्वादु, तिक्तरस और वात नाशक हैं ।

तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोफनाशनम् ॥२५५॥

इनमें पुनर्नवा का शाक—खास करके शोफ (सूजन) को नष्ट करता है ॥२५५॥

तण्डुलीयकोपोदिकाऽश्वबलाचिल्लीपालङ्क्यावास्तूकप्रभृतीनि

तण्डुलीयक (चौलाई), उपोदिका (पोई), अश्वबला (मेथी), चिल्ली (खेत बथुवा), पालङ्क्या (पालक), वास्तूक (बथुवा) आदि पत्रशाक है[1] ॥२५६॥

सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ।

मन्दवातकफान्याहू रक्तपित्तहराणि च ॥२५७॥

इनके सामान्य गुण—मल-मूत्र-प्रवर्त्तक (विरेचक), क्षारयुक्त, मधुर, कफ एवं वायु को कम करते हैं, रक्तपित्तनाशक है ।

मधुरो रसपाकाभ्यां रक्तपित्तमदापहः ।

तेषां शीततमो रूक्षस्तण्डुलीयो विषापहः ॥२५८॥

तण्डुलीयक (चौलाई)—मधुररस, मधुरविपाक, रक्त-पित्त-मदनाशक, अत्यन्त शीतल, रूक्ष, विषनाशक है ॥२५८॥

स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा ।

उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरी हिमा ।२५९

उपोदिका (पोई)—मधुररस, मधुरविपाक वृष्य, वातपित्तमदनाशक, सर (विरेचक), स्निग्ध, बलकारक, कफवर्धक और शीतल है ॥२५९॥

कटुर्विपाके कृमिहा मेधाग्निबलवर्धनः ।

सक्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तूको रोचनः सरः ॥२६०॥

वास्तूक (बथुवा)—कटुविपाक, कृमिनाशक, मेधाअग्निबलवर्धक, ईषत्क्षारयुक्त, त्रिदोषनाशक, रोचक और सर (विरेचक) है ॥२६०॥

चिल्ली वास्तूकवज्ज्ञेया पालङ्क्यास्तण्डुलीयवत् ।

वातकृद्बद्धविण्मूत्रा रूक्षा पित्तकफे हिता ।

शाकमाश्वबलं रूक्षं बद्धविण्मूत्रमारुतम् ॥२६१॥

चिल्ली—बथुवे के समान और पालक चौलाई के समान है । वायुकारक, मल-मूत्र का अवरोधक, रूक्ष, पित्त कफ में हितकारी, आश्वबल (मेथी) का शाक—रूक्ष, मल मूत्र और वायु का अवरोधक है ॥२६१॥

मण्डूकपर्णीसप्तलासुनिषण्णकसुवर्चलाब्रह्मसुवर्चलापिप्पलीगुडूचीगोजिह्वाकाकमाचीप्रपुन्नाडावल्गुजसतीनबृहतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताककारवेल्लककटुकिकाकेबु (म्बु) कोरुबूकपर्पटककिराततिक्तकर्कोटकारिष्टकाशातकीवेत्रकरीराटरूषकार्कपुष्पीप्रभृतीनि ॥२६२॥

तिक्तप्राय शाक—

मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), सप्तला (चर्म्मसाह्वा), सुनिषण्णक (चौपतिया[2]) सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), ब्रह्मसुवर्चला (सूर्यमुखी), पिप्पली, गिलोय, गोजिह्वा (गाजवां), काकमाची (मकोय), प्रपुन्नाड (पनवाड़), अवल्गुजा (बावची), सतीन (मटर),

१ निर्णयसागर की छपी पुस्तक में 'नन्दी' के स्थान में नदी पाठ है ।

१ मेथी और हिस्फिरथा के भेद—

"वातपित्तहरा तिक्ता लघ्वी श्लेष्मावरोधिनी ।

मेथिका तत्समं किञ्चित् हिस्फित्यं पुष्टिदं गुरु ॥"

२ चौपतिया—

"चांगेरीसदृशैः पत्रैः सुनिषण्णश्चतुर्दलः ।

शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति कथ्यते ॥"

बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरी) के फल, पटोल (परवल), वार्त्ताक (बैंगन), कारवेल्ल (करेला), कटुकिका (कटुकी), केबुक, उरुबूक (श्वेत एरण्ड), पर्पटक (पित्तपापड़ा), किराततिक्ता (चिरायता), कर्कोटक (कंकड़ा), अरिष्ट (नीम), कोशातकी (तुरई कडुवी) वेत्रकरीर वेत का अंकुर), आटरूप (बाँसा), अर्कपुष्पी (कुटुम्बनि या आक के पत्ते) आदि शाक हैं ॥२६२॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च ।

कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ॥२६३॥

इनके सामान्य गुण—रक्त पित्तनाशक, हृदय के लिये प्रिय, लघु कुष्ठमेह, ज्वर, श्वास, कास और अरुचिनाशक है ॥

कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा ।

लघ्वी मण्डूकपर्णी तु तद्वद्गोजिह्विका मता ॥२६४॥

मण्डूकपर्णी—कषायरस, पित्त में हितकारी, मधुरविपाक, मधुररस, शीतल, लघु है। गोजिह्वा के गुण भी मण्डूकपर्णी के समान हैं ॥२६४॥

अविदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही सुनिषण्णकः ।

सुनिषण्णक—अविदाही, त्रिदोषनाशक, संग्राही है ।

अवल्गुजः कटुःपाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥२६५॥

अवल्गुज—कटुविपाक, तिक्त, पित्तकफनाशक है ॥२६५॥

ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम् ।

नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम् ॥२६६॥

सतीन (मटर के पत्र)—थोड़ा तिक्त, त्रिदोषनाशक, कटुरस हैं। काकमाची (मकोय)—न तो अधिक उष्ण और न अधिक शीत (साधारण), कुष्ठनाशक, तिक्त और कटुरस हैं ॥२६६॥

कण्डूकुष्ठकृमिघ्नानि कफवातहराणि च ।

फलानि बृहतीनां तु कटुतिक्तलघूनि च ॥२६७॥

बृहतीफल (कटेरी-बड़ी कटेरी के फल)—कण्डू, कुष्ठ, कृमिनाशक, कफ-वात को दूर करते हैं। कटु, पित्त और लघु हैं ॥२६७॥

कफपित्तहरं व्रण्यमुष्णं तिक्तमवातलम् ।

पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम ॥२६८॥

पटोल (परवल)—कफ-पित्तनाशक, व्रण के लिये हितकारी, उष्ण, तिक्त, परन्तु वायुकारक नहीं, विपाक में कटु, वृष्य (शुक्रवर्धक), रोचक और अग्निदीपक है ॥२६८॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ।

वार्ताकं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सक्षारपित्तलम् ॥२६९॥

वार्त्ताक (बैंगन)—कफ-वायुनाशक, तिक्त, रोचक, कटु और लघु एवं अग्निदीपक है। जीर्ण (पका हुआ) बैंगन—ईषत्क्षारयुक्त और पित्तकारक है ॥२६९॥

तद्वत् कर्कोटकं विद्यात् कारवेल्लकमेव च ।

कर्कोट (कंकोड़ा) और कारवेल्लक (करेला) बैंगन के समान है ॥

आटरूपकवेत्राग्रगुडूचीनिम्बपर्पटाः ।

किराततिक्तसहितास्तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥२७०॥

आटरूषक (बासा), वेत्राग्र (वेत का अग्रभाग), गुडूची (गिलोय), निम्ब (नीम), और पर्पट (पित्तपापड़ा), किराततिक्ता (चिरायता), तिक्ता (कटुकी)—ये सब तिक्त, पित्त कफ-नाशक हैं ॥२७०॥

कफापहं शाकमुक्तं वरुणप्रपुन्नाड (ट) योः ।

रूक्षं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥२७१॥

वरुण (वरना) और प्रपुन्नाड़ (पनवाड़)—का शाक कफ-नाशक, रूक्ष, लघु, शीतल, वायु-पित्तप्रकोपक है ॥२७१॥

दीपनं कालशाकं तु गरदोषहरं कटु ।

कालशाक अग्निदीपक, गरदोष (संयोगजन्य विष) को नष्ट करता है और कटु है ।

कौसुम्भं मधुरं रूक्षमुष्णं श्लेष्महरं लघु ॥२७२॥

कौसुम्भ (कुसुम्भा) का शाक—मधुर, रूक्ष, उष्ण, कफहर और लघु है ॥२७२॥

वातलं नालिकाशाकं पित्तघ्नं मधुरं च तत् ।

नालिकाशाक—वायुकारक, पित्तनाशक और मधुर है ।

ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता ।

उष्णा कषायमधुरा चाङ्गेरी चाग्निदीपनी ॥२७३॥

चांगेरी (खट्टमिट्ठी)—ग्रहणी-अर्शरोगनाशक, खट्टी, वायु-कफरोग में हितकारी, उष्ण, कषायमधुर और अग्निदीपक है ॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चलाडुडुरक-कुतुम्बककुठिञ्जरकुन्तलिकाकुरण्टिकाप्रभृतयः ॥२७४॥

लोणिक (लूणि), जातुकत्रिपर्णिका, पत्तूर (शालिञ्चो शाक), जीव, सुवर्चला (ब्राह्मी), डुडुरक, कुतुम्बक (राजझिण्टी), कुठिञ्जर (तुलसीभेद), कुन्तलिका (नीलझिन्टी), कुरण्टिका (पीतझिण्टी) आदि (राजक्षवक आदि), शाक हैं[1] ॥२७४॥

स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः ।

लवणानुरसाः रूक्षाः सक्षाराः वातला सराः ॥२७५॥

इनके सामान्य गुण—

मधुररस, मधुरपाक, शीतवीर्य, कफनाशक, ईषत्पित्तकारक, लवण-अनुरस, रूक्ष, ईषत्क्षारयुक्त, वायुकारक और सर (विरेचक) हैं ॥२७५॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका कषाया सकुरण्टिका ।

कुरण्टिका—कषायरस, कुन्तलिका—स्वादु एवं तिक्तरस हैं।

संग्राहि शीतलं चापि लघु दोषापहं तथा ।

राजक्षवकशाकं तु शटीशाकं च तद्विधम् ॥२७६॥

---

१ कविराज हाराणचन्द्रजी ने 'डुडुरक' को नहीं पढ़ा है ।

राजक्षवक—संग्राही, शीतल, लघु, दोषनाशक है। शटी का शाक भी राजक्षवक के समान गुणकारी है[1] ॥२७६॥

स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिमन्थजम्।

हरिमन्थ (चने)—मधुररस, मधुरविपाक और दुर्जर हैं।

भेदनं मधुरं रूक्षं कलायमतिवातलम् ॥२७७॥

कलाय (मटरभेद) का शाक, भेदक (विरेचक), मधुर, रूक्ष, अतिवायुकारक है ॥२७७॥

स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम्।
शोफघ्नमुष्णवीर्यं च पत्रं पूतिकरञ्जकम् ॥२७८॥

पूतिकरञ्ज (नाटाकरञ्ज) के पत्तों का शाक—स्रंसन (विरेचक), विपाक में कटु, लघु, वायु-कफनाशक, शोफनाशक, उष्णवीर्य है ॥२७८॥

ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम्।
सुगन्धि विशदं तिक्तं स्वर्यं वातकफापहम् ॥२७९॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम्।
वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविशोधनम् ॥२८०॥

ताम्बूलपत्र (पान का पत्ता)—तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, पित्तप्रकोपक, सुगन्धि, विशद, तिक्त, ज्वर के लिये हितकारी, वायुकफनाशक, स्रंसन[2] (मल-विरेचक) विपाक में कटु, कषाय, अग्निदीपक, मुख की खाज, मल की आर्द्रता एवं दुर्गन्धता को नष्ट करता है ॥२७६,२८०॥

अथ पुष्पवर्गः।

कोविदारशणशाल्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च, वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि च ॥२८१॥

इसके आगे पुष्प वर्ग (शाक)—

कोविदार (कचनार), शण, शाल्मली (सिम्बल)—इसके फूल मधुररस, मधुरविपाक और रक्त-पित्तनाशक हैं। वृष (बांसा) और अगस्त के फूल तिक्तरस, कटुविपाक एवं क्षय-कासनाशक हैं॥

आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते ॥२८२॥

अगस्त्यपुष्प के विशेष गुण—न तो अतिशीत और न अति-उष्ण (साधारण), नक्तान्धों (रतौंधी रोगियों) के लिये उत्तम हैं ॥२८२॥

करीरमधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि वातहरणानि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२८३॥

करीर, मधुशिग्रु (मीठा सहजन), के फूल—विपाक में कटु, वायुनाशक, मल-मूत्र के प्रवर्त्तक हैं ॥२८३॥

रक्तवृक्षस्य निम्बस्य मुष्ककार्कासनस्य च।
कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठघ्नं कुटजस्य च ॥२८४॥

रक्तवृक्ष (लाल चन्दन), निम्ब (नीम), मुष्क (क्षारवृक्ष), अर्क (आक) और असन—इनके पुष्प तथा कुटज (चूड़े) के फूल—कफपित्तनाशक और कुष्ठरोगनाशक हैं ॥२८४॥

सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम्।

पद्म (कमलपुष्प)—ईषत्तिक्त, मधुररस, शीतवीर्य और पित्त-कफनाशक है।

मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ह्लादि शीतलम्।
तस्मादल्पान्तरगुणे विद्यात् कुवलयोत्पले ॥२८५॥

कुमुद (चन्द्रोदय में खिलनेवाला) मधुर, पिच्छिल, स्निग्ध, ह्लादि (सुखदायक) और शीतल है। कुवलय और उत्पल में कुमुद से कुछ हीन गुण हैं ॥२८५॥

सिन्धुवारं विजानीयाद्धितं पित्तविनाशनम्।

सिन्धुवार (निर्गुण्डी) पुष्प—हितकारी और पित्तनाशक है॥

मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने ॥२८६॥

मालती (जाति), मल्लिका (जूही)—तिक्तरस, सुगन्धि से पित्त का नाश करती हैं ॥२८६॥

सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलं पाटलानि च।

बाकुल (मौलसरी) और (पाटल फूल) के पुष्प—सुगन्धि, विशद, हृदय के लिये प्रिय होते हैं।

श्लेष्मपित्तविषघ्नं तु नागं तद्वच्च कुङ्कुमम् ॥२८७॥

नाग (नागकेसर), कफ पित्त-विषनाशक है, कुंकुम (केसर) में भी नागकेसर के समान गुण हैं ॥२८७॥

चम्पकं कफपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम्।

चम्पक (चम्पा)—रक्त-पित्तनाशक, शीत–उष्ण (साधारण) कफनाशक है।

किंशुकं कफपित्तघ्नं तद्वदेव कुरण्टकम् ॥२८८॥

किंशुक (ढाक) और कुरण्टक के पुष्प-कफ पित्त नाशक हैं॥

यथावृक्षं विजानीयात् पुष्पं वृक्षोचितं तथा।

उपसंहार—वृक्ष के अनुसार-पुष्प में भी गुण समझने चाहिये।

मधुशिग्रुकरीराणि कटु श्लेष्महराणि च ॥२८९॥

मधुशिग्रु (मीठे सहजन) के करीर (नाल) कटुरस और कफनाशक हैं ॥२८९॥

क्षवककूलेचरवंशकरीरप्रभृतीनि कफकराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२९०॥

क्षवक (छत्रक), कूलेचर (खुखुण्डक) और वंशकरीर (वंशांकुर)—आदि कफनाशक और मल मूत्र प्रवर्त्तक हैं॥

क्षवकं कृमिलं तेषु स्वादुपाकं सपिच्छलम्।
विष्यन्दि वातलं नातिपित्तश्लेष्मकरं च तत् ॥२९१॥

---

[1] राजक्षवक का अर्थ राई किया है। परन्तु राई शीतल न होकर उष्ण है।

[2] कई आचार्य स्रंसन आदि गुण (कच्चे) सुपारी फल के मानते हैं।

क्षवक-कृमिकारक, मधुर-विपाक, पिच्छिल, विष्यन्दि (कफस्रावि), वायुकारक, पित्त-कफ को थोड़ा बढ़ाता है ॥

वेणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः २६२॥

बाँस के अंकुर—कफकारक, मधुरविपाक, विदाही, वायुकारक, कषाय एवं रूक्ष हैं ॥२६२॥

उद्भिदानि पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजानि। तत्र पलालजातं मधुरं मधुरविपाकं रूक्षं दोषप्रशमनं च, इक्षुजं मधुरं कषायानुरसं कटुपाकं शीतलं च तद्वदेवोष्णं कारीषं कषायं वातकोपनं च, वेणुजातं कषायं वातकोपनं च; भूमिजं गुरु नातिवातलं भूमितश्चास्यानुरसः ॥२६३॥

उद्भिद शाक—(भूमि में से उत्पन्न होनेवाले और बिना बोये)—

पलाल (पुआल शस्यशून्य काण्ड), इक्षु (गन्ने), करीष (शुष्क गोमय), वेणु (बाँस), क्षितिज (भूमि में उत्पन्न) उद्भिद (छत्रकादि) शाक हैं। इनमें पलाल (पुआल) में उत्पन्न शाक-मधुररस, मधुरविपाक, रूक्ष, दोषनाशक हैं। गन्ने में उत्पन्न शाक—मधुररस, कषाय—अनुरस, कटु और शीतल हैं। करीष में उत्पन्न शाक-उष्ण, कषाय और वातप्रकोपक हैं। बेणु (बाँस) में उत्पन्न शाक-कषाय एवं वायुप्रकोपक हैं। भूमिजन्य शाक—गुरु, ईषत्—वायुकारक और भूमि के समान गुणवाले होते हैं ॥२६३॥

पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि ॥२६४॥

पिण्याक (अलसी-सरसों की खल), तिलकल्क (तिल खल), स्थूणिका (वटक-नालवड़ियाँ) और ये शुष्क शाक-तीनों दोषों को कुपित करते हैं ॥२६४॥

विष्टम्भिनः स्मृताः सर्वे वटका वातकोपनाः।
सिण्डाकी वातला सार्द्रा रुचिष्यानलदीपनी ॥२६५॥

वटक (सब प्रकार की बड़ियाँ, मूँग, उड़द आदि से बनी) विष्टम्भि और वायुप्रकोपक होती हैं। सिण्डाकी (मूली आदि के शाक को थोड़ा-सा उबालकर, कूटकर, इसमें सुगन्धित एवं मिर्च आदि द्रव्य मिलाकर बनी बड़ियाँ सिण्डाकी कहलाती है, यह आर्द्र और शुष्क भेद से दो प्रकार की हैं)-वायुकारक हैं, आर्द्रा-रोचक एवं अग्निदीपक हैं ॥२६५॥

विड्भेदि गुरु रूक्षं च प्रायो विष्टम्भि दुर्जरम्।
सकषायं च सर्वं हि स्वादु शाकमुदाहृतम् ॥२६६॥

सब स्वादु (मधुर) शाक—विरेचक, गुरु, रूक्ष, प्रायः करके विष्टम्भि (गुड़गुड़ाहट कारक), दुर्जर, और कषायरस है ॥

पुष्पं पत्रं फलं बालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ॥

पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द शाक ये उत्तरोत्तर गुरु हैं, पुष्पशाक से पत्रशाक, पत्रशाक से फलशाक, उससे नालशाक, नालशाक से कन्दशाक गुरु हैं ॥२६६॥

कर्कशं परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेशजम्।
वर्जयेत् पत्रशाकं तद्यदकालविरोहि च ॥२६७॥

त्याज्य पत्रशाक—कर्कश (खर-स्पर्श), परिजीर्ण (पुरातन पीला), कृमिजुष्ट (कीड़ों से खाया हुआ), अदेशज (अनुचित देश में उत्पन्न), अकालविरोहि (अकाल में उत्पन्न) पत्रशाक त्याज्य है ॥२६७॥

अथ कन्दवर्गः।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरीबिसमृणालश्रृङ्गाटककशेरुकपिण्डालुकमध्वालुकहस्त्यालुककाष्ठालुकशङ्खालुकरक्तालुकेन्दीवरोत्पलकन्दप्रभृतीनि ॥२९८॥

विदारीकन्द (विदारी), शतावरी, बिस (कमलमूल), मृणाल (कमलनाल), श्रृङ्गाटक (सिंघाड़ा), कशेरु, पिण्डालु, मध्वालु, हस्त्यालु, काष्ठालु, शंखालु, रक्तालु, इन्दीवर (नीलकमल), उत्पल (श्वेत या लालकमल) आदि कन्द (भूमि में उत्पन्न) हैं।

वि० मन्तव्य—आज के पाश्चात्य शिक्षा शिक्षितों का विश्वास है कि आलू—आज से कुछ शताब्दी पूर्व अमेरिका से भारत में आया है, परन्तु यह ऋत है कि अनृत इसका विवेचन पाठक स्वयं करें और देखें कि इस सूत्र में एक नहीं अनेक आलुओं का नामोल्लेख है और—च० सू० अ० २७ में भी "तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वात् च मुखप्रियम्" कह कर आलू का उल्लेख किया गया है। आज के समान उस समय भी यह मुखप्रिय था ॥२९८॥

रक्तपित्तहराण्याहुः शीतानि मधुराणि च।
गुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च ॥२९९॥

इनके सामान्य गुण—रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, गुरु, शुक्रवर्धक हैं और स्तन्यवृद्धि (दूध को बढ़ाना) करते हैं ॥

मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः।
विदारीकन्दो बल्यश्च पित्तवातहरश्च सः ॥३००॥

विदारीकन्द—मधुर, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रवर्धक), शीतल, स्वर के लिये हितकारी, अतिमूत्रवर्धक, बलकारक, पित्त वायुनाशक है ॥३००॥

वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी।
महती चैव हृद्या च मेधाग्निबलवर्धिनी ॥३०१॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी।
कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवङ्कुराः स्मृताः ॥३०२॥

शतावरी—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), स्वादुतिक्तरस है। महती (बड़ी) शतावर-हृदय के लिये प्रिय, मेधा अग्नि एवं बल की वर्धक है। ग्रहणी रोग-नाशक वृष्य,

(शुक्रल), शीतल एवं रसायन है। शतावरी के अंकुर (प्ररोह) कफ-पित्तनाशक, तिक्त होते हैं ॥ ३०१,३०२ ॥

अविदाहि बिसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥ ३०३ ॥

बिस (कमलमूल)—अविदाहि (जलन उत्पन्न नहीं करती), रक्त-पित्तनाशक है। रसरहित बिस विष्टम्भि, दुर्जर, रुक्ष, वायुकारक है ॥३०३॥

गुरू विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ।

सिंघाड़ा और कशेरू—गुरु, विष्टम्भि और शीतल हैं।

पिण्डालुकं कफकरं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ ३०४ ॥

पिण्डालु—कफकारक गुरु और वायुप्रकोपक है ॥३०४॥

सुरेन्द्रकन्दः श्लेष्मघ्नो विपाके कटु पित्तकृत्।

सुरेन्द्रकन्द (वज्रकन्द) कफनाशक, कटुविपाक एवं पित्तकारक है।

वेणोः करीरा गुरवः कफमारुतकोपनाः ॥ ३०५ ॥

बांस की मूल का अंकुर-गुरु, कफ एवं वायुप्रकोपक हैं॥

स्थूलसूरणमाणकप्रभृतयः कन्दा ईषत्कषायाः कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च ॥३०६॥

स्थूलकन्द (ग्रामकन्द), सूरणकन्द (जिमिकन्द), माणककन्द (मानकन्द) आदि कन्द–ईषत्कषाय रस, कटुविपाक, रूक्ष, विष्टम्भि, गुरु, कफ-वायुकारक और पित्तनाशक हैं ॥३०६॥

मान (ण) कं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्तितम्।
स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः सूरणो गुदकीलहा ॥ ३०७ ॥

माणककन्द–स्वादु (मधुर), शीतल और गुरु है। स्थूलकन्द-थोड़ा उष्ण है, सूरणकन्द–गुदकील-(अर्शरोग) नाशक है।

कुमुदोत्पलपद्मानां कन्दा मारुतकोपनाः।
कषायाः पित्तशमना विपाके मधुरा हिमाः ॥ ३०८ ॥

कुमुद, उत्पल और पद्म, इनके कन्द–वायु-प्रकोपक, कषायरस, पित्तशामक, विपाक में मधुर और शीतवीर्य हैं ३०८

वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः।
मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः ॥ ३०९ ॥

वाराहकन्द (सुअरकन्द-सुअर जैसे बाल होते हैं)–कफनाशक, कटुरस, कटुविपाक, प्रमेह-कुष्ठ कृमिनाशक, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक) और रसायन है ॥३०९॥

तालनारिकेलखर्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्जानः ॥३१०॥
स्वादुपाकरसानाहू रक्तपित्तहरांस्तथा।
शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥ ३११ ॥

ताल (ताड़), नारिकेल (नारियल) खर्जूर (खजूर) आदि वृक्षों की मस्तकमज्जा (अग्रमज्जा-भाग)–मधुररस, मधुरविपाक, रक्तपित्तनाशक, शुक्रवर्धक, वायुनाशक, एवं कफ को बढ़ाती है।

वि० मन्तव्य–ताड़ आदि वृक्षों के अग्रभाग–जहाँ पर हरे पत्र लगे रहते हैं–के मध्य में कोमल गूदा रहता है। उसका शाक बङ्गाल तथा मद्रास में खाया जाता है ॥३१०,३११॥

बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं क्रिमिभक्षितम्।
कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ् न रोहति ॥३१२॥

त्याज्यकन्द–बाल (छोटे), अनार्त्तव (अऋतुकालजन्य) जीर्ण (पके-पुरातन), व्याधित (रोगयुक्त), कृमिभक्षित (कीड़ों से खाये), अथवा जो कन्द भली प्रकार से उत्पन्न नहीं हुआ-उसको छोड़ देना चाहिये ॥३१२॥

अथ लवणवर्गः।

अथ लवणानि सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकौद्भिदप्रभृतीनि यथोत्तरमुष्णानि वातकराणि कफपित्तकराणि कटुपाकीनि यथापूर्वं स्निग्धानि स्वादूनि सृष्टमूत्रपुरीषाणि चेति ॥३१३॥

इसके आगे लवणों को कहते हैं–

सैन्धव (सैन्धा लाहौरी), सामुद्र (गुजरात में समुद्र के पानी से तैयार), बिड (मेड़ी नमक), सौवर्चल (सुगन्धी काला लवण), रोमक (साम्भर), औद्भिद (भूमि में उत्पन्न खार या खार युक्त पानी से तैयार हुआ) आदि नमक हैं।

इनके सामान्य गुण–ये उत्तरोत्तर (सैन्धव से सामुद्र गुरु, सामुद्र से बिड गुरु....इस प्रकार से) गुरु हैं, वातनाशक, कफपित्तकारक हैं। यथापूर्व (सामुद्र से सैन्धव, बिड से सामुद्र....इस क्रम से) क्रम में–स्निग्ध, स्वादु (मधुर), मलमूत्र के प्रवर्त्तक हैं ॥३१३॥

चक्षुष्यं सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धं सुमधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम् ॥३१४॥

सैन्धव—आँखों के लिये हितकारी, हृद्य (प्रिय), रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक, स्निग्ध, मधुर, वृष्य (शुक्रवर्धक), शीतल, दोषनाशक और नमकों में श्रेष्ठ हैं ॥३१४॥

सामुद्रं मधुरं पाके नात्युष्णमविदाहि च।
भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलहृद्रोगनाशनम् ॥३१५॥

सामुद्रनमक–विपाक में मधुर, ईषत् उष्ण, अविदाही, भेदक (विरेचक), ईषत् स्निग्ध, शूलनाशक, ईषत् पित्तकारक है ॥३१५॥

सक्षारं मधुरं सूक्ष्मं शूलहृद्रोगनाशनम्।
रोचनं तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम् ॥३१६॥

विडनमक–क्षारयुक्त, अग्निदीपक, रूक्ष, शूलहृदयरोगनाशक, रोचक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य और वायु का अनुलोमन करता है ॥३१६॥

लघु सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु।
गुल्मशूलविबन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम् ॥३१७॥

सौवर्चलनमक—मधु, उष्णवीर्य, विशद, कटुविपाक, गुल्म शूल एवं विबन्ध (मल-मूत्रावरोध) नाशक, हृदय के लिये प्रिय, सुरभि (सुगन्धित) और रोचक है ॥३१७॥

रोमकं तीक्ष्णमत्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च ।
वातघ्नं लघु विष्यन्दि सूक्ष्मं विड्भेदि मूत्रलम् ॥३१८॥

रोमक (साम्भर)—तीक्ष्ण, उष्ण, व्यवायि (अपक्वावस्था में शरीर में व्याप्त हो जाता है), फिर शरीर में पचता है, विपाक में कटु, वातनाशक, लघु, विष्यन्दि (कफस्रावक), सूक्ष्म, बल विरेचक और मूत्रल है ॥३१८॥

लघु तीक्ष्णोष्णमुत्क्लेदि सूक्ष्मं वातानुलोमनम् ।
सतिक्तं कटु सक्षारं विद्याल्लवणमौद्भिदम् ॥३१९॥

औद्भिद लवण—लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, उत्क्लेदि (वमन की अभिरुचि करनेवाला), सूक्ष्म, वायु का अनुलोमक, ईषत् तिक्त, कटुरस, क्षारयुक्त होता है ॥३१९॥

कफवातक्रिमिघ्नं च लेखनं पित्तकोपनम् ।
दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकाह्वयम् ॥३२०॥

गुटिका लवण (पकाने पर गुटिकाकार बना नमक)—कफ वायु कृमिनाशक, लेखन (कफ का), पित्तप्रकोप, अग्निदीपक, पाचक (व्रण को पकानेवाला), भेदि (विरेचक) है ॥३२०॥

ऊषसूतं बालुकैलं शैलमूलाकरोद्भवम् ।
लवणं कटुकं छेदि विहितं कटु चोच्यते ॥३२१॥

ऊषसूत (ऊषर भूमि में उत्पन्न), बालुकैल (रेतीलीभूमि में उत्पन्न, उदयपुर में इसे डिडुआना कहते हैं), शैलमूलाकरोद्भव[1] (पर्वत की जड़ में उत्पन्न-खनिज)—नमक, कटुरस, छेदि और विपाक में कटु होते हैं ॥३२१॥

यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोपक्षारपाकिमटङ्कणक्षारप्रभृतयः ॥

यवक्षार (जौखार), स्वर्जिकाक्षार (सज्जीखार) ऊषक्षार, पाकिम (पाक द्वारा बनाया, पानीय और प्रतिसारणीय अथवा धूलि आदि से निकाला), टङ्कणक्षार (सुहागा) आदि क्षार हैं ॥

गुल्मार्शोग्रहणीदोषशर्कराश्मरिनाशनाः ।
क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥३२२॥

इनके सामान्य गुण—गुल्म अर्श ग्रहणीरोग प्रतिश्याय-नाशक हैं। सब क्षार पाचक (व्रणों को पकानेवाले) रक्त-पित्त-कारक हैं ॥३२२॥

ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शोगुल्मप्लीहविनाशनौ ॥३२३॥

स्वर्जिकाक्षार और यवक्षार—अग्नि के समान उष्ण हैं, शुक्र, कफ-विबन्धन (मल-मूत्र अवरोध), अर्श-गुल्म एवं प्लीहा के नाशक हैं ॥३२३॥

उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी चोषक्षारो बलापहः ।
मेदोघ्नः पाकिमः क्षारस्तेषां बस्तिविशोधनः ॥३२४॥

ऊषक्षार (ऊषर भूमि में तैयार)—उष्ण, वायुनाशक, क्लिन्नता उत्पन्न करता है, बल (शुक्र ओज) नाशक है। पाकिम (पाक द्वारा तैयार) क्षार—मेदनाशक और बस्ति (मूत्र) विशोधक (प्रवर्त्तक) है ॥३२४॥

विरूक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मघ्नः पित्तदूषणः ।
अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णष्टङ्कणः क्षार उच्यते ॥३२५॥

टङ्कणक्षार—रूक्ष, वायुकारक, कफनाशक, पित्तप्रकोपक, अग्निदीपक और तीक्ष्ण है। लवणक्षार पार्थिव हैं, इसलिये अन्य स्वर्णादि धातुओं के भी पार्थिव होने से उनके गुण कहते हैं ॥३२५॥

सुवर्णं स्वादु हृद्यं च बृंहणीयं रसायनम् ।
दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनम् ॥३२६॥

स्वर्ण (भस्म)—मधुर, हृदय के लिये प्रिय, बृंहण (देहवर्धक) रसायन, तीनों दोषनाशक, शीतल, आँखों के लिये हितकारी और विषनाशक है[1] ॥३२६॥

रूप्यमम्लं सरं शीतं सस्नेहं पित्तवातनुत् ।

रूप्य (चांदी)—अम्ल, सर (विरेचक), शीतल, स्नेहयुक्त, पित्त वायुनाशक है ॥

ताम्रं कषायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम् ॥३२७॥

ताम्र—कषाय, मधुर, लेखन (कफ-मेद का), शीतल[2] और सर (विरेचक) है ॥३२७॥

सतिक्तं लेखनं कांस्यं चक्षुष्यं कफवातजित् ।

कांस्य—(कांसी धातु ताम्र एवं यशद से बनाई जाती है, खनिज नहीं)—तिक्त, लेखन, आँखों के लिये हितकारी, कफ-वायुनाशक है ॥

वातकृच्छीतलं लोहं तृष्णापित्तकफापहम् ॥३२८॥

लोह—वायुकारक, शीतल, तृष्णा पित्त और कफनाशक है॥

कटु क्रिमिघ्नं लवणं त्रपु सीसं च लेखनम् ।

त्रपु (रांगा) सीसा—कटु, कृमिनाशक, लवण और विलेखन (कफ मेद का), गुणकारी है ॥

मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादयः ॥३२९॥
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः ।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः ॥३३०॥

इति लवणादिवर्गः ।

प्रसंगवश—मणियों के गुण—

मुक्ता (मोती) विद्रुम (प्रवाल), वज्रेन्द्र (हीरा), वैदूर्य,

१ 'शैलमूलाकरोद्भव' का अर्थ डल्हणाचार्य ने, प्रशस्त तुरङ्ग की उत्पत्ति भूमि (तुरुष्क देश) किया है। इस देश में उत्पन्न यह अर्थ किया है।

१ यहाँ पर धातुओं की भस्म के गुण समझने चाहिये।

२ लघु-शीतवीर्य लिखा है, परन्तु अन्य ग्रन्थों में ताम्र को उष्ण कहा है; देखिये रसेन्द्रसारसंग्रह। परन्तु अष्टांगसंग्रह में भी इसे शीत कहा है।

स्फटिक आदि मणियां—आँखों के लिये हितकारी, शीतल, लेखन, विषनाशक, पवित्र, धारण करने योग्य, पाप्मा (पाप) अलक्ष्मी (दौर्भाग्य) और मल के नाशक हैं ॥३२९-३३०॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव शाकेषु चानुक्तमिहाप्रमेयात्।
आस्वादतो भूतगुणैश्च मत्वा तदादिशेद्द्रव्यमनल्पबुद्धिः॥

अनल्पबुद्धि (अगाध बुद्धिशाली वैद्य)—इस शास्त्र में--अप्रमेयात् (अनन्त होने से), धान्य, मांस, फल एवं शाक (कन्द) वर्गों में–न कहे हुए द्रव्यों को आस्वादतः (रस के आस्वाद से) तथा भूतगुणों से (द्रव्यारम्भक भूत गुणों से, वीर्य-विपाक आदि से) पहिचान ले ॥३३१॥

षष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः।
मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः ॥३३२॥

कहे हुए द्रव्यों में श्रेष्ठ द्रव्यों का विचार—

धान्यों में श्रेष्ठ—षष्टिक, यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), और लाल शालि, मूङ्ग, अरहर और मसूर श्रेष्ठ हैं ॥३३२॥

लावतित्तिरिसारङ्गकुरङ्गैणकपिञ्जलाः।
मयूरवर्मिकूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह ॥३३३॥

मांसवर्ग में श्रेष्ठ—लाव (बटेर), तित्तिरि, सारङ्ग, कुरङ्ग, ऐण, कपिञ्जल, मोर, वर्मि, कूर्म (कछुवा) श्रेष्ठ है ॥३३३॥

दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूपकम्।
राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते ॥३३४॥

फलवर्ग में श्रेष्ठ—अनार, आँवला, द्राक्षा, खजूर, फालसा, राजादन, बिजौरा श्रेष्ठ हैं ॥३३४॥

सतीनो वास्तुकश्चुच्चूचिल्लीमूलकपोतिकाः।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते ॥३३५॥

शाकवर्ग में श्रेष्ठ—सतीन (मटर), बथुवा, चुञ्चू, चिल्ली, मूलकपोतिका (वालमूली), मण्डूकपर्णी, जीवन्ती श्रेष्ठ है॥३३५॥

गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं सैन्धवं लवणेषु च।
धात्रीदाडिममम्लेषु, पिप्पली नागरं कटौ ॥३३६॥
तिक्ते पटोलवार्ताकं मधुरे घृतमुच्यते।
क्षौद्रं, पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम् ॥३३७॥
शर्करेक्षुविकारेषु, पाने मध्वासवौ तथा।

दूध और घी में गाय का दूध घी उत्तम है, नमकों में सैन्धव नमक, खटाई-अम्लरस में अनार और आँवला, कटुरस में पिप्पली और सोंठ, तिक्तरस में पटोल और बैंगन, मधुररस में घी और शहद, कषायरस में पूगफल (सुपारी) और फालसा, गन्ने के विकारों में शर्करा, आसवों में (मद्यों में), मृद्वीका और द्राक्षासव श्रेष्ठ हैं ॥३३७॥

परिसंवत्सरं धान्यं मांसं वयसि मध्यमे ॥३३८॥
अपर्युषितमन्नं तु संस्कृतं मात्रया शुभम्।
फलं पर्यागतं, शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ॥३३९॥

एक साल पुराने धान्य, मध्यम आयुवाले पशु का मांस, जिस पर रात नहीं बीती ऐसा एवं संस्कृती (भली प्रकार पका), मात्रा में (उचित अग्निबलानुसार) एवं शुभ (पवित्र), अन्न पर्यागत (पका पुष्ट) फल तथा अशुष्क (हरा), तरुण (मध्यम-वय) एवं नव (नया) शाक उत्तम है ॥३३८,३३९॥

अथ कृतान्नवर्गः।

अतः परं प्रवक्ष्यामि कृतान्नगुणविस्तरम्।
लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः ॥३४०॥
वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः।

इसके आगे "कृतान्न" वर्ग के गुणों को कहते हैं —

लाजमण्ड विशुद्ध (वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध हुए) रोगियों के लिये हितकारी है, पाचन एवं अग्निदीपक है। पिप्पली एवं सोंठ से युक्त लाजमण्ड वायु का अनुलोमक एवं हृदय के लिये प्रिय है[1]।

वि० मन्तव्य—किया-बनाया-पकाया हुआ अन्न-भोजन-'कृतान्न' कहलाता है। लाजमण्ड-भुने चावलों का मण्ड माण्ड पिच्छ। पेया—चावलों या जौ, गेहूँ का बनाया वह खाद्य जो पीने योग्य हो जैसे साबूदाना या वारली, इनमें चावल आदि घुले रहते हैं। विलेपी—जो खाद्य पेया से कुछ गाढा हो, कड़छुली में लिपता-सटता है, जैसे--फिरनी खिचड़ी आदि। यवागू विलेपी से भी गाढा खाद्य जैसे—दलिया आदि। ओदन-भात पकाए गये चावल आदि धान्य। ओदन के दो प्रकार—१-अप्रस्तुत-जिसका मण्ड पृथक् नहीं किया है—इसे "पिच्छमार भात" कहते हैं। २—सुप्रस्तुत भात जिसका मण्ड पृथक् कर दिया गया—चुआ दिया गया है। विधि भेद से ओदन के दो प्रकार—भृष्टतन्दुल-जो चावलों को थोड़ा भूनकर भात बनाया जाता है। अभृष्टतन्दुल-जो चावलों को बिना भूने बनाया जाता है। यह सब शालि एवं षष्टिक धान्यों के खाद्य हैं जो प्रायः रोगियों के लिये उपयोगी हैं। इनके भात एवं रोटियाँ आदि स्वस्थों के लिये बनते हैं। क्षीरोपसाधित दूध से पकाए चावल आदि जैसे खीर आदि। सूप—दालों-द्विदलों के खाद्य जो तरल रहते हैं वे सूप यूष तथा जूस कहे जाते हैं। यह पतली दाल है। परन्तु मूली आदि के पके रसों को भी "यूष" कहते हैं। कृशरा—शालि अथवा षष्टिक धान्य तथा द्विदल के योग से बना खाद्य-खिचड़ी आदि। शाक-पत्र पुष्प फल आदि वे पदार्थ जिनके शाक बनाए जाते हैं। स्विन्न-उबाला हुआ निष्पीडित--जिसका रस निचोड़ दिया गया है। स्नेह संस्कृत स्नेहघृत तैल आदि में छौंका हुआ ॥३४०॥

---

१ सोंठ और पिप्पली का योग—षडंग परिभाषा के अनुसार होना चाहिये। यथा—

"यदप्सु शृतशीतासु षडंगादि प्रयुज्यते।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि॥"

स्वेदाग्निजननी लघ्वी दीपनी वस्तिशोधनी ॥३४१॥
क्षुत्तृट्श्रमग्लानिहरी पेया वातानुलोमनी ।

पेया—स्वेद एवं अग्निजनक, लघु, अग्निदीपक, वस्तिशोधक (मूत्रल), क्षुत् (भूख), प्यास, श्रम और ग्लानि नाशक, एवं वायु का अनुलोमन करती है ॥३४१॥

विलेपी तर्पणी हृद्या ग्राहिणी[1] बलवर्धनी ॥३४२॥
पथ्या स्वादुरसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तृषापहा ।

विलेपी—(पेया से सान्द्र-चाटने योग्य)—तर्पणी (तृप्तिकारक), हृद्या (हृदय के लिये प्रिय), संग्राही, बलवर्धक, पथ्या (हितकारी), मधुररस, लघु, अग्निदीपक, भूख-प्यासनाशक है ॥

हृद्या संतर्पणी वृष्या बृंहणी बलवर्धनी ॥३४३॥
शाकमांसफलैर्युक्ता यवाग्वोऽम्लाश्च दुर्जराः ।

यवागू– हृदय के लिये प्रिय, सन्तर्पण (तृप्तिकारक) वृष्य (शुक्रल), बलवर्धक है । शाकमांस या फल के साथ पकाने से यवागू दुर्जर हो जाती है ॥३४३॥

सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।३४४।
विलेपी बहुसिक्था स्याद्यवागूर्विरलद्रवा ।

यवागू के भेद—

मण्ड—सिक्थ से रहित होता है, पेया—सिक्थ के साथ होती है । [2]विलेपी—बहुत सिक्थवाली है, [3]यवागू—विरलद्रव होती है ॥३४४॥

विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः ॥३४५॥

पायस—खीर विष्टम्भि, बलकारक, मेद-कफ को बढ़ाती है, और गुरु है ॥३४५॥

कफपित्तकरी बल्या कृशराऽनिलनाशनी ।

कृशरा—(तिल चावल और माष से बनाई) कफपित्तकारक, बलकारक और वायुनाशक है ।

धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोज्ञः सुरभिः समः ॥३४६॥

स्विन्नः सुप्रस्रुतस्तूष्णो विशदस्त्वोदनो लघुः ।

धौत (धुले हुए), निर्मल, शुद्ध, मनोहर, सुगन्धित और अच्छी तरह पके हुए और मांड निकाले हुए उष्ण चावल विशद और लघु होते हैं ॥३४६॥

अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ॥३४७॥

अधौत (न धोये), अप्रस्रुत (बिना मण्ड निकाले)–अस्विन्न (अधपके) शीतल-ओदन (भात) गुरु होता है ॥३४७॥

लघुः सुगन्धिः कफहा विज्ञेयो भृष्टतण्डुलः ।

भृष्ट तण्डुल (भूने चावल) का भात—लघु, सुगन्धि, कफनाशक है ।

स्नेहैर्मांसैः फलैः कन्दैर्विदलाम्लैश्च संयुताः ॥३४८॥
गुरवो बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः ।

स्नेह (घृत आदि), मांस, फल, कन्द, वैदल (शमी धान्य-दालें आदि) और क्षीर (दूध) में बनाये आहार गुरु, बृंहण (देहवर्धक) और बलकारक हैं ॥३४८॥

सुस्विन्नो निस्तुषो भृष्ट ईषत् सूपो लघुर्हितः ॥३४९॥

सुस्विन्न (भली प्रकार से उबाला), निस्तुष (बिना तुष के धुले), थोड़े भूने द्विदलों का सूप (दालें), लघु तथा हितकारी है ।

स्विन्नं निष्पीडितं शाकं हितं स्यात् स्नेहसंस्कृतम् ।
अस्विन्नं स्नेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ॥३५०॥

स्विन्न (जोश दिया), निष्पीड़ित (निचोड़ा) और घी आदि स्नेह द्वारा संस्कृत शाक हितकारी है । अस्विन्न, स्नेहरहित, एवं बिना निचोड़ा (जिसमें पानी रह गया) शाक अहितकारी है ।

मांसं स्वभावतो वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् ।
स्नेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह ॥३५१॥
सिद्धं मांसं हितं बल्यं रोचनं बृंहणं गुरु ।

मांस—स्वभाव से ही वृष्य (शुक्रल), स्नेहन, बलवर्धक है । यही मांस स्नेह (घृत आदि), गोरस (दही आदि), धान्याम्ल (काञ्जी आदि), फलाम्ल (अनार आदि), कटुक (मरिच आदि) के साथ सिद्ध करने पर, हितकारी, बलकारक, रोचक, बृंहण (देहवर्धक) और गुरु है ।

वि० मन्तव्य—स्वभावतः कच्चा मांस, सिद्धमांस—घृत, दही डालकर बनाया मांस—रसेदार मांस ॥३५१॥

तदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम् ॥३५२॥
विद्यात्पित्तकफोद्रेकी बलमांसाग्निवर्धनम् ।

यही मांस—पाक काल में सुगन्धित (त्वग्-इलायची आदि) द्रव्यों के साथ मिलाकर, तथा उपयोग काल में गोरस[1] (दही या छाछ) के साथ मिलाकर उपयोग करने पर, कफ-पित्त को बढ़ाता है, बल, मांस और अग्नि का वर्धक है ॥३५२॥

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी—'हृद्या ग्राहिणी' आदि पाठ नहीं पढ़ते । इसके स्थान पर—'वस्तिसंशोधनी वृष्या ज्वरातिसारयोर्हिता' यह पढ़कर विलेपी के गुण मानते हैं ।

२ 'विलेपी बहुसिक्था स्यात्' के स्थान पर 'यवागू बहुसिक्था स्यात्' यह पाठ करते हैं । यह चरक के अनुसार है । परिभाषा—

"अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे ।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागू षड्गुणेऽम्भसि ॥"

डल्हणाचार्य ने—'मण्डं पञ्चगुणे तोये, यवागूं षड्गुणे पचेत् । चतुर्दशगुणे पेया विलेपी तु चतुर्गुणे ॥' यह पाठ दिया है ।

३ चतुर्विधं भवेद् भक्तं जलदानप्रमाणतः । तत्र भक्तं विलेपी च यवागू पेयया सह ॥

१ गोरस शब्द से—दही और तक्र का ही ग्रहण है, दूध का नहीं, क्योंकि दूध मांसरस के साथ नहीं मिलता । यथा—

परिशुष्कं[1] स्थिरं स्निग्धं हर्षणं प्रीणनं गुरु ॥३५३॥
रोचनं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवर्धनम् ।

शुष्क मांस को सिद्ध करने पर—स्थिर (कठिन), स्निग्ध, हर्षण (हर्षोत्पादक), प्रीणन (पुष्टिकारक), गुरु, रोचक, बल, मेधा, अग्नि, मांस, ओज तथा शुक्रवर्धक है ।

वि० मन्तव्य—परिशुष्क मांस—पकाया हुआ वह मांस जो सूखा हो जैसे—लबाब आदि ॥३५३॥

तदेवोल्लुप्तपिष्टत्वादुल्लुप्तमिति पाचकाः ॥३५४॥

इससे परिशुष्क मांस को पहिले खूब अच्छी प्रकार से काट-कर, पीछे से पीस लिया जाये, तो उल्लुप्त पिष्ट होने के कारण पाचक (रसोइये) इसको 'उल्लुप्त' मांस कहते हैं ।

वि० मन्तव्य—उल्लुप्त-मांस को काट-काट कर लुगदी बना, नमक, मसाला मिलाकर पकाया गया ॥३५४॥

परिशुष्कगुणैर्युक्तं वह्नौ पक्वामतो लघु ।

यह मांस आग पर पकाने से, परिशुष्क मांस के समान गुणोंवाला तथा लघु होता है ।

तदेव शूलिकाप्रोतमङ्गारपरिपाचितम् ॥३५५॥
ज्ञेयं गुरुतरं किंचित् प्रदिग्धं गुरुपाकतः ।

यही उल्लुप्त मांस—शलाकाओं पर लगाकर—अंगारों पर पकाने से (शूलाकृत मांस), तथा स्नेह (घृत आदि), धान्याम्ल तक्रादि से मिला होने पर, गुरुपाक होने से कुछ गुरुपाक है, इसका नाम "प्रदिग्ध" है ।

वि० मन्तव्य—प्रदिग्ध-उल्लुप्त-मांस को लोह की शलाका सरिया पर लपेटकर अंगारों पर पकाया जाता है । इसे "शूल्य" भी कहते हैं ॥३५५॥

उल्लुप्तं भर्जितं पिष्टं प्रतप्तं कन्दुपाचितम् ॥३५६॥
परिशुष्कं प्रदिग्धं च शूल्यं यच्चान्यदीदृशम् ।
मांसं यत्तैलसिद्धं तद्वीर्योष्णं पित्तकृद् गुरु ॥३५७॥
लघ्वग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं दृष्टिप्रसादनम् ।
अनुष्णवीर्यं पित्तघ्नं मनोज्ञं घृतसाधितम् ॥३५८॥

उल्लुप्त (छेद करके पीसा), भर्जित (भूना), पिष्ट (पीसा), प्रतप्त (गरम किया), कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध और शूल्य एवं इस प्रकार के अन्य सब मांस, तैल में सिद्ध किये जाने पर—उष्णवीर्य, पित्तकारक और गुरु हैं । घी में सिद्ध होने पर, लघु अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, रुचिकारक, आंखों की ज्योति बढ़ाते हैं, अनुष्णवीर्य, पित्तनाशक, मन के लिये सुन्दर होते हैं[1] ॥३५६–३५८॥

प्रीणनः प्राणजननः श्वासकासक्षयापहः ।
वातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः ॥३५९॥
स्मृत्योजःस्वरहीनानां स्वरक्षीणक्षतोरसाम् ।
भग्नविश्लिष्टसन्धीनां कृशानामल्परेतसाम् ॥३६०॥
आप्यायनः संहननः शुक्रदो बलवर्धनः ।

मांसरस—प्रीणन (पुष्टिकारक), प्राणदायक, श्वासकासक्षय-नाशक, वायु-पित्त-श्रमहर, हृदय के लिये प्रिय है । स्मृति, ओज, तथा स्वर से हीन पुरुषों के लिये हितकारी, ज्वर से क्षीण, क्षत (उरःक्षत) रोगियों के लिये उत्तम है । भग्न एवं सन्धि भ्रंश में हितकारी है, कृश एवं अल्पवीर्यवालों को स्वास्थ्यदायक है । आप्यायन (देह को बढ़ानेवाला), संहनन (सन्धानकारक), शुक्र, ओज और बल को बढ़ाता है ।

वि० मन्तव्य—मांस रस—रसेदार मांस का रस जो शोरवा कहलाता है, जैसे आलू आदि का रस्सा । अथवा मांस का स्वरस ॥३५९,३६०॥

स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोषनाशनः ॥३६१॥
प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम् ।
क्षुत्तृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरावः स्वादुशीतलः ॥३६२॥

इस मांसरस को अनार के साथ मिलाकर खाने से वृष्य (शुक्रवर्धक) है, कटुरस (मरिच आदि) से संस्कृत होने पर—दोषनाशक (त्रिदोषनाशक) है । शोरवा[2] (सौराव)—प्रीणन (सब प्राणियों के लिये पुष्टिकारक), खासकर मुखशोषवाले रोगियों के लिये उत्तम है । भूख-प्यास को हटाता है । उत्तम तथा मधुर एवं शीतल है ।

वि० मन्तव्य—मांस रस को यदि छौंक दिया जाता है, तथा उसमें अम्लता के लिये अनारदाना डाला जाता है तो वह "सौराव" कहलाता है ॥३६१,३६२॥

यन्मांसमुद्धृतरसं न तत् पुष्टिबलावहम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥३६३॥

"शाकाम्लपलपिण्याककुलत्थलवणामिषैः ।
करीरदधिमाषैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते ॥"

१ परिशुष्क मांस—
"सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु ।
जीरकाद्यैर्युतं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते ॥"

१ "भर्जितं स्याद् घृतादौ तु पिष्ट्वा यत्साधितं पुनः ।
अपूपादिकृतं पिष्टं दधिदाडिमसौरभैः ॥
सिद्धं साज्यैस्तथाजाजीसामुद्रमरिचैरपि ।
अंगारादिषु यत्पक्वं प्रतप्तं तदुदाहृतम् ॥
पिशितं सौरभैर्लिप्तं कन्दुपक्वं मधुप्रभम् ।
राजिकाकल्कलिप्तं च कन्दुपाचितमुच्यते ॥
हिंगूदके परिक्षिप्तं शूले निष्पीडितं ततः ।
सिक्त्वा सिक्त्वाम्बुधाराभिः विधूमेऽग्नौ प्रतापयेत् ॥
फलाम्लेनापि यत्पक्वं शूल्यं तत् सौरभान्वितम् ॥"

२ 'कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां प्राणिनामपि ।'
यह गुण शोरवे के माने गए हैं ।

जिस मांस में से रस निकाल लिया है, वह मांस—पुष्टि एवं बलकारक नहीं होता। विष्टम्भि, पचने में दुर्जर रूक्ष, रस रहित और वायु कारक होता है ॥३६३॥

दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः खानिष्कस्तु परं गुरुः।

खानिष्क (शुष्क मांस को पीसकर तैयार किया)—अत्यन्त गुरु है, इसलिये जिनकी अग्नि दीप्त होती है, उन रोगियों के लिये पथ्य है ॥

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम् ॥३६४॥
पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम्।
ऐकध्यं पाचयेत् सम्यग्वेसवार इति स्मृतः ॥३६५॥
वेसवारो गुरुःस्निग्धो बल्यो वातरुजापहः।

वेसवार अस्थि रहित मांस को थोड़ा-सा जोश देकर शिला पर पीस लेना चाहिये। इसमें पिप्पली, मरिच, सोंठ, गुड़ और घी मिलाकर एक साथ पकाने से वेसवार बनता है। यह वेसवार[१]—गुरु, स्निग्ध, बलकारक और वातरोगनाशक है ॥

कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां व्रणिनामपि ॥३६६॥
ज्ञेयः पथ्यतमश्चैव मुद्गयूषः कृताकृतः।

मूङ्ग का यूष—कफनाशक, अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध व्रणियों के लिये हितकारी है। कृत-अकृत (लवण मरिच द्वारा संस्कृत या असंस्कृत)—मूङ्ग यूष—अतिशय पथ्य है।

वि० मन्तव्य—कृतयूष—जो मरिच हींग आदि से छौंका हुआ हो, अकृत—छौंका न गया हो ॥३६६॥

स तु दाडिममृद्वीकायुक्तः स्याद्रागषा (खा) डवः॥
रुचिष्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृत्।

इस मूङ्ग के यूष में दाड़िम (अनार) और मृद्वीका (किसमिस) को मिलाने से 'रागषाडव' बनता है। यह राग खाडव-रुचिकारक, लघुपाक, वात आदि दोषों का थोड़ा शमन करता है ॥३६७॥

मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः ॥३६८॥
कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शस्यते।

मसूर, मूङ्ग, गेहूँ, कुलत्थी तथा नमक से तैयार किया पञ्चक यूष—कफ-पित्त का अविरोधी तथा वायु रोग में उत्तम है। (मूङ्ग और मसूर का यूष वायु में, मसूर, मूङ्ग, गेहूँ, इन तीनों का यूष पित्तनाशक, और पाँचों का यूष कफनाशक है)॥

मृद्वीकादाडिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलार्दिते ॥३६९॥
रोचनो दीपनो हृद्यो लघुपाक्युपदिश्यते।

इसी पंचक यूष में मृद्वीका और अनार का योग होने से, अतीव वायुनाशक हो जाता है। रुचिकारक, अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, लघुपाकी है ॥३६९॥

पटोलनिम्बयूषौ तु कफमेदोविशोषिणौ ॥३७०॥
पित्तघ्नौ दीपनौ हृद्यौ कृमिकुष्ठज्वरापहौ।

पटोल (परवल) और नीम का यूष—कफ और मेद को सुखाता है। पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, कृमि-कुष्ठ-ज्वरनाशक है ॥३७०॥

श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान् ॥३७१॥
हन्ति मूलकयूषस्तु कफमेदोगलग्रहान्।

मूलक यूष (बाल-शुष्क मूली का यूष)—श्वास, कास, प्रतिश्याय, प्रसेक (लालास्राव), अरोचक, ज्वरनाशक है। एवं कफ-मेद और गले के रोगों को नष्ट करता है ॥३७१॥

कुलत्थयूषोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः ॥३७२॥
तूणीप्रतूणीकासार्शोगुल्ममेदःकफापहः।

कुलत्थी का यूष—वायुनाशक, श्वास-पीनस नाशक है। तूणी-प्रतूणी, कास, अर्श, गुल्म, मेद और कफनाशक है ॥

दाडिमामलकैर्यूषो हृद्यः संशमनो लघुः ॥३७३॥
प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नो वात पित्तजित्।

अनार और आँवले का यूष—हृदय के लिये प्रिय, संशमन (बिना वमन और बिना विरेचन के वहीं पर स्थित दोषों का शमन करता है), लघु है। प्राण-अग्निजनक, मूर्च्छा-मेद-नाशक पित्त वायु को नष्ट करता है ॥३७३॥

मुद्गामलकयूषस्तु ग्राही पित्तकफे हितः ॥३७४॥

मूङ्ग और आँवले का यूष—संग्राही, पित्त और कफरोग में हितकारी है ॥३७४॥

यवकोलकुलत्थानां यूषः कण्ठ्योऽनिलापहः।

यव (जौ), कोल (बेर) और कुलत्थी का यूष—गले के लिये हितकारी और वायुनाशक है ॥३७४॥

सर्वधान्यकृतस्तद्वद्बृंहणः प्राणवर्धनः ॥३७५॥

सब धान्यों (शूक धान्यों एवं शमीधान्यों) से बनाया यूष बृंहण (देहवर्धक) है। इसीको 'नवपुष्टि यूष' कहते हैं ॥३७५॥

खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ।

[१]खड और काम्बलिक-यूष-हृदय के लिये प्रिय, वायु-कफ में हितकारी है।

---

१ 'प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम्'—वेशवार के ये गुण कविराज हराणचन्द्र जी ने माने हैं।

१ खडयूष दो प्रकार का है—
एक-सतक्रशमीधान्य और दूसरा-सतक्र शाक।
"सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि संग्राहकाणि खलानि ॥"
"कपित्थ तक्र-चांगेरी मरिचाजाजि-चित्रकैः।
सुपक्वः खडयूषोऽयं तथा काम्बलिकोऽपरः॥
दध्यम्ल-लवण-स्नेह-तिल-माष-समन्वितः॥"
मतान्तरे-तिलं सुलुञ्चितं कृत्वा पिष्टं क्षीरे त्र्यहोषितम्।
परे पूतं पचेद् धीमान् आर्द्रकोत्यापिते ततः॥
मरिचाजाजिसामुद्रैः युक्तः तिलखडो भवेत्॥

बल्यः कफानिलौ हन्ति दाडिमाम्लोऽग्निदीपनः ।।३७६।।
दध्यम्लः कफकृद्बल्यः स्निग्धो वातहरो गुरुः ।
तक्राम्लः पित्तकृत् प्रोक्तो विषरक्तप्रदूषणः ।।३७७।।

अनार के द्वारा खट्टा किया यूष—बलकारक, कफ-वायु-नाशक है। दही से खट्टा यूष कफकारक, बलकारक, स्निग्ध, वायुनाशक और गुरु है। तक्र से खट्टा किया—पित्तकारक, विषरक्त प्रदूषक है ।।३७६,३७७।।

खडाः खडयवाग्वश्च षा (खा) डवाः पानकानि च ।
एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ।।३७८।।

खड़, खडयवागू, षाडव[1], पानक (इमली द्राक्षादि से बनाये) आदि वस्तुयें वैद्य की आज्ञा से बनाई जाती हैं ।।३७८।।

अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ।।३७९।।

अकृत (असंस्कृत)—स्नेह (घी), नमक और कटु (शुण्ठी) आदि के विना सब असंस्कृत हैं। नमक, स्नेह और शुण्ठी के साथ संस्कृत (कृत यूष) हैं ।।३७९।।

अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरम्लितं च यत् ।
यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ।।३८०।।

गोरस (दही या छाछ), धान्याम्ल, फलाम्ल, इनके साथ मिला मांसरस, संस्कृत की अपेक्षा असंस्कृत (मांसरस) अधिक लघु एवं हितकारी है। गोरस से संस्कृत की अपेक्षा धान्याम्ल, धान्याम्ल की अपेक्षा फलाम्ल अधिक लघु एवं हितकारी है ।।

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।

काम्बलिक यूष का लक्षण–दही-मछलियाँ और अम्ल (खटाई) द्वारा सिद्ध यूष—काम्बलिक यूष—है।

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ।।३८१।।
सिण्डाकी च गुरूणि स्युः कफपित्तकराणि च ।

तिल–विकृति (मोदकादि), पिण्याक विकृति, शुष्क शाक, विरूढ (अंकुरित धान्य), सिण्डाकी (मूली आदि शाकों को कुछ उबालकर-कूटकर दालचीनी इलायची सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिलाकर वटक बनाने से सिण्डाकी होती है), ये गुरु तथा कफ-पित्तकारक हैं ।।३८१।।

तद्वच्च वटकान्याहुर्विदाहीनि गुरूणि च ।।३८२।।

वटक—उसी प्रकार गुरु और विदाही हैं ।।३८२।।

लघवो बृंहणा वृष्या हृद्या रोचनदीपनाः ।
तृष्णामूर्च्छाभ्रमच्छर्दिश्रमघ्ना रागषाडवाः ।।३८३।।

[1]रागषाडव—लघु, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य, हृदय के लिये प्रिय, रोचक, अग्निदीपक, तृष्णा-मूर्च्छा-भ्रम वमन और श्रम के नाशक हैं ।।३८३।।

रसाला बृंहणी बल्या स्निग्धा वृष्या च रोचनी ।

[2]रसाला—बृंहण (देहवर्धक), बलकारक, स्निग्ध, वृष्य रोचक है।

स्नेहनं गुडसंयुक्तं हृद्यं दध्यनिलापहम् ।।३८४।।

गुड़युक्त दही—स्नेहन, हृदय के लिये प्रिय और वायु-नाशक है ।।३८४।।

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः ।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते ।।३८५।।
मन्थः सद्योबलकरः पिपासाश्रमनाशनः ।

मन्थ—जौ के सत्तू को घी में मसलकर, ठण्डे पानी में, न तो बहुत पतले और न बहुत सान्द्र घोलने से मन्थ बनता है। यह मन्थ—सद्यः (तुरन्त) बलकारक, पिपासा-श्रमनाशक है ।।

साम्लस्नेहगुडो मूत्रकृच्छ्रोदावर्तनाशनः ।।३८६।।
शर्करेक्षुरसद्राक्षायुक्तः पित्तविकारनुत् ।
द्राक्षामधूदकयुतः कफरोगनिबर्हणः ।।३८७।
वर्गत्रयेणोपहितो मलदोषानुलोमनः ।

यही मन्थ–अम्ल (खटाई), स्नेह और गुड़ के साथ मिल-कर—मूत्रकृच्छ्र, उदावर्त्त (वातोदावर्त्त आदि) नाशक है। शर्करा, इक्षुरस और द्राक्षा से मिला मन्थ—पित्तरोग नाशक द्राक्षा और मधूक (महुवे) के साथ संयुक्त मन्थ-कफ रोग को नष्ट करता है। तृतीयवर्ग (अम्ल-स्नेह और गुड़) से मिला मन्थ-मल-मूत्र के दोष (अवरोध) को नष्ट करता है ।।३८६,३८७।।

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम् ।।३८८।।
तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः ।
साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ।।३८९।।

गुड़ से बना—खट्टा या बिना अम्ल के–पानक (शर्बत)-गुरु और मूत्रल है। यदि इस गुड़ के शर्बत में—खाण्ड, मृद्वीका, शर्करा, अम्ल (इमली आदि), तीक्ष्ण (मरिचादि), हिम (कर्पूर), मिला दिया जाये तो अत्यन्तश्रेष्ठ हो जाता है ।।

काम्बलिकः यूषः—
"दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।
पुनः सौवर्चलाजाजीबीजपूरकसैरभैः ।।
संयोज्य मथितः स्वच्छ एष काम्बलिको भवेत् ।।"

१ षाडव—"स्पष्टाम्लमधुरोऽस्पष्टकषायलवणोषणः ।
अतिक्तः षाडवःकोलकपित्थाद्युपर्वं हितः ।।"

१ रागषाडव—सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः ।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ।।

२ रसाला—अर्द्धाढकः सुचिरपर्य्युषितस्य दध्नः,
खण्डस्य षोडश पलानि शशिप्रभस्य ।
सर्पिः पलं मधु पलं मरिचं द्विकर्षम्
शुण्ठ्याः पलार्धमपि चार्द्धपलं विडस्य ।।
सूक्ष्मे पटे सुविमले मृदुपाणिघृष्टा-
कर्पूरधूलिसुरभीकृतपात्रसंस्था ।।
एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला ।।

मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम् ।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥३९०॥

मृद्वीका (किशमिस) से बना शर्बत—श्रमनाशक, मूर्च्छा, दाह, तृषानाशक है। फालसे और बेरों का बना शर्बत-हृदय के लिये प्रिय और विष्टम्भि होता है ॥३९०॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मात्रां च सर्वतः ।
पानकानां यथायोगं गुरुलाघवमादिशेत् ॥३९१॥
इति कृतान्नवर्गः ।

सब पानकों में द्रव्यसंयोग तथा संस्कार एवं मात्रा को जानकर—पानकों का गुरु लाघव समझना चाहिये। यह कृतान्नवर्ग कह दिया ॥३९१॥

अथ भक्ष्यवर्गः ।

वक्ष्याम्यतः परं भक्ष्यान् रसवीर्यविपाकतः ।

इसके आगे भक्ष्य (लड्डू आदि) वस्तुओं का रस, वीर्य, विपाक कहते हैं।

भक्ष्याः क्षीरकृता बल्या वृष्या हृद्याः सुगन्धिनः ॥३९२॥
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ।

गेहूँ आदि के आटे को दूध में सिद्ध करके बनाये भक्ष्य बलकारक, शुक्रवर्धक, हृदय के लिये प्रिय सुगन्धित, अदाही (ईषद् दाह युक्त), पुष्टिकारक, अग्निदीपक, और पित्तनाशक हैं।

वि० मन्तव्य—भक्ष्य वे कहे जाते हैं जो स्वस्थों का आहार हैं। इस प्रकरण में उन्हीं का वर्णन किया गया है ॥

तेषां प्राणकरा हृद्या घृतपूराः कफावहाः ॥३९३॥
वातपित्तहरा वृष्या गुरवो रक्तमांसलाः ।

घृतपूर[1]—प्राणकारक, हृदय के लिये प्रिय, कफकारक, वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल), गुरु, रक्त और मांस के वर्धक हैं ॥३९३॥

बृंहणा गौडिका भक्ष्या गुरवोऽनिलनाशनाः ॥३९४॥
अदाहिनः पित्तहराः शुक्रलाः कफवर्धनाः ।

गौडिक (गुड़ प्रधान) भक्ष्य—बृंहण (देहवर्धक) भक्ष्य, गुरु, वायुनाशक, अदाहि, पित्तनाशक, शुक्रल और कफवर्धक हैं।

मधुशीर्षकसंयावाः पूपा ये ते विशेषतः ॥३९५॥
गुरवो बृंहणाश्चैव मोदकास्तु सुदुर्जराः ।
रोचनो दीपनः स्वर्यः पित्तघ्नः पवनापहः ॥३९६॥

मधुमस्तक (मधुशीर्षक), संयाव[2] पूप—गुरु, देहवर्धक है। मोदक (लड्डू)—दुर्जर हैं, रोचन, अग्निदीपक, स्वरभङ्ग के लिये हितकारी, पित्तनाशक, वायु को दूर करते हैं ३९५,३९६

१ घृतपूर—"मर्दिता समिताः क्षीरा नालिकेरसितादिभिः ।
अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते ॥"
२ संयाव—"समितां मधुदुग्धेन माधुर्यत्वात् शुभाननः ।
पचेद् घृतोत्तरे भाण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः ।
संयावोऽसौ युतश्चूर्णैः खण्डैलमरिचार्द्रकैः ॥"

गुरुर्मृष्टतरश्चैव सट्टकः प्राणवर्धनः ।
हृद्यः सुगन्धिमधुरः स्निग्धः कफकरो गुरुः ॥३९७॥

सट्टक[1]—गुरु, अतिमिष्ट और प्राणवर्धक हैं। हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, मधुर, स्निग्ध, कफकारक गुरु हैं ॥३९७॥

वातापहस्तृप्तिकरो बल्यो विष्यन्द उच्यते ।
बृंहणा वातपित्तघ्ना भक्ष्या बल्यास्तु सामिताः ॥३९८॥

विष्यन्दि[2]—वायुनाशक, तृप्तिकारक, बलकारक हैं। सामित (गेहूँ के आटे से बने भक्ष्य)—बृंहण (देहवर्धक), वात-पित्तनाशक, बलकारक हैं ॥३९८॥

हृद्याः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकादयः ।
मुद्गादिवेसवाराणां पूर्णा विष्टम्भिनो मताः ॥३९९॥

फेनकादि[3]—हृदय के लिये प्रिय, अतिशय पथ्यकारक और लघु हैं। मूङ्ग आदि धान्य तथा वेसवार से भरे पूप (रोटी, गुझिया, कचौरी आदि) विष्टम्भि होते हैं ॥३९९॥

वेसवारैः सपिशितैः संपूर्णा गुरुबृंहणाः ।
पाललाः श्लेष्मजननाः, शष्कुल्यः कफपित्तलाः ॥४००॥

मांसयुक्त वेसवार से भरे पूप-गुरु और देहवर्धक हैं। पालल (तिल पिष्ट एवं गुड़ से बने) कफजनक हैं, शष्कुली (पूरी) कफ-पित्तकारक हैं ॥४००॥

वीर्योष्णाः पैष्टिका भक्ष्याः कफपित्तप्रकोपणाः ।
विदाहिनो नातिबला गुरवश्च विशेषतः ॥४०१॥

पैष्टिक (उड़द की पिट्ठी से बने)—भक्ष्य उष्णवीर्य, कफ-पित्तप्रकोपक, विदाही, ईषद् बल कारक, और खासकर गुरु हैं ॥

वैदला लघवो भक्ष्याः कषायाः सृष्टमारुताः ।
विष्टम्भिनः पित्तसमाः श्लेष्मघ्ना भिन्नवर्चसः ॥४०२॥
बल्या वृष्यास्तु गुरवो विज्ञेया माषसाधिताः ।

वैदल (दाल आदि से बने) भक्ष्य—लघुकषायरस, वायु को प्रवृत्त करते हैं। उड़द से बने भक्ष्य—विष्टम्भि, पित्त के समान, कफनाशक, मलप्रवर्त्तक (विरेचक), बलकारक, वृष्य एवं गुरु होते हैं ॥४०२॥

कूर्चिकाविकृता भक्ष्या गुरवो नातिपित्तलाः ॥४०३॥

(फटे दूध के जमने से उत्पन्न कूर्चिका से बने) भक्ष्य-गुरु और ईषत् पित्तकारक हैं ॥४०३॥

१ सट्टक—'लवंग व्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम् ।
दाडिमं बीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम् ।
सट्टकं सुप्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् ॥"
२ विष्यन्द—'आमं गोधूमचूर्णं च सर्पिक्षीरगुणान्वितम् ।
नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः ।'
३ फेनका—'विमर्द्य विमलां शुक्लां समितां नातिशर्कराम् ।
संवेष्टनाय गर्भार्थं खरपाकं घृते पचेत् ।
फेनकं फेनसंकाशं सम्पूर्णं शशिसन्निभम् ॥'

विरूढकक्कृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तलाः ।
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः ॥४०४॥

विरूढक (अंकुरित) धान्यों से बनाये भक्ष्य—गुरु, वायु-पित्तकारक हैं । विदाही, उत्क्लेश (जीमचलाना), रूक्ष हैं । दृष्टि (आँखों) को दूषित करते हैं ॥४०४॥

हृद्याः सुगन्धिनो भक्ष्या लघवो घृतपाचिताः ।
वातपित्तहरा बल्या वर्णदृष्टिप्रसादनाः ॥४०५॥

घी में तले (संस्कृत) भक्ष्य-हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, लघु, वात-पित्तनाशक, बलकारक, वर्ण-एवं दृष्टि को स्वच्छ करते हैं ॥४०५॥

विदाहिनस्तैलकृता गुरवः कटुपाकिनः ।
उष्णा मारुतदृष्टिघ्नाः पित्तलास्त्वक्प्रदूषणाः ॥४०६॥

तैल में संस्कृत भक्ष्य—विदाही, गुरु, कटुविपाक, उष्ण, वायुनाशक, दृष्टि को हानि पहुँचानेवाले, पित्तकारक, त्वचा को दूषित करनेवाले हैं ॥४०६॥

फलमांसेक्षुविकृतितिलमाषोपसंस्कृताः ।
भक्ष्या बल्याश्च गुरवो बृंहणा हृदयप्रियाः ॥४०७॥

फलवर्ग, मांसवर्ग, इक्षुविकार, तिल, माष से संस्कृत भक्ष्य बलकारक, गुरु, बृंहण (देहवर्धक) और हृदय के लिये प्रिय हैं ॥

कपालाङ्गारपक्वास्तु लघवो वातकोपनाः ।
सुपक्वास्तनवश्चैव भूयिष्ठं लघवो मताः ॥४०८॥

कपाल (मिट्टी के ठीकरे) पर पकाये भक्ष्य—अतिशय लघु और वायुकोपक हैं । अच्छी प्रकार से पके भक्ष्य—पतले-फुलके सूक्ष्म और लघु हैं ॥४०८॥

सकिलाटादयो भक्ष्या गुरवः कफवर्धनाः ।
कुल्माषा वातला रूक्षा गुरवो भिन्नवर्चसः ॥४०९॥
उदावर्तहरो वाट्यः कासपीनसमेहनुत् ।
धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः ॥४१०॥

किलाट (क्षीर कूर्चिका पिण्ड) के संयोग से बने भक्ष्य गुरु और कफवर्धक हैं । कुल्माष—वायुकारक, रूक्ष, गुरु और मल विरेचक हैं । वाट्यिाँ—उदावर्त्तनाशक, कास-पीनस एवं प्रमेह के नाशक हैं । धान (भूने जौ), उलुम्बा (होले)—लघु, कफ एवं मेद को शुष्क करते हैं ॥४०९,४१०॥

शक्तवो बृंहणा वृष्यास्तृष्णापित्तकफापहाः ।
पीताः सद्योबलकरा भेदिनः पवनापहाः ॥४११॥

शक्तु—(जौ आदि के सत्तू)देहवर्धक, वृष्य (शुक्रवर्धक), तृष्णा-पित्त और कफनाशक है । पीने पर तुरन्त बल शक्ति आती हैं, भेदि (विरेचक) और वायु को नष्ट करते हैं ॥४११॥

गुर्वी पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वी सैव विपर्ययात् ।
शक्तूनामाशु जीर्येत मृदुत्वादवलेहिका ॥४१२॥

अत्यन्त खर (कठिन) पिण्डी गुरु होती हैं, विपर्यय से (मृदु) पिण्डी लघु हैं । सत्तुओं की अवलेहिका कोमल होने से शीघ्र जीर्ण हो जाती है ॥४१२॥

लाजाश्छर्द्यतिसारघ्ना दीपनाः कफनाशनाः ।
बल्याः कषायमधुरा लघवस्तृण्मलापहाः ॥४१३॥

लाज—(भूनने पर खिले धान्य) छर्दि (वमन) और अतिसार नाशक, अग्निदीपक, कफ को नष्ट करते हैं, बलकारक, कषाय, मधुर, तृषा और मल के नाशक हैं ॥४१३॥

तृट्छर्दिदाहघर्मार्तिनुदस्तत्सक्तवो मताः ।
रक्तपित्तहराश्चैव दाहज्वरविनाशनाः ॥४१४॥

लाजसक्तु—तृषा, छर्दि, दाह, घर्मार्ति (गर्मी का दुःख), को नष्ट करते हैं । रक्तपित्तनाशक, दाह ज्वरनाशक हैं ॥४१४॥

पृथुका गुरवः स्निग्धा बृंहणाः कफवर्धनाः ।
बल्याः सक्षीरभाधात्तु वातघ्ना भिन्नवर्चसः ॥४१५॥

पृथुक (चौले—चूडा गीले शालि धान्यों के थोड़ासा भूनकर ऊखल में कूटने से बनाये)—गुरु, स्निग्ध देहवर्धक और कफ को बढ़ाते हैं बल कारक हैं । दूध में मिलाकर खाने से, वायुनाशक और मल का रेचन करते हैं ॥४१५॥

संधानकृत् पिष्टमामं ताण्डुलं कृमिमेहनुत् ।

धान्यपिष्ट—आम (नया-अपक्व) पीसा धान्य भग्न को जोड़ता है । तण्डुल-कृमि और प्रमेह को नष्ट करता है[1] ।

सुदुर्जरः स्वादुरसो बृंहणस्तण्डुलो नवः ॥४१६॥

नया चावल (तण्डुल)—पचने में दुर्जर, मधुररस और देहवर्धक है ॥४१६॥

सन्धानकृन्मेहहरः पुराणस्तण्डुलः स्मृतः ।

पुराना चावल--भग्न अंग को जोड़ता है प्रमेह नाशक है ।

यदाकारणमासाद्य भोक्तृणां छन्दतोऽपि वा ॥४१७॥
भक्ष्यादयः प्रकल्प्याः स्युस्तदा सुनिपुणो भिषक् ।
द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेक्ष्य च ।
अनेकद्रव्ययोनित्वाच्छास्त्रतस्तान् विनिर्दिशेत् ॥४१८॥

इति भक्ष्यवर्गः ।

जिस कारण (दोष रोग प्रतिकार रूपी कारण) से अथवा भोक्ता (खानेवालों की) इच्छानुसार, भक्ष्य आदि बनाये गये हों, उस—भक्ष्य द्रव्य के अनेक द्रव्य उत्पत्ति कारण होने से, द्रव्य, संयोग, संस्कार एवं विकारों (परिवर्त्तनों) को शास्त्र दृष्टि से विचारकर, इन भक्ष्य द्रव्यों के गुणों को कहना चाहिये ॥

अतः सर्वानुपानान्युपदेक्ष्यामः ।—

इसके आगे संपूर्ण अनुपानों को (अन्न के पीछे पिये जानेवाली वस्तुओं को) कहते हैं[2] ।

१ यह पाठ कविराज हाराणचन्द्र जी ने नहीं पढ़ा ।

२ अनुपान का गुण—
दोषवद् गुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा ।
यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्य्यति ॥

अम्लेन केचिद्विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति ।
तथाऽम्लयोगे मधुरेण तृप्तास्तेषां यथेष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥

अम्लरस से उबकाये (उद्विग्न) हुए बहुत से मनुष्य-मधुररस के उपयोग से सुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार मधुररस से तृप्त मनुष्य अम्लरस के योग में दुःखी होते हैं, यही इनकी इच्छानुसार पथ्य है ॥४१९॥

शीतोष्णतोयासवमद्ययूषफलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम् ।
यस्यानुपानं तु हितं भवेद्यत्तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत् ॥
व्याधिं च कालं च विभाव्य धीरै-
र्द्रव्याणि भोज्यानि च तानि तानि ।
सर्वानुपानेषु वरं वदन्ति
मेध्यं यदम्भः शुचिभाजनस्थम् ॥४२१॥

अनुपान द्रव्य—

शीत जल, उष्ण जल, आसव (द्रव प्रधान) द्रव्य प्रधान-मद्य, यूष, फलाम्ल, धान्याम्ल, (कांजी), पय (दूध), रस (मांसरस), जो अनुपान हितकारी हो, वही उस पुरुष को उचित मात्रा में देना चाहिये। व्याधि (व्रण-ज्वरादि), काल (आवस्थिक और आर्त्तव), इनको विशेष रूप से जानकर, द्रव्य (तैलादि), भोज्य (रक्त शालि आदि), इन सब को तर्क द्वारा जानकर अनुपान देना चाहिये।

सब अनुपानों में श्रेष्ठ अनुपान—पवित्र पात्र में रक्खा, [1]मेध्य (अन्तरिक्ष) का) जल है ॥४२०,४२१॥

लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं
तोयात्मकाः सर्वरसाश्च दृष्टाः ।
सङ्क्षेप एषोऽभिहितोऽनुपाने-
ष्वतः परं विस्तरतोऽभिधास्ये ॥४२२॥

कारण—संसार के (मनुष्यों के) जन्मकाल से प्रारम्भ करके यही जल उत्तम है, सब रस जलमय ही हैं। यह अनुपान संक्षेप में कह दिया। इसके आगे विस्तार से कहेंगे ॥४२२॥

उष्णोदकानुपानं तु स्नेहानामथ शस्यते ।
ऋते भल्लातकस्नेहात् स्नेहात्तौवरकात्तथा ॥४२३॥
अनुपानं वदन्त्येके तैले यूषाम्लकाञ्जिकम् ।
शीतोदकं माक्षिकस्य पिष्टान्नस्य च सर्वशः ॥४२४॥
दधिपायसमद्यार्तिविषजुष्टे तथैव च ।
केचित् पिष्टमयस्याहुरनुपानं सुखोदकम् ॥४२५॥
पयो मांसरसो वाऽपि शालिमुद्गादिभोजिनाम् ।
युद्धाध्वातपसंतापविषमद्यरुजासु च ॥४२६॥
माषादेरनुपानं तु धान्याम्लं दधिमस्तु वा ।
मद्यं मद्योचितानां तु सर्वमांसेषु पूजितम् ॥४२७॥
अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते ।
क्षीरं घर्माध्वभाष्यस्त्रीक्लान्तानाममृतोपमम् ॥४२८॥
सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम् ।
निरामयानां चित्रं तु भुक्तमध्ये प्रकीर्तितम् ॥४२९॥
स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते ।
अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम् ॥४३०॥
हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा ।
अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विषार्तिषु ॥४३१॥

भिलावे और तुवरक[1] स्नेह को छोड़कर—शेष सब स्नेहों के लिये, उष्णोदक (गरम पानी) का अनुपान प्रशस्त है। कुछ आचार्यों का विचार है कि-उष्णकाल में तैल का अनुपान यूष, शीतकाल में तेल का अनुपान कांजी है। माक्षिक (मधु) और पिष्टान्न (तण्डुल पिष्ट) का अनुपान शीतल जल है। दधि, पायस (खीर), मद्यार्त्ति (मद्य विदाह), विष जुष्ट (विष व्यामोह में)—अनुपान शीतल जल है। पिष्टान्न का अनुपान कई आचार्य ईषदुष्ण पानी मानते हैं। शालि (हेमन्त धान्य), मूङ्ग आदि खानेवालों के लिये, युद्ध, अध्व (मार्ग) आतप (धूप), सन्ताप (मनः सन्ताप, बेचैनी), विष, मद्य की पीड़ा में -दूध या मांसरस का अनुपान उचित है। माष (उड़द) आदि का अनुपान—धान्याम्ल (कांजी), दधि, या मस्तु है। मद्य पीनेवालों के लिये तथा सब मांसों में मद्य अनुपान है। जो मद्य नहीं पीते, उनके लिये पानी और फलाम्लों का अनुपान उत्तम है। घर्म (गरमी), अध्व (मार्ग), भाष्य (जोर से बोलना), स्त्री संभोग से थके पुरुषों के लिये सुरा और स्थूल पुरुषों के लिये, दूध अमृत के समान है। कृश पुरुषों के लिये सुरा और स्थूल पुरुषों के लिये शहद का शर्बत अनुपान है। निरामय (स्वस्थ) पुरुषों के लिये चित्र (नाना प्रकार के अनुपान) भोजन के बीच-बीच में देने चाहिये। वायु रोग में—स्निग्ध और उष्ण, कफ में—रूक्ष एवं उष्ण, पित्त में मधुर और शीतल अनुपान हितकारी है। रक्त पित्त रोगियों के लिये—दूध और गन्ने का रस हितकारी है। विषार्त्ति (विष पीड़ा) में—आक, सेलु (लसूड़ा) और शिरीष इनका आसव उत्तम है ॥४२३-४३१॥

अतः परं तु वर्गाणामनुपानं पृथक् पृथक् ।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण सर्वेषामेव मे शृणु ॥४३२॥

इसके आगे प्रत्येक वर्ग का अनुपान पृथक् पृथक् रूप में कहता हूँ। इसको मुझसे सुनो—

तत्र पूर्वशस्यजातानां बदराम्लं, वैदलानां धान्याम्लं, जङ्गालानां धन्वजानां च पिप्पल्यासवः, विष्किराणां कोलबदरासवः, प्रतुदानां क्षीरवृक्षासवः, गुहाशयानां खर्जूर-

१ मेध्य का अर्थ--कविराज हाराणचन्द्रजी ने पवित्र किया है। इस दृष्टि से पवित्र जल-उत्तम पात्र में रखना श्रेष्ठ है।

१ तुवरक का लक्षण—
"पत्रैस्तु केशराकारैः कलायसदृशैः फलैः ।
वृक्षास्तुवरनामानः पश्चिमार्णवतीरजाः ॥"

नालिकेरासवः, प्रसहानामश्वगन्धासवः, पर्णमृगाणां कृष्णगन्धासवः, विलेशयानां फलासवः एकशफानां त्रिफलासवः, अनेकशफानां खदिरासवः, कूलचराणां शृङ्गाटककशेरुकासवः, कोशवासिनां पादिनां च स एव, प्लवानामिक्षुरसासवः, नादेयानां मत्स्यानां मृणालासवः, सामुद्राणां मातुलुङ्गासवः, अम्लानां फलानां पद्मोत्पलकन्दासवः, कषायाणां दाडिमवेत्रासवः, मधुराणां त्रिकटुकयुक्तखण्डासवः, तालफलादीनां धान्याम्लं, कटुकानां दूर्वानलवेत्रासवः, पिप्पल्यादीनां श्वदंष्ट्रावसुकासवः, कूष्माण्डादीनां दार्वीकरीरासवः, चुच्चुप्रभृतीनां लोध्रासवः, जीवन्त्यादीनां त्रिफलासवः, कुसुम्भशाकस्य स एव मण्डूकपर्ण्यादीनां महापञ्चमूलासवः, तालमस्तकादीनामम्लफलासवः, सैन्धवादीनां सुरासव आरनालं च, तोयं च सर्वत्रेति ॥४३३॥

प्रथम कहे अन्न समूहों (शूक धान्य, कुधान्य) का अनुपान-बदराम्ल, वैदलों (मूङ्ग आदि) का धान्याम्ल (कांजी), जंघाल (ऐणादि) और धन्वज (वर्त्तकादि) का पिप्पल्यासव, विष्किरों का—कोलाम्ल (स्वल्प वेर), बदराम्ल (मध्य प्रमाण का वेर), प्रतुदों का क्षीरी वृक्षों (वटादि का) का आसव, गुहाशयों (सिंहादि) का खर्जूरासव और नारिकेलासव, प्रसहों के लिये अश्वगन्धासव, पर्णमृगों के लिये कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन) का आसव, बिलेशयों के लिये फलसारासव, एकशफों (घोड़े आदि) के लिये त्रिफलासव, अनेक शफों (बकरी आदि) के लिये खदिरासव, कूलचरों के लिये शृङ्गाटक और कशेरु का आसव, कोशवासि और पादियों के लिये शृङ्गाटक कशेरुकासव, प्लवों के लिये इक्षुरसासव, नादेय मछलियों के लिये मृणालासव, सामुद्र मछलियों के लिये मातुलुंगासव, कषायवर्ग के लिये दाडिम वेत्रासव, मधुरवर्ग के लिये त्रिकटुक युक्त खण्डासव, ताल-फल आदि के लिये धान्याम्ल, कटुवर्ग के लिये दूर्वानल वेत्रासव, पिप्पल्यादि के लिये श्वदंष्ट्रा (गोखरू), वसुक (वुक-वगहुल) का आसव, कूष्माण्ड आदि के लिये दार्वी (दारुहल्दी) करीरासव, चुच्चु आदि के लिये लोध्रासव, जीवन्ती आदि के लिये त्रिफलासव, कुसुम्भ शाक के लिये त्रिफलासव, मण्डूकपर्णी आदि के लिये महापञ्चमूलासव, तालमस्तक आदि के लिये अम्लफलासव, सैन्धव आदि के लिये सुरासव और आरनाल अनुपान है, सब स्थानों पर जल का भी अनुपान देना चाहिये ॥४३३॥

भवन्ति चात्र—

सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम् ।
सात्म्यं वा यस्य यत्तोयं तत्तस्मै हितमुच्यते ॥४३४॥
उष्णं वाते कफे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम् ।

कहा भी है—

सब अनुपानों के लिये—माहेन्द्र (आन्तरिक्ष) जल उत्तम अनुपान है। जो जल (नदी, सरोवर, तड़ाग आदि का) जिस पुरुष को सात्म्य हो, वही जल उस पुरुष के लिये हितकारी है। वायु और कफ में—गरम जल, पित्त और रक्त में शीतल जल बरतना चाहिये ॥४३४॥

दोषवद् गुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा ॥४३५॥
यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्यते ।

दोषवत् (वातादि दोषकारक), गुरु, अधिक मात्रा में खाया भोजन, यथोक्त—उचित अनुपान की सहायता से, बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक जीर्ण हो जाता है ॥४३५॥

रोचनं बृंहणं वृष्यं दोषसंघातभेदनम् ॥४३६॥
तर्पणं मार्दवकरं श्रमक्लमहरं सुखम् ।
दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ॥४३७॥
बल्यं वर्णकरं सम्यगनुपानं सदोच्यते ।

अनुपान के गुण—रोचक, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रवर्धक), दोषसमूहों का भेदन करता है, तर्पण (तृप्तिकारक) मार्दवकर (शरीर में कोमलता उत्पन्न करनेवाला), श्रम-क्लम को दूर करता है, सुख (स्वास्थ्य उत्पन्न करता है)। अग्निदीपक, दोष शामक, पिपासा को नष्ट करने में श्रेष्ठ, बलकारक, वर्णकारक है। इस प्रकार का उचित अनुपान सर्वदा व्यवहार करना चाहिये। (आगे अनुपान से जल को समझना, क्योंकि प्रायः जल ही बरता जाता है) ॥४३६,४३७॥

तदादौ कर्शयेत्पीतं स्थापयेन्मध्यसेवितम् ॥४३८॥
पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥

भोजन से पहिले पिया अनुपान शरीर को अति कृश करता है, भोजन के मध्य में सेवन किया अनुपान शरीर को पूर्ववत् रखता है। भोजन के पीछे पिया अनुपान शरीर को बढ़ाता है, इसलिये विचारकर अनुपान का प्रयोग करना चाहिये ॥४३८॥

स्थिरतां गतमक्लिन्नमन्नमद्रवपायिनाम् ॥४३९॥
भवत्याबाधजननमनुपानमतः पिबेत् ।

अद्रवपायी (अनुपान न पीनेवाले) मनुष्यों को—स्थिरता (निश्चलता), अक्लिन्न (शुष्कता), आबाधजनन (पीड़ा) होती है, इसलिये अनुपान पीना चाहिये। "समस्थूलकृशा भक्तमध्यान्तप्रथमांबुपाः" हृदय ॥४३९॥

न पिबेच्छ्वासकासार्तो रोगे चाप्यूर्ध्वजत्रुगे ॥४४०॥
क्षतोरस्कः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ।

निम्न पुरुषों को अनुपान नहीं पीना चाहिये—

श्वास-कास रोगी, गले से ऊपर के रोगों में, उरः क्षत रोगी, प्रसेकी (लालास्रावी) और जिस रोगी को स्वरभङ्ग हो उसे अनुपान नहीं पीना चाहिये ॥४४०॥

पीत्वाऽध्वभाष्याध्ययनगेयस्वप्नान्न शीलयेत् ॥४४१॥
प्रदूष्यामाशयं तद्धि तस्य कण्ठोरसि स्थितम् ।
स्यन्दाग्निसादच्छर्द्यादीनामयाञ्जनयेद्बहून् ॥४४२॥

अनुपान पीकर—अध्व (मार्गगमन), भाष्य (जोर से बोलना), अध्ययन (पढ़ना), गेय (गाना), शयन नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह अनुपान कण्ठ-उर में स्थित वातादि दोषों को तथा आमाशय को दूषित करके, पुरुष में-स्यन्द (नेत्राभिष्यन्द), अग्निमान्द्य, छर्दन (वमन) आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है ॥४४१,४४२॥

गुरुलाघवचिन्तेयं स्वभावं नातिवर्तते।
तथा संस्कारमात्रान्नकालांश्चाप्युत्तरोत्तरम् ॥४४३॥

गुरु लाघव विचार—

द्रव्यों का गुरु-लाघव, स्वभाव (नैसर्गिकता) से ऊपर तथा (यथा जंघाल-जंगल में विचरनेवाले स्वभाव के कारण ही लघु है), संस्कार, मात्रा, अन्न, काल के ऊपर निर्भर है। यथा—संस्कार स्वभाव से गुरु व्रीहि भी, संस्कार के कारण लाजा रूप में लघु हैं। मात्रा—गुरु पदार्थों को आधा पेट भर के खाना और लघु पदार्थों को पूरा पेट भर के खाना। अन्न-मण्ड-पेया विलेपी-भक्त-पूपादि यथोत्तर गुरु हैं। काल-नया धान्य अभिष्यन्दि और साल भर पुराना अन्न लघु है। उत्तरोत्तर—स्वभाव से संस्कार, संस्कार से मात्रा, मात्रा से अन्न, अन्न से काल, गुरु-लघु के विचार को अतिक्रमण नहीं करते[1] ॥४४३॥

मन्दकर्मानलारोग्याः सुकुमाराः सुखोचिताः।
जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्त्यते ॥४४४॥

जो पुरुष—मन्दकर्म (आलसी), मन्दानल (मन्दाग्नि), मन्दारोग्य (रोगी), सुकुमार (मृदुशरीर), सुखोचित (सुखी) हैं—उनके विषय में गुरु लघु का विचार करना आवश्यक है॥

बलिनः खरभक्ष्या ये ये च दीप्ताग्नयो नराः।
कर्मनित्याश्च ये तेषां नावश्यं परिकीर्त्यते ॥४४५॥

इत्यनुपानवर्गः।

जो पुरुष-बली (शक्तिशाली), खरभक्ष्य (अमृदुभोजी), दीप्ताग्नि (तीक्ष्णाग्नि) और कर्मनित्य (सदा कर्म करनेवाले हैं), उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करना आवश्यक नहीं॥ यह सब अनुपान वर्ग कह दिया—

अथाहारविधिं वत्स ! विस्तरेणाखिलं शृणु।
आप्तास्थितमसंकीर्णं शुचि कार्यं महानसम् ॥४४६॥

हे वत्स ! सम्पूर्ण आहार विधि को अब विस्तार से कहता हूँ—उसे सुनो। महानस (रसोई)—आप्तास्थित (विश्वस्त पुरुषों से युक्त), असंकीर्ण (असंकट-खुली-छोटी नहीं), शुचि (पवित्र-साफ सुथरी) रसोई बनानी चाहिये ॥४४६॥

तत्राप्तैर्गुणसंपन्नं भक्ष्यमन्नं सुसंस्कृतम्।
शुचौ देशे सुसंगुप्तं समुपस्थापयेद् भिषक् ॥४४७॥

इस रसोई में विश्वस्त पुरुषों द्वारा सुसंस्कृत (भली प्रकार से तैयार किये), गुण सम्पन्न (इष्ट-रस, गन्ध, स्पर्श-वर्णयुक्त), भक्ष्य (खाने योग्य) अन्न को, पवित्र स्थान में भली प्रकार छिपाकर (शत्रु आदि जहाँ न जा सके), वैद्य को रखना चाहिये॥

विषघ्नैरगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः।
सिद्धैर्मन्त्रैर्हृतविषं सिद्धमन्नं निवेदयेत् ॥४४८॥

विषघ्न (विष नाशक) औषधियों से स्पृष्ट (छुए) व्यजनोदक प्रोक्षित (विषनाशक अगदोदक से धोये पंखों की वायु से शुद्ध किये अथवा, अथर्ववेद के मन्त्रों से अभिमन्त्रित), सिद्ध, मन्त्र (अव्यभिचारि, कुह कुल्ला आदि मन्त्रों द्वारा)—विष को नष्ट करके, सिद्ध (तय्यार), भोजन खानेवाले को समर्पित करना चाहिये[1] ॥४४८॥

वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्नामाहारस्योपकल्पनाम्।
घृतं कार्ष्णायसे देयं, पेया देया तु राजते ॥४४९॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वैदलेषु तु।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥४५०॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत्।
कट्वराणि खडांश्चैव सर्वाञ्छैलेषु दापयेत् ॥४५१॥
दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः।
पानीयं पानकं मद्यं मृन्मयेषु प्रदापयेत् ॥४५२॥
काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च।
दद्याद्वैदूर्यचित्रेषु रागषाडवसट्टकान् ॥४५३॥
पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे।
सूदः सूपौदनं दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥४५४॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥४५५॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः।
खडान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥४५६॥
सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाडवसट्टकान्।
पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः ॥४५७॥

इसके आगे सम्पूर्ण भोजन को परोसने की विधि कहता हूँ। घी को कृष्णलोह के पात्र में, सब प्रकार की पेया राजत पात्र में, फल और लड्डू आदि सब प्रकार के भक्ष्य पदार्थ-पत्तों की पत्तली या दोनों में देने चाहिये। परिशुष्क[2] और प्रदिग्ध (दही या तक्र में मिला) मांस को स्वर्ण

१—चरक में संस्कार के लिये—संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते। चरक० विमाने अ० १।

१ दुन्दुभिस्वनीय अध्याय में कही विधि से—विष रहित करके देना चाहिये।

२ परिशुष्क मांस—

"सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु।
जीरकाद्यैर्घनं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते॥"

प्रदिग्ध मांस—तदेव गोरसादानं प्रदिग्धमिति विश्रुतम्।

के पात्रों में देना चाहिये। प्रद्रवाणि (अतिशय द्रव-मण्डादि) और रसों (मांस रसों) को-चाँदी के पात्रों में देना चाहिये। कट्वर[1] (तक्र), और खड यूषों को पत्थर के बर्त्तनों में देना चाहिये। भली प्रकार उबालकर ठण्डा किया दूध-ताम्र के पात्र में देना चाहिए। पानी, पानक और मद्य इनको मिट्टी के पात्रों में देना चाहिये। राग, षाड्व, सट्टक को कांच, स्फटिक के भव्य एवं शीतल पात्रों में, वैडूर्य (बिल्लौर) के विचित्र पात्रों में देना चाहिये। पूर्वोक्त-विमल एवं खूब फैले (चौड़े), सुन्दर (स्थाली आदि) पात्रों में रसोइये—दाल चावल और अच्छी प्रकार से तैय्यार किये प्रलेहों (चाटने योग्य वस्तुओं) को दें। फल सब भक्ष्य (लड्डू आदि), और परिशुष्क वस्तुओं को खानेवाले के दक्षिण पार्श्व में रखना चाहिये। गुड से बनी सब वस्तुओं को, राग, षाड्व, सट्टक को सामने में अथवा किसी एक पार्श्व में, (जहाँ उचित समझे) रखना चाहिये ॥४४६-४५७॥

एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम्।
भोक्तारं विजने रम्ये निःसंपाते शुभे शुचौ ॥४५८॥
सुगन्धपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत्।

बुद्धिमान् मनुष्य उपरोक्त प्रकार से भोजन के परोसने की विधि को जानकर-भोजन करनेवाले मनुष्य को, विजन (एकान्त) में, रम्य (मनोहर), निःसंपात (खुले-विस्तार युक्त), शुभ एवं पवित्र, सुगन्धित फूलों से शोभित, समतल स्थान में बिठाकर भोजन कराये ॥४५८॥

विशिष्टमिष्टसंस्कारः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ॥४५९॥
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम्।

इष्ट संस्कार (वाञ्छित कल्पनाविधि) से बने, हितकारी-प्रिय रस-गन्ध-वर्ण से युक्त, मनोज्ञ (सुन्दर), शुचि (पवित्र), बहुत गरम नहीं (थोड़ा गरम), प्रत्यग्र (अभिनव), अशन (भोजन) करना चाहिये ॥४५९॥

पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ ॥४६०॥
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत्।
आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् ॥४६१॥
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम्।
घनं पूर्वं समश्नीयात्, केचिदाहुर्विपर्ययम् ॥४६२॥
आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते।
निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ॥४६३॥
मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च।
पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुङ्क्ते कदाचन ॥४६४॥

भोजनों में सब से पूर्व मधुररस खाना चाहिये (जिससे पक्वाशय गत वायु का ह्रास हो), अम्ल और लवणरस को भोजनों के मध्य में खाना चाहिये (जिससे पित्ताशय में अग्नि प्रदीप्त हो), शेष कट्वादि रसों को अन्त में (कफ की शान्ति के लिये) खाना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि सब से प्रथम दाड़िम (अनार) आदि-अम्ल फलों को खाये (जिससे कि वायु शान्त हो)। इसके पीछे पीने योग्य पेय वस्तुओं को खाना चाहिये, फिर नाना प्रकार के भक्ष्य-भोजनों (दाल चावल आदि) को खाना चाहिये। प्रथम घन (कठिन) भोजन खाना चाहिये, कई आचार्य कहते हैं कि इसके विपरीत प्रथम द्रव भोजन करना चाहिये। भोजन के आदि में, मध्य में और अन्त में, आँवला-फल दोषहर होने से, बिना किसी रुकावट के बरता जा सकता है। मृणाल (पद्मनाल), बिस (भिस), शालूक, कन्द, गन्ने आदि वस्तुओं को भोजन से पूर्व देना चाहिये, भोजन के उपरान्त कभी भी नहीं देना चाहिये ॥४६०-४६४॥

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः।
काले सात्म्यं लघु स्निग्धमुष्णं क्षिप्रं द्रवोत्तरम् ॥४६५॥
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद्विदितागमः

सुख पूर्वक, भूमि से ऊँचाई पर-शरीर को (शिर-ग्रीवा और पीठ को) समान रखकर, भोजन में तत्पर (कामादि व्यग्रता को छोड़कर), होकर उचित समय पर, अपनी आत्मा के अनुकूल, लघु, स्निग्ध, जल्दी (न कि बहुत जल्दी) और उष्ण द्रवप्रधान भोजन करना चाहिये। हेय उपादेय सम्बन्धि हिताहित की विवेचना करनेवाला—भूख होने पर, मात्रा के परिमाण में भोजन करे[1] ॥४६५॥

---

१ कट्वर—"सीवाराम्लमथात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः।
तदधो भागं तक्रं वा ह्यम्लतां गतम्।
सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम् ॥"
राग—"सितारुचक सिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥"
सट्टक—"लवंगं व्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिमबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम्।
सट्टकं तत्प्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् ॥"

१ चरक में भोजन विधि—विमान स्थान में—"उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणे नातिद्रुतं नातिविलम्बितं तन्मना भुञ्जीत।"

सच्ची भूख में भोजन करना चाहिये— कहा भी है "भवत्यकालेऽपि या बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति।"

मात्रा का लक्षण—
"अपीडनं भवेत्कुक्षेः पार्श्वयोरविपाटनम्।
अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य न गौरवम् ॥
प्राणनं चक्षुरादीनां शमनं क्षुत्पिपासयोः।
उच्छ्वासश्वासहास्यादिकथासु सुखवर्त्तनम्।
सुखेन परिणामः स्यादन्ने भुक्ते दिवानिशि।"

काले प्रीणयते भुक्तं सात्म्यमन्नं न बाधते ॥४६६॥
लघु शीघ्रं व्रजेत् पाकं स्निग्धोष्णं बलवह्निदम् ।
क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यात्यदोषं द्रवोत्तरम् ॥४६७॥
सुखं जीर्यति मात्रावद्धातुसाम्यं करोति च ।

समय पर खाया भोजन तृप्ति को करता है, सात्म्य (अपनी आत्मा के अनुकूल) अन्न शरीर को पीड़ा नहीं पहुँचाता। लघु अन्न शीघ्र जीर्ण होता है, स्निग्ध और उष्ण अन्न, बल एवं अग्नि को बढ़ाता है। न तो बहुत जल्दी और न रुक-रुककर खाया अन्न एक साथ जीर्ण (पचता) होता है, द्रव-प्रधान भोजन दोषों को कुपित नहीं करता। मात्रा में खाया अन्न भली प्रकार विना किसी कष्ट के पच जाता है और धातुओं को समान करता है ॥४६६,४६७॥

अतीवायतयामस्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः ॥४६८॥
तेषु तत्प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रातरेव तु ।

जिन ऋतुओं में (हेमन्त और शिशिर में) रात्रियाँ बहुत लम्बे प्रहरोंवाली होती हैं, उनमें काल बल प्रवृत्त दोषों के विरोधी गुण बहुल भोजन-प्रातः ही (चौथे प्रहर में, शीघ्र) कर लेना चाहिये ॥४६८॥

येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः ॥४६९॥
तेषु तत्कालविहितमपराह्णे प्रशस्यते ।

जिन ऋतुओं में (ग्रीष्म और प्रावृट्) दिन बहुत लम्बे हो जाते हैं, उन ऋतुओं में कालोचित द्रव-स्निग्ध-मधुर प्राय अन्न अपराह्न में भी खाना चाहिये ॥४६९॥

रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः ॥४७०॥
कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम् ।

जिन ऋतुओं में (शरद् और वसन्त) में रात और दिन बराबर हो जाते हैं, उन ऋतुओं में दिन रात को बराबर करके समय पर भोजन करना चाहिये।

ये नियम ऋतु अलक्षित काल के लिये हैं। आवस्थिक के नियम स्वस्थ वृत्ताध्याय में कहेंगे ॥४७०॥

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा ॥४७१॥
अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ॥४७२॥
अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयं च न काङ्क्षति ॥४७३॥
हीनमात्रमसंतोषं करोति च बलक्षयम् ।
आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम् ॥४७४॥

अप्राप्त काल (भोजन बेला के न आने पर) में अतीतकाल में (भोजन का समय व्यतीत हो जाने पर), हीन मात्रा अथवा अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये। कारण-शरीर में भारीपन रहने पर अप्राप्तकाल में भोजन करने से शिरोवेदना आदि अनेक रोग अथवा मृत्यु हो जाती है। अतीतकाल में भोजन न करने पर, वायु के कारण अग्नि के मन्द पड़ जाने से, भोजन कठिनाई से पचता है, और दूसरे भोजन की फिर इच्छा नहीं होती। भोजन की हीन मात्रा असन्तोष और बल का क्षय करती है। भोजन की अधिक मात्रा आलस्य, गौरव (भारीपन), आटोप (आध्मान), साद (अङ्गों में शिथिलता) उत्पन्न करती है ॥४७१-४७४॥

तस्मात् सुसंस्कृतं युक्त्या दोषैरेतैर्विवर्जितम् ।
यथोक्तगुणसंपन्नमुपसेवेत भोजनम् ॥४७५॥
विभज्य दोषकालादीन् कालयोरुभयोपि ।
अचोक्षं दुष्टमुत्सृष्टं पाषाणतृणलोष्टवत् । ४७६॥
द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् ।
चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः ॥४७७॥
अशान्तमुपदग्धं च तथा स्वादु न लक्ष्यते ।

इसलिये युक्ति पूर्वक—साधु रीति से संस्कृत (तैय्यार किये) एवं उपरोक्त दोषों से रहित तथा पूर्वोक्त गुण से युक्त अन्न दोनों समय खाना चाहिये। जो अचोक्ष (अपवित्र-मलिन), विषादि से दुष्ट, उत्सृष्ट, (खाने से बचा हुआ), द्विष्ट (मन के प्रतिकूल), व्युषित (बासी सड़ा), अस्वादु (स्वाद रहित), पूति (दुर्गन्धयुक्त) चिर सिद्ध (देर का पकाया), स्थिर (कठोर), शीत (ठण्डा), पुनः गरम किया, अशान्त (बहुत उष्ण—जिसकी बाष्प शान्त नहीं हुई), उपदग्ध (जला हुआ) और जो अन्न स्वादु नहीं दीखता-तथा पत्थर तृण और मिट्टी के कणों से युक्त हो छोड़ देना चाहिये ॥४७७॥

यद्यत् स्वादुतरं तत्तद्विदध्यादुत्तरोत्तरम् ॥४७८॥

जो वस्तु अधिक स्वादु हो (खाने में स्वादिष्ट हो) उससे अधिक स्वादिष्ट वस्तु उत्तरोत्तर देनी चाहिये। एक स्वादु वस्तु खाने पर, दूसरी बार उससे अधिक स्वादु वस्तु देनी चाहिये, तीसरी बार उससे भी अधिक स्वादिष्ट वस्तु देनी चाहिये ॥४७८॥

प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ।
विशुद्धे रसने तस्य रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ॥४७९॥
स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनातितर्पितम् ।
न तथा स्वादयेदन्यत्तस्मात् प्रक्षाल्यमन्तरा ॥४८०॥

भोजन करते हुए बार बार पानी से मुख धोना (गरारे करनी) चाहिये। ऐसा करने से जिह्वा के शुद्ध होने पर भोजन अपूर्व (नया ही) के समान प्रिय लगता है। प्रथम मधुर वस्तु के कारण जिह्वा अत्यन्त तृप्त सी हो जाती है, इसलिये अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती, अतः बीच में मुख को धोना चाहिये ॥

सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखम् ।
स्वादु संजनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम् ॥४८१॥

भुक्त्वाऽपि यत् प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम् ।

स्वादु अन्न—सौमनस्य (सुमनस्कता), बल (ओज), पुष्टि (शरीर की वृद्धि), उत्साह, हर्षण (प्रसन्नता), सुख (नीरोगता), को उत्पन्न करता है। अस्वादु अन्न-इनसे विपरीत गुणों को

उत्पन्न करता है। भोजन करनेवाला पुरुष जिस भोजन को एक बार खाकर फिर फिर मांगता है, उसको अवश्य स्वादु समझना चाहिये ॥४८१॥

अशितश्चोदकं युक्त्या भुञ्जानश्चान्तरा पिबेत् ॥४८२॥

भोजन करनेवाले पुरुष को चाहिये कि—भोजन करके, पीछे से पानी को मात्रा में पीये ॥४८२॥

दन्तान्तरगतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः।
कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम् ॥४८३॥

भोजन के उपरान्त दांतों में फंसे अन्न को तिनके आदि से बाहर निकाल दे। क्योंकि न निकालने पर मुख में यह अन्न दुर्गन्ध उत्पन्न करता है ॥४८३॥

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि, तस्माद् भुक्तेरितं कफम् ॥४८४॥

भोजन के जीर्ण (पचने) होने पर वायु बढ़ती है, भोजन के विदग्ध (अर्ध पक्व) अवस्था में पित्त बढ़ता है, भोजन के उपरान्त कफ बढ़ता है ॥४८४॥

धूमेनापोह्य हृद्यैर्वा कषायकटुतिक्तकैः
पूगकङ्कोलकर्पूरलवङ्गसुमनः फलैः ॥४८५॥
फलैः कटुकषायैर्वा मुखवैशद्यकारकैः।
ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धैर्वा विचक्षणः ॥४८६॥

इसलिये भोजन के द्वारा प्रेरित कफ को धूमपान के द्वारा अथवा कषाय-कटु तिक्त रसवाले, हृदय के लिये प्रिय द्रव्यों द्वारा या—पूग (सुपारी), कंकोल (शीतल चीनी), कपूर, लौंग, सुमनफल (जायफल-जावित्री) से तथा मुख को स्वच्छ करनेवाले कषाय, एवं कटु रस युक्त फलों के द्वारा अथवा ताम्बूलपत्र (पान) में सुगन्धित वस्तुयें मिलाकर खाने से नष्ट करना चाहिये॥

भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥४८७॥

भोजन करने के उपरान्त—जब तक भोजन जन्य श्रम दूर न हो जाये, तबतक राजासन (भद्रासन[1]) से बैठना चाहिये। इसके पीछे सौ पांव चलकर वाम पार्श्व से लेटना चाहिये एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) आराम जरूर लेना चाहिये ॥४८७॥

शब्दान् रूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥४८८॥

भोजन करने के पीछे मन के अनुकूल शब्दों स्पर्शों रूपों रसों और गन्धों का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार से अन्न भली प्रकार से पचता है ॥४८८॥

शब्दरूपरसा गन्धाः स्पर्शाश्चापि जुगुप्सिताः।
अशुच्यन्नं तथा भुक्तमतिहास्यं च वामयेत् ॥४८९॥

जुगुप्सित (निन्दित-अप्रिय)—शब्दों, रूपों, रसों, गन्धों और स्पर्शों का सेवन से अपवित्र अन्न के खाने से, अति भोजन से, तथा अतिहास्य के कारण भोजन का वमन हो जाता है ॥४८९॥

शयनं चासनं वाऽपि नेच्छेद्वापि द्रवोत्तरम्।
नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम् ॥४९०॥

भोजन करने के उपरान्त न तो अधिक देर लेटना-सोना चाहिये, न बैठना चाहिये, और न बहुत पानी पीना चाहिये (द्रव बहुल भोजन नहीं करना चाहिये)।

न तो अग्नि, न धूप, सेवन करनी चाहिये। न स्नान (जल में तैरना उछलना कूदना), न गमन (तेज या दूर चलना) और न घोड़े आदि की सवारी करनी चाहिये ॥४९०॥

न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन।
शाकावरान्नभूयिष्ठमम्लं च न समाचरेत् ॥४९१॥

कभी भी एक ही रस का निरन्तर (अथवा बार-बार) अभ्यास—सेवन नहीं करना चाहिये। शाक (पत्र-पुष्पादि) अवरान्न (वेणुयवादि) तथा अम्ल रस को अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये। 'एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्'—चरक ॥४९१॥

एकैकशःसमस्तान् वा नाध्यश्नीयाद्रसान् सदा।
प्राग्भुक्ते त्वविविक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत्॥४९२॥
पूर्वभुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम्।

एक एक रस को पृथक् पृथक् करके अथवा सब रसों को एक साथ में मिलाकर भोजन नहीं करना चाहिये। अपितु कुछ रसों को पृथक् पृथक् करके और कुछों को मिलाकर खाना चाहिये। दोष और रोग की अपेक्षा से एक एक रस का और स्वस्थ की अपेक्षा से सब मिलित रसों का निषेध है। प्रातः या पूर्व भोजन करने के उपरान्त जब तक अग्नि स्पष्ट न हो (भूख न लगे), तब तक दूसरी बार किया भोजन जठराग्नि को मन्द (नष्ट) कर देता है ॥४९२॥

मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः ॥४९३॥
पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः।
द्विगुणं च पिबेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति।

जो द्रव्य लघु हैं (मूङ्ग आदि हैं) उनको मात्रा से (अधिक मात्रा में) छोड़ देना है, और जो द्रव्य स्वभाव से गुरु (माष आदि) हैं उनको वैसे ही अधिक नहीं खाना चाहिये।

पिष्टान्न (संस्कार जन्य गुरु मात्रा का द्योतक) को कभी नहीं खाना चाहिये। यदि खाना हो तो मात्रा में

---

[1] भद्रासन—
"सीमन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्।
वृषणाऽधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत्।
भद्रासनसमुद्दिष्टम्।" नृपासनमेतद् भद्रासनम्॥

तथा भूख लगने पर ही खाना चाहिये[1] । इसको खाकर दुगुना पानी पीना चाहिये, इससे सुखपूर्वक पाचन हो जाता है ।

पेयलेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्याद्यथोत्तरम् ॥४६४॥

चार प्रकार के अन्न में (पेय, लेह्य आद्य-खाद्य और भक्ष्य) उत्तरोत्तर प्रकार का अन्न गुरु समझना चाहिये । यथा–पेय–जलादि से लेह्य-मध्वादि, लेह्य से खाद्य (चावल आदि), खाद्य से भक्ष्य (लड्डू आदि) गुरु हैं ॥४६४॥

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते ।
द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते ॥४६५॥
द्रवाढ्यमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते ।

जो पदार्थ स्वभाव से या संस्कार के कारण गुरु हैं, उनको आधी मात्रा में (आधे पेट-भूख रखकर) खाना चाहिये । और जो पदार्थ लघु हैं, उनको तृप्ति (थोड़ी भूख रखकर—ईषत् तृप्ति) तक खाना चाहिये । द्रवोत्तर (द्रव बहुल-तक्रादि) और द्रव (पेयादि) का भी अधिक मात्रा में सेवन करना ठीक नहीं, जो पदार्थ शुष्क हैं, वे भी द्रव बहुल होने पर बिना दोष उत्पन्न किये भली प्रकार से पच जाते हैं । क्योंकि पानी का पाचन बृहदंत्र में होने से सम्पूर्ण अन्न प्रणाली को धोता जाता है ॥४६५॥

विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ॥४६६॥
पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति ।

विशुष्क (सूखा) अन्न सेवन करने पर भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता । अपितु असंक्लिन्न (ठीक प्रकार से गीला न होकर) एक गोल सा बनकर विदग्ध हो जाता है (आधा कचा-पका रह जाता है) ॥४६६॥

स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति ॥४६७॥
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ।

जिस समय पित्त अन्नवह स्रोतस् (अन्त्र) में तथा (अग्नि स्थान) में रुक जाता है, उस समय विदाही अन्न तथा अविदाही भोजन सब विदग्ध हो जाता है ॥४६७॥

शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् ॥४६८॥

शुष्क (भृष्टान्नादि), विरुद्ध, (दूध, मछली आदि), विष्टम्भि (चना मसूर आदि) अन्न अग्नि दोष को उत्पन्न करते हैं ॥४६८॥

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥४६९॥

कफ, पित्त और वायु के कारण, आम अजीर्ण, विदग्ध अजीर्ण और विष्टब्ध अजीर्ण—इन तीन प्रकारों के अजीर्ण होते हैं । कई आचार्य आहार के परिपाक से शेष बचे रस का परिपाचन के कारण उत्पन्न चौथे प्रकार का भी अजीर्ण मानते हैं ।

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा
संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्त-
मन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥५००॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन
लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमान-
मन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥५०१॥

अजीर्ण का कारण—अधिक पानी पीने से, विषमाशन (विषमाशन का लक्षण आगे कहेंगे), मूत्र पुरीष के उपस्थित वेगों को रोकने से, स्वप्न के विपर्यय (दिन में सोना रात में जागने) से ठीक समय पर और उचित (आत्मा के अनुकूल) एवं लघु (स्निग्ध, उष्णादि) भोजन भी ठीक प्रकार से जीर्ण नहीं होता । इसी प्रकार ईर्षा (दूसरे की सुख-सम्पत्ति में असहिष्णुता), भय क्रोध से युक्त मनवाले, लालची (लोभयुक्त), शुक् (शोक), दैन्य (दीनता) से युक्त मनवाले पुरुष का अन्न भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता ॥५००,५०१॥

माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं,
विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम् ।
किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं
विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम् ॥५०२॥

कफ के प्रभाव से जब अन्न में मधुरता उत्पन्न हो जाती है, तब उसका नाम 'आम' होता है । पित्त के कारण जब अम्लता उत्पन्न हो जाती है, तब इसकी संज्ञा 'विदग्ध' होती है । वायु के कारण जब भोजन कुछ पक जाता है और कुछ कचा रह जाता है, बहुत पीड़ा एवं शूल होता है, वायु विशेष रूप में रुक जाता है या प्रवृत्त नहीं होता, तब इसकी संज्ञा 'विष्टब्ध' होती है[1] । तीन प्रकार के अजीर्ण हैं—आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण तथा विष्टब्धाजीर्ण ॥५०२॥

उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा
न जायते हृद्गुरुता च यस्य ।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं
चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥५०३॥

उद्गार (डकार) के शुद्ध होने पर भी भोजन की इच्छा न हो, हृदय प्रदेश पर भारीपन हो, तथा मुख से लालास्राव हो तो इसको रसावशेष जन्य चौथे प्रकार का अजीर्ण कहते हैं ।

१ चरक में भी कहा है—
गुरुपिष्टमयं द्रव्यं तण्डुलान् पृथुकानपि ।
न जातु भुक्तवान् खादेत्सामां खादेद् बुभुक्षितः ॥
आहारमात्रा पुनः अग्निबलापेक्षिणी द्रव्यापेक्षयाच ।
त्रिभागं सौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते ॥
चरक०

१ कफ कार्य—गौरव, स्नेह, कण्डू आदि पित्तकार्य—तिक्त अम्लोद्गार आदि, वात कार्य-जृम्भा, अंगमर्द आदि का भी उपलक्षण करना चाहिये ।

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥५०४॥

अजीर्ण के उपद्रव—

मूर्च्छा (चेतना नाश), प्रलाप (असंबद्ध भाषण), वमथु (वमन), प्रसेक (मुख से लालास्राव), सदनं (अङ्गों का टूटना या अङ्गों में ग्लानि), भ्रम (चक्कर आना), अथवा मृत्यु—ये उपद्रव अजीर्ण के कारण होते हैं ॥५०४॥

तत्रामे लङ्घनं कार्यं, विदग्धे वमनं हितम् ।
विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं, रसशेषे शयीत च ॥५०५॥

चिकित्सा—

आम अजीर्ण में लंघन करना चाहिये । विदग्धाजीर्ण में वमन हितकारी है, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन, तथा रसशेषाजीर्ण में—सोना (तथा पाचन एवं स्वेदन) हितकारी है ॥

वामयेदाशु तं तस्मादुष्णेन लवणाम्बुना ।
कार्यं वाऽनशनं तावद्यावन्न प्रकृतिं भजेत् ॥५०६॥
लघुकायमतश्चैनं लङ्घनैः समुपाचरेत् ।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥५०७॥

वमन के लिये लवणयुक्त गरम जल पिलाना चाहिये, जिससे शीघ्र वमन हो जाये । जब तक अजीर्ण की निवृत्ति न हो तब तक अनशन करना चाहिये । इस प्रकार से अग्नि दीप्त होनेसे शरीर के हल्के होने पर लघु भोजन देने चाहिये । जब तक दोष एवं प्राण (बल) से प्रकृति (स्वास्थ्य) में न आ जाये तब तक लघु भोजन ही देना चाहिये ॥५०६,५०७॥

हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम् ।
बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम् ॥५०८॥
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते ।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून्व्याधीन्करोति वा ॥५०९॥

हितकारी और अहितकारी[1] अन्न को एक साथ मिलाकर खाना—'समशन' कहाता है । बहुत अधिक या थोड़ा अथवा बिना समय के खाना 'विषमाशन' कहाता है । अजीर्णावस्था में भोजन करना 'अध्यशन' कहाता है । ये तीनों ही मनुष्य को शीघ्र मार देते हैं, अथवा बहुत से रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥५०८,५०९॥

अन्नं विदग्धं हि नरस्य शीघ्रं
शीताम्बुना वै परिपाकमेति ।
तद्धयस्य शैत्येन निहन्ति पित्त-
माक्लेदिभावाच्च नयत्यधस्तात् ॥५१०॥

विदग्धाजीर्ण की चिकित्सा-विदग्ध अन्न शीतल पानी पीने से शीघ्र जीर्ण हो जाता है । क्योंकि—शीतलता के कारण यह जल पित्त को शान्त करता और भोजन को आर्द्र बनाकर नीचे की ओर ले जाता है, दस्त लाता है ॥

विदह्यते यस्य तु भुक्तमात्रे
दह्येत हृत्कोष्ठगलं च यस्य ।
द्राक्षाभयां माक्षिकसंप्रयुक्तां
लीढ्वाऽभयां वा स सुखं लभेत ॥५११॥

जिस पुरुष के भोजन करने के उपरान्त आमाशय में विदग्धाजीर्ण हो जाता है, और हृदय कोष्ठ और गले में जलन होती है, उसके लिये द्राक्षा और हरड़ को शहद में मिलाकर देना चाहिये । अथवा खाली अभया (हरड़) को शहद में मिलाकर चाटना चाहिये ॥५११॥

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का
स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले ।
प्रातः सशुण्ठीमभयामशङ्को
भुञ्जीत संप्राश्य हितं हितार्थी ॥५१२॥

जिस बलवान् एवं स्निग्ध शरीरवाले पुरुष को भोजन के समय अजीर्ण की आशङ्का हो, उसको चाहिये कि प्रातःकाल सोंठ और अभया (हरड़) को खाले । फिर बेफिकरी के साथ हितकारी भोजन को खाये ॥५१२॥

स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं
लीनं न तेजःपथमावृणोति ।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा
या मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति ॥५१३॥

जिस समय—थोड़ा--एक पार्श्व में छिपा आमदोष के साथ मिलकर, अग्निमार्ग को नहीं रोकता, उस समय अजीर्णावस्था में भी खाने की इच्छा उत्पन्न होती है । यह इच्छा-मन्दबुद्धि पुरुष को विष के समान मार देती है, इस समय में भोजन करने से दोष-रोग अधिक बढ़ जाता है[1] ॥५१३॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम् ।
कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥५१४॥
ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित् ।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः ॥५१५॥
स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥५१६॥
पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः ।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥५१७॥

---

१ हिताहित—
"धान्यं नवं पुराणं यच्छाकं जीर्णं च कोमलम् ।
ऐकध्यं तद् विरुद्धं स्याच्छीतोष्णं च स्वजातितः ॥"

१ कुछ लोग निम्न पाठ अधिक मानते हैं—
अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं च पूरयेत् ।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥

दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा ।
सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः ॥५१८॥
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥५१९॥
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ।
द्रवः प्रक्लेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद्बन्धकारकः ॥५२०॥
श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः, कर्कशो विशदो यथा ।
सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ॥५२१॥
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद् हृल्लासारुचिकारकः ।
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मन्दो यात्राकरः स्मृतः ॥५२२॥
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ॥५२३॥
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः ॥
गुणा विंशतिरित्येवं यथावत्परिकीर्तिताः ।

इसके आगे गुणों के कर्मों को विस्तार से कहते हैं। चूंकि नाना द्रव्यों में आश्रित शुभाशुभ २० गुण कर्मों से ही जाने जाते हैं। शीत गुण—ह्लादक (सुख दायक), स्तम्भक है, मूर्च्छा, प्यास, स्वेद और दाह का नाशक है। उष्णगुण शीत-गुण के विपरीत गुणोंवाला और विशेष कर पाचक (व्रणादि को पकानेवाला) है। स्निग्ध गुण—स्नेहन, मार्दव (कोमलता), बल एवं वर्ण को उत्पन्न करता है। रूक्षगुण—स्निग्ध के विपरीत गुणोंवाला तथा विशेष करके स्तम्भक एवं खर (कर्कश) है। पिच्छिलगुण—जीवनदायक, बलकारक, सन्धानकारक, कफवर्धक और गुरु है। विशदगुण—पिच्छिलगुण के विपरीत है, इसलिये—आर्द्रता का नाश करनेवाला और रोहण करता है। तीक्ष्णगुण—दाह (जलन), पाक (व्रण को पकाना) उत्पन्न करता है, और स्रावक है। मृदुगुण, तीक्ष्णगुण के विपरीत है। गुरुगुण—साद (अङ्ग ग्लानि), उपलेप (मलवृद्धि), बल (कफ) वर्धक, तर्पण (तृप्तिकर), बृंहण (देह वर्धक) है। लघुगुण—गुरु गुण के विरुद्ध तथा लेखन (पतला) करनेवाला, और रोपण है। शीत आदि दस गुणों के कर्मों को कह दिया, अब द्रव आदि दस गुणों के कर्मों को कहते हैं। द्रवगुण अक्लेदक (क्लिन्न करनेवाला), सान्द्रगुण स्थूल, बन्धकारक (उपचयकारक) है। श्लक्ष्ण गुण—पिच्छिल के समान है, कर्कशगुण—विशद के समान हैं। सुगन्ध गुण—सुखदायक सूक्ष्म, रोचक और मृदु है। दुर्गन्ध गुण—सुगन्ध के विपरीत है, इसलिये—जी मचलाना तथा अरुचिकारक है। सरगुण—वायु का अनुलोमक है, मन्द गुण—शरीर के वर्त्तन को कराता है। व्यवायी गुण—प्रथम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर पीछे से जीर्ण होता है। विकासी गुण—अपक्वावस्था में ही सम्पूर्ण शरीर में फैलकर, मद्य एवं विष के समान, सब शरीर-धातुओं को शिथिल करता है। आशुकारी गुण—जिस प्रकार पानी में तैल फैल जाता है, उसी प्रकार शीघ्र धातुओं में फैल जाता है। सूक्ष्म गुण—सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म स्रोतों में फैल जाता है। इस प्रकार के बीस गुणों को कह दिया है।

वि० मन्तव्य—इस पाठ में २० गुणों के व्याख्यान की प्रतिज्ञा की गई हैं, परन्तु २२ गुण गिन दिये गये हैं—सुगन्ध एवं दुर्गन्ध अधिक हैं। यद्यपि "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" च० सू० अ० १ के अनुसार अर्थ—शब्द आदि विषयों को भी गुण कहा जाता है। अतः सुगन्ध एवं दुर्गन्ध को गुणों में गिना जा सकता है, तथापि च० सू० अ० २५ में आहार के २० ही गुण माने हैं और उनमें सुगन्ध एवं दुर्गन्ध नहीं पढे गये हैं। और इस सुश्रुत संदर्भ के अनुसार व्यवायी एवं विकासी भी चरक के उक्तप्रकरण वाग्भट सू० स्थान अ० १ में भी नहीं पढ़े गये हैं। अस्तु ॥५१४-५२४॥

संप्रवक्ष्याम्यतश्चोर्ध्वमाहारगतिनिश्चयम् ॥५२५॥

जिस जिस प्रकार का अन्न-जीर्ण होकर जिस द्रव्य का पोषण करता है, उसका निर्णय कहते हैं ॥५२५॥

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः ।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥५२६॥

इस पृथ्वी आदि पञ्चभूतात्मक शरीर में, आहार की पञ्चमहाभूतों की अग्नि द्वारा पककर अपने गुणों को बढ़ाता है। पृथ्वी गुणवाले आहार-पार्थिव को बढ़ाते हैं, द्रव गुणवाले जलीय गुण को बढ़ाते हैं[1] ॥५२६॥

अविदग्धः कफं, पित्तं विदग्धः, पवनं पुनः ।
सम्यग्विपक्वो निःसार आहारः परिबृंहयेत् ॥५२७॥

अविदग्ध (मधुर आहार) आहार कफ को बढ़ाता है, विदग्ध (अम्लीभूत) आहार पित्त को बढ़ाता है। भली प्रकार से पका आहार—सार रहित होने से (मल द्वारा) वायु को बढ़ाता है ॥५२७॥

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥५२८॥

शोणित वर्णनीय अध्याय में—विट् (मल) और मूत्र और रस की आहार से उत्पत्ति कह दी। यह रस व्यान वायु के द्वारा प्रेरित होकर केदारकुल्या न्याय से सब धातुओं का पोषण करता है ॥५२८॥

१—चरक में भी कहा है—
"यथास्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेवं शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥"

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च ।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥५२६॥

आहार का मल—मल और मूत्र, रस का मल कफ, रक्त का मल पित्त, मांस का मल—कान मुख नासिका का मल, मेदका मल-स्वेद, अस्थियों के मल नख और रोम, मज्जा का मल—आँख मल, त्वचा का जो स्नेह है, वह मल है, ये धातुओं के क्रमशः मल है। शुक्र—मल रहित है, इसलिये इसका कोई मल नहीं है, जिस प्रकार कि हजारों बार तपाये स्वर्ण में से मल नहीं निकलता। इसलिये—शुक्रस्य सारमोजः। अत्यन्त शुद्धतयास्य मलाभावः ॥

वि० मन्तव्य—रस आदि धातुओं का स्वस्वस्थान में स्वस्वाग्नि द्वारा परिपाक होने पर कफ आदि मलों की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है ॥५२६॥

दिवा[1] विबुद्धे हृदये जाग्रतः पुण्डरीकवत् ।
अन्नमक्लिन्नधातुत्वादजीर्णेऽपि हितं निशि ॥५३०॥
हृदि संमीलिते रात्रौ प्रसुप्तस्य विशेषतः ।
क्लिन्नविस्रस्तधातुत्वादजीर्णे न हितं दिवा ॥५३१॥

दिन में जागते हुए पुरुष का हृदय कमल के समान खिला रहता है (मनुष्य का मस्तिष्क क्रियाशील रहता है। चेष्टावह् तन्तु गति करते हैं)। धातुओं के अक्लिन्न होने से, रात्रि में, अजीर्णावस्था में भी किया गया भोजन हितकारी होता है। रात्रि में खासकर सोने से हृदय संकुचित हो जाता है (ज्ञान तन्तु सुप्तावस्था में रहते हैं), इसलिये धातुओं के क्लिन्न एवं शिथिल होने से अजीर्णावस्था में दिन के समय भोजन करना हितकारी नहीं। सायंकाल के भोजन करने से यदि अजीर्ण उत्पन्न हो तो प्रातःकाल भोजन नहीं करना चाहिये। प्रातःकाल के भोजन करने से यदि अजीर्ण उत्पन्न हो तो सायंकाल का भोजन हानिकारक नहीं है ॥५३०,५३१॥

इमं विधिं योऽनुमतं महामुने-
नृपर्षिमुख्यस्य पठेद्धि यत्नतः ।
स भूमिपालाय विधातुमौषधं
महात्मनां चार्हति सूरिसत्तमः ॥५३२॥

इसका फल—

जो मनुष्य महामुनि एवं राजर्षियों में अग्रगण्य धन्वन्तरि से अनुमत—सूत्रस्थान में वर्णित इस आहार विधि को पढ़ता है, वह सूरिसत्तम (पण्डित प्रधान)—राजा के लिये औषध बना सकता है, तथा राजाओं के समान सत्कार को पाने के योग्य भी होता है ॥५३२॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशत्तमोध्यायः ।

१—दिन में मनुष्य चलता-फिरता रहता है, इसलिये दिन में भोजन हानि नहीं करता।

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥
तस्मिन् विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ॥
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ।
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ॥
अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विमिश्रितम् ।
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वनयेषु च ॥
यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ।
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ चरक०-चि० अ० १५ ।

अथ निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

हेतु, लिंग और औषध ज्ञान इनको बीज रूप से सूत्रस्थान में कहकर हेतु लक्षण का प्रतिपादन करने के लिये इस-निदान-स्थान का आरम्भ करते हैं। इसमें भी वायु के सबसे प्रधान होने से तथा आरोग्य लाभ की इच्छा से सबसे प्रथम 'वात-व्याधि निदान' की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1]।

वि० मन्तव्य—निदान शब्द का अर्थ—रोगों के हेतु तथा लक्षण का निर्देश-वर्णन जिस प्रकरण में हो उसका नाम निदानस्थान है। जिसके द्वारा रोग का निश्चय किया जाता है उसका नाम निदान है। इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति का नाम निदान हो जाता है, परन्तु निदान-रोग के निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण, मूल, प्रवर्त्तक, उत्पादक का नाम भी है, पूर्वरूप—भावी, उत्पत्स्यमान, भविष्यत् रोग के लक्षण का नाम है, रूप-उत्पन्न-वर्त्तमान-विद्यमान रोग के लक्षणों का नाम है, रूप के पर्याय हैं—संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, चिह्न, आकृति आदि। इनमें व्यञ्जन वह लक्षण है जो रोग का प्रधान लक्षण या स्व-स्वकीय रूप होता है अर्थात् जिसके बिना वह-रोग "वह रोग" ही नहीं कहला सकता है, यथा—ज्वर का सन्ताप, पाण्डुरोग का पाण्डु-वर्ण, कास का कसन—खाँसना, श्वास का श्वास फूलना तथा अर्श का अर्शोऽङ्कुर—मांसांकुर आदि २। उपशय—हेतु एवं रोग के विपरीत अथवा विपरीतार्थकारी (विपरीत न होने पर भी विपरीत अर्थ-फल करनेवाले) औषध, आहार तथा विहार का सुखानुबन्ध (आरोग्य प्रद) उपयोग-सेवन का नाम है और सम्प्राप्ति-रोग की उत्पत्ति के प्रकार का नाम है। इस निदानस्थान में जितने रोग लिखे गये हैं उनके संक्षिप्त अथवा विस्तृत निदान पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति सब लिखे गये हैं। यदि उपशय न भी लिखा गया हो तो समझ लिया जाय कि—जो आहार–विहार रोग के निदान-कारण होते हैं उनसे विपरीत आहार–विहार उपशय होते हैं। वातव्याधि—वातजनित विशिष्ट रोग है ॥ १,२ ॥

१—यथा चरक में—
"वायोर्यथा स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय।"

धन्वन्तरिं धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम्[1]।
चरणावुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥ ३ ॥
वायोः प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च कोपनैः।
स्थानं कर्म च रोगांश्च वद मे वदतां वर! ॥ ४ ॥

धर्मात्माओं में वरिष्ठ (श्रेष्ठ) एवं अमृत कलश के साथ उत्पन्न भगवान् धन्वन्तरि के चरणों को छूकर सुश्रुत ने पुनः पूछा कि—हे वक्ताओं में श्रेष्ठ! अपनी प्रकृति (स्वभाव) में स्थित एवं वायु के समान द्रव्य गुण कर्मों के द्वारा कुपित होने से विकृत वायु के स्थान कर्म (सामान्य एवं विशेष) तथा रोगों को मेरे प्रति कहें ॥३,४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः।
स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥ ५ ॥
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ६ ॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूयानामेष कारणम्।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ॥ ७ ॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥ ८ ॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः।

भिषजों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने सुश्रुत के वचन को सुनकर उत्तर दिया—यह वायु भगवान् (समस्त ऐश्वर्य-अणिमादि गुणों से युक्त) है। अपने कार्य में स्वतन्त्र होने से, नित्य तथा सर्वत्र व्याप्त (गतिमान्) होने से (आकाश की भाँति) इसको स्वयम्भू कहते हैं। एवं सूक्ष्म-परमाणु होने से भी स्वयम्भू है। सब स्थावर एवं जंगम पदार्थों में कारण-कार्यात्मक रूप से विद्यमान है। सब प्राणियों की स्थिति (जीवन), उत्पत्ति और विनाश में यही वायु कारणभूत है, इसलिये सम्पूर्ण लोक इसको नमस्कार करता है। अव्यक्त (अदृश्य) होते हुये भी इसके कर्म (कार्य) व्यक्त (प्रकट) हैं। वायु के कर्म—रूक्ष, शीत (असंयुक्तवायु) लघु, खर (कर्कश), तिर्य्यग्ग (तिर्यग् गामी), द्विगुण (शब्द-स्पर्श गुण), रजोबहुल (रजोगुण की प्रधानता), अचिन्त्यवीर्य (अचिन्त्यशक्ति), दोषाणां नेता (दोष-धातु-मल का प्रेरक), पित्त-कफ रक्तादि के रोग समूहों में शोभित होता है, (सबसे अधिक अस्सी वात विकार हैं),

१ "अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः।"

आशुकारी (शीघ्रकारी), प्रकृति में रहने पर भी बार बार गति करता है। इस वायु के स्थान पक्वाधान (पक्वाशय-बृहदंत्र) और गुदा हैं[1]।

वि० मन्तव्य—पक्वाधान—मलाशय और गुदा वायु का प्रधान स्थान है, अर्थात् उनमें विकार उत्पन्न होने पर ही वायु के विकार उत्पन्न होते हैं और उनके शुद्ध रहने पर वायु भी शुद्ध-शान्त रहता है ॥ ५–८ ॥

देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥ ९ ॥
दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च ।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥ १० ॥
(इन्द्रियार्थोपसंप्राप्तिं दोषधात्वग्न्यवैकृतम् ।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद्वायुरदूषितः ॥ १० ॥)

शरीर के अन्दर गति करती हुई वायु के लक्षणों (मुझ से कहे) को सुनो—दोष एवं धातु तथा अग्नि की समानावस्था में रखना, शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध (विषयों) में मन को इन्द्रियों के साथ संयुक्त करना, शारीरिक वाणी एवं मन की क्रियाओं को प्रवृत्त करना, ये अकुपित-प्रकृतिस्थ वायु के कार्य हैं ॥ ९,१० ॥

यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः ।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः ॥११॥
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥१२॥

जिस प्रकार से अग्नि (पित्त)—नाम (पाचक रञ्जक आदि), स्थान (आमाशय-पक्वाशय), एवं कर्म (अन्न पाचन आदि) के भेद से पाँच प्रकार की है, उसी प्रकार से एक वायु भी नाम-स्थान और कर्म के कारण पाँच प्रकार की है। यथा—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान-ये पाँच भेद हैं। स्वास्थ्यावस्था में ये पाँचों शरीर को धारण करती हैं ॥११,१२॥

यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥ १३ ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ।

इनमें जो वायु वक्त्र (मुख-उर-कण्ठ) में संचरण करता है, उसका नाम प्राण है[1]। यह प्राण शरीर को धारण करता है, भोजन को शरीर के अन्दर प्रविष्ट करता है, प्राणों का (अग्नि सोमीय) अधिष्ठान (आधार भूत-आश्रय स्थान) है। दूषित होकर यह प्राण-हिक्का—श्वास-प्रतिश्याय आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

वि० मन्तव्य—प्राण प्रकर्षेण आ-समन्तात् अनिति अर्थात् जिसके द्वारा जन्तु जीवित रहता है प्राणी कहलाता है अथवा प्राणयति इति प्राणः-अर्थात् जो जीवित रहता है। इसका स्थान—नाभि माना जाता है-शरीर में दो अवयवों का नाम "नाभि" है १-धुन्नी या तुन्न जो उदर पर बाहर दीखती है। गर्भ या भ्रूण का प्राणन इसी के द्वारा होता है। २-"पक्वाऽऽमाशययोः मध्यं सिराप्रभवा नाभिः नाम मर्म" (सु०शा०अ०६) अर्थात् मलाशय एवं आमाशय का मध्य (क्षुद्रान्त्र नामक अवयव) "नाभि" है। यहीं से रसवाही सिराओं का प्रारम्भ होता है। जन्म के पश्चात्—नालच्छेदन के अनन्तर इसी नाभि से प्राण की प्रवृत्ति होती है जीवन भर और उसका हृदय भी माना जाता है -क्योंकि साधारणतः—हृदय की गति चालू रहने पर ही जीवन-प्राण रहता है अन्यथा नहीं। प्राण-उदान आदि शब्द "अन् प्राणने" धातु में उपसर्ग लगाकर बनाये गये हैं। प्राण का प्रभाव जीवन पर हैं ॥ १३ ॥

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥ १४ ॥
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥ १५ ॥

जो श्रेष्ठ वायु ऊपर को जाती है उसका नाम 'उदान' है इसके स्थान—नाभि-उर और कण्ठ हैं[2]। इस वायु के द्वारा ही—भाषण, गाना, उच्छ्वास आदि विशेष होते हैं। खासकर यह वायु जत्रु से ऊपर के (वक्ष एवं अंस संधि से ऊपर के), आँख, मुख, नासिका, कान एवं शिर के रोगों को तथा कामला आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—उदान—उत्—ऊर्ध्वं—आ—समन्तात् अनिति इति उदानः। अर्थात् जो ऊपर के अवयवों

१—यथा छान्दोग्योपनिषद् में—"वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते"। इसी प्रकार—"वायुत्वीय संसर्गः"—यहाँ से आरम्भ करके—'आध्यात्मं प्राणो वाव संसर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति'। (छा० ४ । ३ । ३)

२—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । सांख्यकारिका ।

३—वायुस्तंत्रयंत्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः,....इत्यादि । चरक० सू० अ० १२ ।

१ उपनिषद् में-"कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामीति-स प्राणमसृजत् ॥"

२-यथा सैन्धवोऽश्वः शंकुमुत्पाट्य धावति—तद्वत् प्राणो रुद्धः सन् सर्वान् वायूनुत्पाट्य प्रयाणकाले धावति ॥

२ यथा चरक में—
"उदानस्य पुनः स्थानं नाभि उरः कण्ठ एव च ।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोजो बलवर्णादि कर्म च ॥"

का प्राणन-करता है। इसका प्रभाव श्वास क्रिया पर है। श्वास क्रिया से ही भाषित आदि की प्रवृत्ति होती है ॥१५॥

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि ॥१६॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्।

समान वायु—पच्यमान आहार के आशय स्थान आमाशय में, वह्नि (जठराग्नि) से संगत (पार्श्व में) रहती है[1]। यह समान वायु अन्न का पाचन करती है, तथा अन्न से उत्पन्न होने वाले-रस, दोष, मूत्र, मलों को पृथक् करती है और विकृत होने पर—गुल्म, अग्निसाद (अग्निमान्द्य), अतीसार आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—समान–सं-सम्यक् आसमन्तात् अनिति इति समानः। इसका प्रभाव–अधिकार पाचन क्रिया पर है॥

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥१७॥
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१८॥

व्यान वायु—सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, तथा रसादि को प्रेरित करती है। स्वेद, एवं रक्त का विस्रावण करती है। प्रसारण, आकुंचन, विन्नमन, उन्नमन, तिर्य्यग् गमन (या गति प्रसारण-उत्क्षेप, निमेष-उन्मेष) आदि–यह पाँच प्रकार की चेष्टायें करती है। कुपित होने पर सर्व शरीर व्यापी ज्वर, अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—व्यान–विशेषेण आ-समन्तात् अनिति इति व्यानः। इसका प्रभाव समस्त शरीर पर है॥

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च ॥१९॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान्।

अपान का स्थान पक्वाशय है। यह वायु समय होने पर मल-मूत्र-शुक्र-गर्भ और आर्त्तव को नीचे की ओर खींचती है। क्रुद्ध होने पर वस्ति आश्रित (अश्मरी आदि) एवं गुदाश्रित (भगन्दर आदि) भयंकर रोगों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—अप अधस्तात् आ—समन्तात् अनिति इति अपानः। इसका प्रभाव—मलाशय, गुद मूत्राशय–मूत्र संस्थान तथा गर्भाशय और शुक्रवहस्रोतस् तथा डिंबकोश आदि बस्तिगह्वर के अवयवों पर है ॥१९॥

शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ॥२०॥
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्द्युरसंशयम्॥

व्यान और अपान वायु के मिलित अवस्था में कुपित होने से शुक्रजन्य एवं प्रमेह रोग उत्पन्न होते हैं[1]। एक साथ यदि सब वायु कुपित हो जायें तो, निःसन्देह शरीर का नाश कर देते हैं ॥२०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ॥२१॥
बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान्।
वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ॥२२॥
मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम्।
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ॥२३॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समारणः ॥२४॥

इसके आगे नाना स्थानों में आश्रित वायु के प्रकोप से होनेवाले रोगों को कहता हूँ। आमाशय में कुपित वायु-छर्दि (वमन), ऊर्ध्व रक्तपित्त, हृत्स्तम्भ आदि रोगों को मोह (चेतना नाश), मूर्च्छा, प्यास, हृदयग्रह (हृत्पीड़ा), पार्श्वशूल को उत्पन्न करती है। पक्वाशय में स्थित वायु कुपित होकर आंतों में गुड़-गुड़ाहट, नाभि में शूल, मल-मूत्र की कठिनाई से प्रवृत्त होना आनाह (आध्मान), त्रिक वेदना (कटिशूल), श्रवण दर्शन आदि विषयों में कुपित वायु कर्णादि इन्द्रियों का नाश करती है। मान–वर्त्तमान है, तथापि वह कारणभेद से किसी एक दो अवयवों में भी विकार रोग उत्पन्न कर देता है ॥२१–२४॥

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमुचुमायनम्।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२५॥
व्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः।
तथा मेदः श्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान् ॥२६॥
कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।
स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥२७॥
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च।
अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२८॥
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले ॥२९॥

त्वचा में स्थित वायु कुपित होकर विवर्णता स्फुरण (फड़कना), रूक्षता, सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का नाश), चुमचुमायन (शरीर पर सरसों का कल्क लगाने के समान चुनचुनाहट), त्वचा में शूल, त्वचा का सम्पूर्ण रूप में फटना एवं विदीर्ण होना उत्पन्न करती है। मांस में आश्रित वायु कुपित होकर रक्तजन्य व्रणों को तथा शूलयुक्त ग्रन्थियों को उत्पन्न करती है। मेद में आश्रित वायु कुपित होकर व्रण रहित तथा मन्द वेदना

---

१ यथा चरक में—"अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानः॥"

१ शुक्र के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से, प्रमेह के रस दूष्य प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण व्यानजन्य तथा मेढ्रद्वार में आश्रित होने से अपानजन्य रोग होते हैं।

वाली ग्रन्थियों को उत्पन्न करती है। शिरा में आश्रित वायु कुपित होकर–शिराशूल एवं शिराओं का संकोच एवं शिराओं में रक्त पूर्णता (High Blood Pressure) उपन्न करती है। स्नायु में स्थित वायु कुपित होकर–स्तम्भ (जड़ता) कम्पन, शूल और आक्षेप उत्पन्न करती है। सन्धियों में आश्रित वायु कुपित होकर-सन्धियों का नाश, शूल एवं सूजन उत्पन्न करती है। अस्थियों में आश्रित वायु के कुपित होने पर–अस्थिर शोष (tuberclosis of Bones) अस्थियों का टूटना अथवा अस्थियों में शूल होना है। मज्जा में स्थित वायु के कुपित होने पर, मज्जा का शोष तथा कभी भी शान्त न होनेवाली पीड़ा उत्पन्न करती है। शुक्र स्थान में स्थित वायु के कुपित होने पर, शुक्र की अप्रवृत्ति अथवा अति शीघ्र या बहुत देर में, ग्रथित-विवर्ण शुक्र का आना होता है ॥२५-२६॥

हस्तापादशिरोधातूंस्तथा संचरति क्रमात्।
व्याप्नुयाद्वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम् ॥३०॥
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सर्वगः।

जिस प्रकार से वायु हाथ पांव-शिर तथा धातुओं में गति करती है, उसी प्रकार से पुरुषों के सम्पूर्ण शरीर में गति द्वारा व्याप्त होकर—स्तम्भन (जड़ता), आक्षेप, अस्वाप (निद्रा नाश), शोफ, एवं शूल को सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न करती है ॥

स्थानेपूक्तेषु संमिश्रः समिश्राः कुरुते रुजः ॥३१॥

उपर्युक्त स्थानों में—पित्त आदि के साथ मिलकर वायु सम्मिलित वेदनायें (दाह आदि) उपन्न करती है ॥३१॥

कुर्यादवयवप्राप्तो मारुतस्त्वमितान् गदान्।
दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ॥३२॥
शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते।
सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता ॥३३॥
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते।

अवयवों में पहुँचकर वायु असंख्य रोगों को उत्पन्न करती है। तथा—वायु के पित्त के साथ मिलने पर दाह, सन्ताप (बेचैनी) और मूर्च्छा उत्पन्न होती है। वायु के कफ के साथ मिलने पर शीतलता, सूजन और शरीर में भारीपन होता है। वायु के रक्त के साथ संयुक्त होने पर–सूई चुभने के समान पीड़ायें, स्पर्श ज्ञान में अप्रीति, स्पर्शज्ञान का नाश तथा अन्य पित्तजन्यरोग होते हैं ॥३२,३३॥

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ॥३४॥
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते।
उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः ॥३५॥
अस्वेदहर्षो मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते।
समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ॥३६॥
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते।
अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः ॥३७॥
अधःकायगुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते।
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ॥३८॥
गुरूणि सवगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम्।
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च ॥३९॥

प्राणवायु के पित्त के साथ मिलने पर—छर्दि और दाह (जलन) होती है, प्राण के कफ के साथ मिलने पर—दुर्बलता, अंगों में ग्लानि तन्द्रा और विवर्णता आती है। उदान वायु के पित्त के साथ मिलने पर, मूर्च्छा, दाह, भ्रम, क्लम (बिना-परिश्रम के थकना) होता है, कफ के साथ मिलने पर पसीने का न आना, शरीर में रोमांच, अग्निमान्द्य, शीतलता और जड़ता उत्पन्न होती है। समान वायु के पित्त के साथ मिलने पर—स्वेद का आना, दाह, उष्णिमा और मूर्च्छा, कफ के साथ मिलने पर, कफ युक्त मल एवं मूत्र तथा शरीर में रोमांच होता है। अपान वायु के पित्त के साथ मिलने पर, दाह, उष्णिमा तथा स्त्रियों में रक्त प्रदर (रक्ताधिक्य) उत्पन्न होता है। अपानवायु के कफ के साथ मिलने पर शरीर के कटि से निचले भाग में विशेषरूप से भारीपन आ जाता है। व्यानवायु के पित्त के साथ मिलने पर—दाह, शरीर की इधर-उधर गति एवं क्लम उत्पन्न होता है। व्यान वायु के कफ के साथ मिलने पर—सम्पूर्ण अंगों में भारीपन, अस्थि सन्धियों में जड़ता, गमनादि चेष्टाओं में स्तम्भन होता है।

वि० मन्तव्य—आवृत का अर्थ है रुकना—प्राण आदि की गति को उदान आदि यदि रोक देते हैं तो वह "आवरण" या "आवृत होना" कहलाता है। उक्त प्राण आदि पांचों का परस्पर आवरण होता है, फलतः भिन्न २ विकार उत्पन्न हो जाते हैं और रस आदि धातुओं, वात कफ तथा अंत्र आदि से भी वायु का आवरण होता है। यथा–वायोः धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च। अर्थात्-वायु का कोप दो प्रकार से होता है—१–रसादि धातुओं के क्षय-ह्रास से—शरीर रिक्त—शुषिर या खोखला हो जाने से—इस अवस्था में वायु को इधर उधर दौड़ने फैलने का अवसर मिल जाता है और २–मार्ग के आवरण-अवरोध से--प्रकृत मार्ग न मिलने--रुकने से इस अवस्था में वायु रुककर विकृत हो जाता है, क्योंकि यह सदागति है-सर्वदा गति करता है तभी शुद्ध रहता है ॥३४-३९॥

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहारविहारिणाम्।
रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥४०॥
ऋतुसात्म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्।

अव्यवाये[1] तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥४१॥

वातरक्त रोग का कारण—

मिथ्या—अनुचित आहार एवं विहार (काय-वाङ्—मन का व्यापार) से, रोग से, अध्व (मार्ग), प्रमदा (स्त्री), मद्य, और व्यायाम के अति सेवन से, ऋतु के विपरीत होने से सात्म्य के विपरीत होने से, स्नेहादि पंचकर्मों के अतियोग—अयोग या मिथ्या योग से, व्यवाय (मैथुन) करने से, स्थूल एवं सुकुमार पुरुषों में वायु के कारण वातरक्त विशेष रूप में कुपित हो जाता है।

वि० मन्तव्य—वातरक्त रोग-वायु के रक्त के साथ मिलने तथा रक्त द्वारा आवृत होने पर होता है ॥४१॥

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः
कोपं यातः कारणैः सेवितैः स्वैः।
तीक्ष्णोष्णाम्लक्षारशाकादिभोज्यैः
संतापाद्यैर्भूयसा सेवितैश्च ॥४२॥
क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च
वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायु-
रत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ॥४३॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्।
तद्वत् पित्तं दूषितेनासृजाऽऽक्तं
श्लेष्मादुष्टो दूषितेनासृजाऽऽक्तः ॥४४॥

सम्प्राप्ति—

हाथी—घोड़े ऊँट की सवारी से अथवा अन्य मार्गगमन आदि कारणों से एवं स्वयं सेवन किये, विदाह कारक तीक्ष्ण-उष्ण-अम्ल-क्षार-शाक आदि भोजनों से, अथवा सन्ताप (धूप सेवन) आदि कारणों के सेवन से रक्त शीघ्र दूषित हो जाता है। यह दूषित रक्त शीघ्रगामी वायु के मार्ग को रोक लेता है। मार्ग के रुक जाने से वायु अत्यन्त कुपित होकर रक्त को विशेष मात्रा में दूषित कर देती है। यह रक्त-दूषित वायु के साथ संयुक्त होने से एवं वायु की प्रधानता के कारण (रक्त की अप्रधानता से) 'वातरक्त' कहा जाता है। इसी प्रकार से दूषित रक्त के साथ मिलकर पित्त भी दूषित हो जाता है, दूषित रक्त से मिलकर कफ भी दूषित हो जाता है।

वि० मन्तव्य—हाथी, घोड़ा तथा ऊँट आदि पर पाँव लटकाकर सवारी करने से--पाँव में रक्त उतर आने से होता है॥

स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोष-
स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ।
पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेता-
मत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदू च ॥४५॥
कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ
पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते।
सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः
स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति ॥४६॥

जिस समय 'वातरक्त' में वायु की प्रधानता रहती है, तब पाँवों में स्पर्श की असहिष्णुता, तोद (चुभने की वेदना), भेद (विदीर्णता), प्रशोष (शुष्कता), स्वाप (स्पर्श ज्ञान का नाश) होता है। जब पित्त एवं रक्त की प्रधानता रहती है, तब-तीव्र जलन, अतिशय उष्णता, लालरङ्ग की एवं कोमल सूजन (दबाने से दबनेवाली) होती है। जिस समय वातरक्त में कफ की प्रधानता रहती है—तब पाँव में खाज होती है, पाँव श्वेत एवं शीतल रहते हैं, सूजन होती है, मोटे हो जाते हैं, पाँवों में जड़ता रहती है। जिस समय वातरक्त में तीनों दोष मिले रहते हैं, उस समय सब दोषों के लक्षण पाँव में स्पष्ट होते हैं॥

प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ।
वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौषसमन्वितौ ॥४७॥

पूर्वरूप—पाँव शिथिल के विपरीत कठिन, स्विन्न के विपरीत स्वेद रहित, शीतल के विपरीत उष्ण होते हैं। पाँवों में विवर्णता, तोद (वेदना), सुप्तता (स्पर्शज्ञान का अभाव), भारीपन और दाह होता है ॥४७॥

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति ॥४८॥

कभी कभी यह वातरक्त पाँव या हाथ के मूल (तलुवे) का आश्रय प्राप्त करके—सम्पूर्ण शरीर में चूहे के विष के समान फैल जाता है। जिस प्रकार कि चूहे का विष प्रथम एक स्थान पर रहकर पीछे सम्पूर्ण शरीर में फैलता है, उसी प्रकार वातरक्त रोग भी।

वि० मन्तव्य – आखुविष के लिये देखिये—कल्प स्थान का मूषिक कल्पाध्याय ७ ॥४८॥

आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥४९॥
शोणितं तदसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम्।

असाध्य लक्षण—

जो वात रक्त जानु पर्यन्त फटा (व्याप्त) हो, जिसमें से स्राव बहता हो और जिसमें त्वचा विदीर्ण हो जाये, प्राण—(बल) एवं मांस का क्षय हो रहा हो (अंगुलिवक्रता, अर्बुद आदि हों) वह वातरक्त असाध्य है। एक साल पुराना वातरक्त याप्य होता है ॥४९॥

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ॥५०॥

---

[1]—डल्हणाचार्य ने अव्यवाय का अर्थ—मैथुनवर्जित किया है। यहाँ पर नञ्-अप्रशस्त अर्थ में है, क्योंकि कहा भी है—"भजतो विधिहीनञ्च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥"

तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ।
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥५१॥

आक्षेपक—

जिस समय कुपित वायु सम्पूर्ण धमनियों में (नाड़ियों) में व्याप्त हो जाती है, उस समय बार बार गति करनेवाली वायु शरीर को बार-बार आकुंचन एवं प्रसारण करती है। बार-बार आक्षेप उत्पन्न करने से इसको आक्षेपक कहते हैं।

वि० मन्तव्य—आक्षेपक--इस रोग में बार-बार आक्षेपण--झटके लगना—गिर जाना होता है ॥५०,५१॥

सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा ।
कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥५२॥
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ।
हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्रान्निषेवते ॥५३॥
धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ।
अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ॥५४॥
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ।
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ॥५५॥
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः ।
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥५६॥
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् ॥५७॥
कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ॥५८॥

जो आक्षेपक बीच-बीच में रोगी को मोहित कर देता है, उसको अपतानक[1] कहते हैं। जिस समय वायु का कफ के साथ अधिक सम्पर्क होता है और पित्त के साथ कम होता है, उस समय वायु धमनियों में व्याप्त होकर शरीर को दण्ड की भाँति जड़ बना देती है, इसको 'दण्डापतानक' कहते हैं। यह रोग कष्ट साध्य है। यदि वायु के कारण हनु सन्धि जाम हो जाती है, इसे हनुग्रह कहते हैं। इसमें रोगी अन्न को कठिनाई से चबाता है। वायु शरीर को धनुष की भाँति झुका दे तो 'धनुस्तम्भ' होता है। जिस समय बलवान् वायु—अंगुलि गुल्फ (गिट्टे), जठर (उदर), हृदय, वक्ष (उरःस्थल), गलका आश्रय करके सिरा स्नायु जाल में आक्षेप उत्पन्न करती हैं, उस समय रोगी 'विष्टब्धाक्ष' (निश्चलनेत्र), स्तब्ध हनु (स्थिर हनु सन्धि-वाला), पार्श्व टूटते हुए एवं कफ (श्लेष्मा), का वमन करते हुए, अन्दर की ओर धनुष के समान मुड़ जाता है, इस अवस्था को अन्तरायाम कहते हैं और जिस समय बलवान् वायु, पादमूल-पिण्डिकाकटि-पीठ, ग्रीवा पश्चिम भाग—इन स्थानों के बाह्य स्नायु जालों का आश्रय करके शरीर को बाहर की ओर झुकाती है, उसको 'बाह्यायाम' कहते हैं। वक्षकटि और ऊरु के टूटने पर यह रोग असाध्य है (यदि वक्ष-कटि और ऊरु का भंग न हो तो रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये)। आक्षेप रोग चार प्रकार का है। यथा—कफयुक्त, पित्तयुक्त, केवल वातजन्य और चौथा अभिघात जन्य[1]।

वि० मन्तव्य—आक्षेपक--इस रोग में अप-विपरीत अनुचित तनाव होता है। दण्डापतानक—शरीर सीधा तन जाता है। धनुस्तुल्यं नमेत्—धनुष् खींचने पर जैसे नमता है वैसे—शरीर या उसके अवयव वेग के समय नमते हैं, सर्वदा के लिये नहीं नम जाते। आयाम—खिंचाव या झुकाव—यह भी वेग के समय होता है, सर्वदा नहीं ॥५२-५८॥

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ।
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ॥५९॥

असाध्य अपतानक—

जो अपतानक रोग गर्भपात के कारण से अथवा अतिरक्त-स्राव से या चोट के कारण से उत्पन्न होता है, वह असाध्य है, यदि भाग्यवश कभी अच्छा भी होता है तो विकृति उत्पन्न कर देता है।

वि० मन्तव्य—अपतानक तथा अपतन्त्रक—गर्भस्राव—पात या प्रसव हो जाने पर प्रायः शान्त हो जाता है, परन्तु यदि इस दशा में उत्पन्न हो जाता है तो असाध्य होता है। अभिघात—शिर के भीतरी भाग में अथवा हृदय आदि मर्म पर आघात होने से होता है ॥५९॥

अधोगमाः सतिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहगाः ।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते ॥६०॥
तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ॥६१॥
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम् ।
ततः पतत्यसून् वाऽपि त्यजत्यनिलपीडितः ॥६२॥

पक्षाघात—

जिस समय अत्यन्त कुपित वायु-अधोगामी, तिर्यग्गामी और शरीर में ऊपर को जानेवाली, धमनियों (सिरा-स्नायु आदि) में व्याप्त हो जाती है, उस समय एक पार्श्व के सन्धि-बन्धनों को शिथिल बनाकर पक्ष (आधे शरीर) का हनन (चेष्टा नाश) करती है। इसको श्रेष्ठ वैद्य पक्षाघात कहते हैं। जिस पुरुष का सम्पूर्ण आधा शरीर अकर्मण्य (चेष्टा रहित) एवं अचेतन (स्पर्शज्ञान रहित) बन जाता है, वह वायु रोग से पीड़ित मनुष्य प्राणों को शीघ्र छोड़ देता है।

वि० मन्तव्य—पक्षाघात—कहा जाता है और प्रायः देखा भी जाता है कि जीवन में पक्षाघात के तीन दौरे

१—अपतानक चार प्रकार का है--दण्डापतानक, अन्तरायाम, बहिरायाम और धनुस्तम्भ।

१—आक्षेप चार प्रकार का है—अपतानक, संसृष्टाक्षेपक, केवलाक्षेपक और अभिघात जन्य।

होते हैं। कई कई मासों अथवा वर्षों पर और अन्तिम (तीसरे) दौरे में मृत्यु अवश्य हो जाती है। इस रोग का प्रभाव १३ से १५ दिन में समाप्त हो जाय या घट जाय तो ठीक अन्यथा जीवन भर रह जाता है। अर्द्धभाग में होने के कारण जीभ (वाणी) लड़खड़ा जाती है। यह रोग दक्षिण अथवा शरीरार्ध भाग में होता है ॥६२॥

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥६३॥

यदि वायु का कफादि के साथ संसर्ग न हो, केवल वायु के कारण ही पक्षाघात उत्पन्न हुआ हो तो वह कष्ट साध्य है। वायु का कफ आदि के साथ संसर्ग होने पर जो पक्षाघात उत्पन्न होता है, वह सुख साध्य है, धातु क्षय द्वारा कुपित वायु जन्य पक्षाघात रोग असाध्य है ॥६३॥

वायुरूर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शङ्खौ च पीडयत्यङ्गान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः ॥६४॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः ॥६५॥
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः ॥६६॥

अपतन्त्रक—

कुपित वायु अपने स्थान से ऊपर की ओर जाकर हृदय, शिर (मस्तिष्क), शंख प्रदेश (कनपटी) को पीड़ित करती है, हाथ-पाँव को चलाती है, या मोड़ देती है, रोगी की आँखें बन्द हो जाती हैं, निश्चेष्ट (चेष्टा रहित), अथवा आँखें स्तब्ध (स्थिर खुली) हो जाती हैं, । गले से कबूतर की तरह शब्द आता है, श्वास बन्द हो जाता है अथवा कठिनाई से श्वास लेता है, चेतना (ज्ञान) नष्ट हो जाती है, हृदय (मस्तिष्क पर से) पर से वायु का जोर हटने पर स्वस्थ हो जाता है, हृदय पर वायु का प्राबल्य होने पर फिर मूर्छित हो जाता है, इसको 'अपतन्त्रक' रोग कहते हैं। इसमें वायु का कफ के साथ संसर्ग रहता है[1]। इसको कोई अपतानक भी कहते हैं।

यथा—

वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ॥
चरक० सि० अ० ९।

वि० मन्तव्य—अपतन्त्रक—इस रोग में रोगी अपतन्त्रक-अस्वतन्त्र-अस्वाधीन हो जाता है। भीतर से चेतना बनी भी रहती है और नहीं भी। स्थानात्-पक्वाधानात् अर्थात्-मलाशय से वायु ऊपर को उठता है। रोगी के शब्दों में धूआँ सा उठकर हृदय से टकराता हुआ कण्ठ में डाट सा जाता है। फलतः उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यूनानी चिकित्सा ग्रन्थों में इसे "इख्तनाक उल रहम" कहा गया है, जिसका अर्थ है रहम = गर्भाशय उल=का इख्तनाक = ऐण्ठन मरोड़ और इसी भावना से भावित एलोपैथी ग्रन्थों में इसे "हिस्टीरिया" कहा है और यही जान सुनकर कुछ भारतीय वैद्यों ने इसे "योषापस्मार"—नारी का अपस्मार कहना प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु ईसवीय सन् १९१८–२० के आसपास हमारे गुरु भाई श्री पं० नानकचन्द जी लाहौर (अधुना दिल्ली) ने उक्त भावनाओं का खण्डन करके इसे अपतन्त्रक सिद्ध किया था। अर्थात् यह नारियों का या गर्भाशय का ही रोग नहीं अपितु, पुरुष में भी यह होता है और अब तो एलोपैथ भी मानने लगे हैं कि यह भ्रम है, अस्तु। श्री घाणेकर जी ने भी अपने शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है कि "कामशोकभयाद् वायुः कुर्यात्" के अनुसार यह रोग-नारियों तथा सैनिकों में अधिक अवश्य पाया जाता है। हाँ—जब यह कण्ठ में डाट के समान होकर रुक जाता है तब रोगी बोल नहीं सकता, पर भीतर से ज्ञानवान् रहता है और जब वायु शिर तक चला जाता है तब अचेतन हो जाता है ॥६४–६६॥

दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एष श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥६७॥

मन्यास्तम्भ—

दिन में सोने से, असमय (ऊपर नीचे) शय्या से, निरन्तर विकृत (तिरछा) या ऊपर को देखने से, कफ मिश्रित वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—मन्यास्तम्भ—इसमें ग्रीवा जकड़ जाती है, इधर उधर नहीं घूमती और घुमाने का यत्न करने पर वेदना होती है ॥६७॥

(गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये।)
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनादपि ॥६८॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः।
अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ॥६९॥
वक्रीभवति वक्त्रार्द्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते।
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ॥७०॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना।
यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ॥७१॥
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः।
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः ॥७२॥

अर्दित—

गर्भवती-'सूतिकावस्था' में, बालक, वृद्ध या क्षीण (निर्बल) पुरुष में, रक्त का क्षय होने, ऊँचे जोर से बोलने पर अति

१—"क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शंखौ च पीडयन् ॥""कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः" ॥ चरक० सि० अ० ९, १२, १४।

कठिन पदार्थों को खाने से, हँसने से, भार उठाने से (शिर पर), विषम या कठिन शय्या से, शिर, नासिका, ओठ, चिबुक, ललाट (माथा), नेत्र की सन्धियों में स्थित वायु मुख को पीड़ित करके 'अर्दित' रोग को उत्पन्न करती है। इससे चेहरे का आधा भाग टेढ़ा बन जाता है, ग्रीवा भी टेढ़ी हो जाती है शिर हिलता है, वाणी नहीं उठती, (साफ बोला नहीं जाता), नेत्र-भ्रूगण्ड आदि विकृत हो जाते हैं। जिस पार्श्व में अर्दित होता है, उस पार्श्व की ग्रीवा-चिबुक (हनु) और दान्तों में पीड़ा होती है। अर्दित रोग में पूर्वरूप—रोम हर्ष (रोमांच), वेपथु (कम्पन), नेत्रों में मलिनता और (गदलापन) वायु की ऊपर की ओर गति, त्वचा में स्पर्शज्ञान का नाश, तोद (शूल), मन्यास्तम्भ और हनुग्रह उत्पन्न होता है। ये अर्दित रोग के पूर्वरूप हैं, ऐसा रोगविशारद कहते हैं।

वि० मन्तव्य—अर्दित—इसे "लकवा" कहते हैं। इसका प्रभाव मुख पर ही होता है और आधे मुखमण्डल पर ऊपर से नीचे के आधे भाग पर और कभी २ समग्र मुखमण्डल पर भी होता है, यथा—अर्धे तस्मिन् मुखार्धे स्यात् केवले वा तद् अर्दितम्। च० चि० अ० २८। अर्थात् पक्षाघात यदि केवल मुख पर ही होता है तो उसे अर्दित कहते हैं ॥६८-७२॥

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताऽव्यक्तभाषिणः।
न सिध्यत्यर्दितं बाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ॥७३॥

असाध्य—

जो व्यक्ति क्षीण हो, अनिमेष (स्तब्ध) आँखोंवाले, प्रसक्त (निरन्तर) स्पष्ट बोलनेवाले, पुरुष का एवं बाढम् (गाढ-अतिशय) बढ़ा हुआ, तीन वर्ष का पुराना और वेपन (कम्पन) शील व्यक्ति का अर्दित रोग असाध्य है ॥७३॥

पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता ॥७४॥

गृध्रसी—

गुल्फ के अधो भाग एड़ी एवं अंगुलियों से सम्बन्धित स्थूल कण्डरा वायु से पीडित होकर टाँगों की गति को तिरस्कृत कर देती है, उसे गृध्रसी कहते हैं ॥७४॥

तलप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता ॥७५॥

विश्वाची—

तल (हाथ के अन्तःभाग की कण्डरा)—एवं प्रत्यंगुली (प्रत्येक अंगुलियों) की जो बाह्य कण्डरा है, वह वायु से पीड़ित होने पर बाहुओं की गति का ह्रास करती है, इसको 'विश्वाची' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—बाहु की गृध्रसी का नाम विश्वाची है। गृध्रसी में—चलने में और विश्वाची में बाहु उठाने में प्रथम कठिनाई होती है, परन्तु पश्चात् वह दूर हो जाती है ॥७५॥

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः।
शिरः क्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकमूर्धवत् ॥७६॥

क्रोष्टुक शीर्ष—

जो सूजन वात एवं रक्त के कारण घुटने में उत्पन्न हो, तीव्र वेदना को करती है, तथा शृगाल के शिर के समान-स्थूल मोटी होती है, उसे 'क्रोष्टुक शीर्ष' कहते हैं ॥७६॥

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः, पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ॥७७॥

खञ्ज और पंगु—

जिस समय कटि में आश्रित वायु टाँगों की कण्डरा (सिरा-स्नायुओं) को कार्य हीन कर देती है, उस समय पुरुष खञ्ज—(लंगड़ाकर चलता है) और यदि दोनों टाँगों की गति का नाश हो जाये, तो मनुष्य पंगु हो जाता है।

वि० मन्तव्य—खञ्जता तथा पंगुता में सक्थि की मांस-पेशियाँ सूख जाती हैं और अस्थियाँ सूख जाती हैं, और संकुचित (छोटी) भी हो जाती हैं। कुणि या अवबाहुक में भी ऐसा ही होता है ॥७७॥

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥७८॥

कलाय खञ्ज—

जिस समय रोगी चलने के प्रारम्भ में काँपता है और लंगड़े के समान चलता है उसे 'कलाय खञ्ज' कहते हैं। यह रोग सन्धिबन्धनों के शिथिल होने से उत्पन्न होता है। (यह रोग कलाय-मटर को खाने से होता है) ॥७८॥

न्यस्ते तु विषमं (मे) पादे रुजः कुर्यात् समीरणः।
वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुड्डकाश्रितः ॥७९॥

वात कण्टक—

जिस समय खुड्डक (एड़ी में अथवा पाद एवं जंघा सन्धि) में आश्रित वायु पाँव के विषम स्थान में पड़ने से वेदना उत्पन्न करती है, उसको 'वात कण्टक' कहते हैं ॥७९॥

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः।
विशेषतश्चङ्क्रमणात् पाददाहं तमादिशेत् ॥८०॥

पाद दाह—

पित्त एवं रक्त के साथ संयुक्त वायु—जिस समय पाँवों में दाह उत्पन्न करती है, इसको पाद दाह कहते हैं। यह रोग अधिक चलनेवालों में विशेष रूप से होता है ॥८०॥

हृष्यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत्।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपजः ॥८१॥

पाद हर्ष—

जब दोनों पाँव में हर्ष (झनझन) उत्पन्न होता है, और दोनों पाँवों में स्पर्श का अभाव हो जाता है (अन्दर से शीत), उसको पादहर्ष कहते हैं, यह रोग कफ-वातके प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥ ८१ ॥

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम्।
सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम् ॥ ८२ ॥

अंस प्रदेश में स्थित वायु स्कन्ध बन्धन (अंस सन्धि की श्लेष्मा) को सुखाकर अंस शोष रोग उत्पन्न करती है ! अंस देश में स्थित वायु = अंसप्रदेश की शिराओं का आकुंचन (संकोच) उत्पन्न करके अवबाहुक रोग को उत्पन्न करती है ॥ ८२ ॥

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥८३॥

बाधिर्य—

जब केवल वायु अथवा कफ के साथ (रक्त-पित्त के साथ भी) संयुक्त वायु-शब्दवह स्रोतों को घेरकर स्थिर हो जाती है, उस समय मनुष्य बधिर हो जाता है ॥ ८३ ॥

हनुशङ्खशिरोग्रीवं यस्य भिन्दन्निवानिलः।
कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

कर्णशूल—

जब वायु हनु-शंखप्रदेश, शिर एवं ग्रीवा को विदीर्ण करते हुए, कानों में शूल उत्पन्न करती है, उसे 'कर्णशूल' कहते हैं ॥ ८४ ॥

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनीः।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिणगद्गदान् ॥ ८५ ॥

जिस समय वायु कफ के साथ मिलकर शब्दवह धमनियों (नाड़ियों के स्रोतों) को घेर लेता है, उस समय मनुष्य मूक (गूङ्गा—Aphosia), मिन्मिण (सानुनासिक वाणी), और गद्गद (अस्पष्ट) वाणीवाला होता है ॥ ८५ ॥

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ॥ ८६ ॥
गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥ ८७ ॥

तूनी-प्रतितूनी—

जिस समय वर्च (मलाशय) और मूत्राशय से उत्पन्न वेदना—गुदा एवं उपस्थ को (क्रमशः) विदीर्ण करती हुई नीचे जंघाओं में जाती हैं, उसे 'तूनी' कहते हैं। जिस समय गुदा तथा उपस्थ से उत्पन्न वेदना प्रतिलोम (नीचे से ऊपर की ओर) फैलती है, और रुक-रुककर जोर के साथ पक्वाशय में पहुँचती है, इसको 'प्रतितूनी' कहते हैं ॥ ८६,८७ ॥

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम् ॥ ८८ ॥

आध्मान—

जिस समय उदर—कोष्ठ में आटोप (गुड़गुड़ शब्द) हो, अत्यन्त वेदना और उदर (पक्वाशय) वायु से फूला हो, इसको आध्मान कहते हैं। यह रोग कष्टकारी एवं वायु के अवरोध से उत्पन्न होता है ॥ ८८ ॥

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥८९॥

प्रत्याध्मान—

जिस समय कफ युक्त वायु के कारण आध्मान आमाशय से उत्पन्न हो और पार्श्व तथा हृदय में वेदना उत्पन्न करे तो इसको 'प्रत्याध्मान' कहते हैं ॥ ८९ ॥

अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम्।
वाताष्ठीलां विजानीयाद् बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥९०॥

अष्ठीला—

जिस समय वायु—अष्ठीला (गोल बड़े पाषाण अथवा लुहारों के घन) के समान—ग्रन्थि के आकार की अति ऊँची—गोलाकार सूजन उत्पन्न करती है इसको वाताष्ठीला कहते हैं। यह वायु मल मूत्र के बाह्य वेगों को रोक देती है ॥ ९० ॥

एनामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ९१ ॥

प्रत्यष्ठीला—

जिस समय यही अष्ठीला उदर में तिरछी उत्पन्न होकर, वेदना उत्पन्न करती एवं वायु, मल और मूत्र को रोक देती है, इसको 'प्रत्यष्ठीला' कहते हैं ॥ ९१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वातव्याधिनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

पाँचों प्रकार की वायु[1] पित्त एवं कफ के साथ मिलकर अर्शरोग को उत्पन्न करती है, इसलिये अर्श रोग में वायु की प्रधानता होने के कारण वात व्याधि के अनन्तर अर्श निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति ॥ ३ ॥

अर्श रोग छै प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और सहज, अर्थात् गर्भ में

१ पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥

रक्त अथवा शुक्र के दुष्ट होने से गुदारम्भकमात्र बीज के दूषित होने से जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है।

वि० मन्तव्य—विधि भेद से अर्श २ प्रकार के होते हैं—१—सहज, २—जन्मोत्तर कालज। पुनश्च—१—शुष्कार्श–वातज एवं कफज और २—आर्द्रार्श पित्तज एवं रक्तज ॥३॥

तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपलत्लोष्टवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥

सामान्य कारण—

अजितेन्द्रिय पुरुषों में यथोक्त वात प्रकोपक कारणों (बलवान् के साथ लड़ाई, रूक्ष, शीत, अमिताशन आदि), से विरुद्ध भोजनों से, अध्यशन से, अति स्त्री-सेवन से, उत्कटासन (अकड़ू बैठने), पृष्ठयान (घोड़े-बाईसिकल आदि सवारी) से, वेगविधारण (मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने) आदि कारणों से दोष अलग-अलग अथवा दो-दो दोष मिलकर या समस्त रूपमें अथवा रक्त के साथ कुपित होकर क्रमशः फैलकर प्रधान धमनी (रक्त वाहिनी) में पहुँचकर गुदा की वलियों को (छुर्रियों को) दूषित करके मांसांकुरों को उत्पन्न करते हैं। मन्दाग्नि पुरुष में यह रोग विशेष रूप से होता है[1]। तिनके, काष्ठ-उपल (पत्थर), लोष्ट, वस्त्र आदि से एवं ठण्डे पानी के स्पर्श से ये अंकुर विशेष रूप में बढ़ते हैं। इन अंकुरों को 'अर्श' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—मलाशय के नीचे त्रिवलिमय अवयव का नाम गुद है, उसका निम्न भाग "गुदौष्ठ" (गुद का ओठ) कहलाता है, यह पुरीषोत्सर्ग का मार्ग है, इसमें मांसमय अंकुर-मस्से उत्पन्न हो जाते हैं, जो अर्श कहे जाते हैं, इसे "बवासीर" कहते हैं। ये गुदौष्ठ पर भी होते हैं, जो सर्वदा बाहर ही वर्तमान रहते हैं। यह अंकुर एक भी और एकाधिक भी होते हैं। अर्शांसि अधिमांसविकाराः (च० चि० अ० १४) अर्थात् ये अर्श मांस के मस्से हैं। मांस में अधिष्ठित विकार हैं ॥४॥

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः, तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसंभूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः, सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः ॥५॥

गुदा—स्थूलांत्र से सम्बन्धित साढ़े चार अंगुल परिमित भाग को गुदा कहते हैं। इसमें तीन वलियाँ आधे-आधे अंगुल के अन्तर से स्थित हैं। इन वलियों के नाम-प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी हैं। ये सब चार अंगुल मोटी (संकुचितावस्था में) हैं और मूत्र वलियाँ बिना अन्तर के एक अंगुल ऊपर स्थित हैं।

वि० मन्तव्य—प्रवाहणी–पुरीष का प्रवाहण करती है, उसे निकालने का प्रयत्न करती है, विसर्जनी–उसे त्यागती है, संवरणी–उसे रोकती है। यदि पुरीष नहीं ही रुकता तो गुदौष्ठ तब तक रोकता है, जबतक पुरीषोत्सर्गार्थ बैठा जाता है ॥५॥

शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः।
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः।
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः ॥६॥
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे ॥७॥

ये वलियाँ शंख के ऊपर-ऊपर पड़े आवर्त्त (भँवरों) के समान एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इनका वर्ण–हाथी के तालु के समान (कुछ काला लाल) है। रोम प्रान्तों से (रोमराजि से) डेढ़ यव ऊपर गुदौष्ठ है। प्रथम वलि गुदौष्ठ से एक अंगुल भर दूर है। एक अंगुल = ८ यव के बराबर या ३/४ इंच है ॥६,७॥

तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि–अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात् पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यमक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशंका पाण्डुरोगग्रहणीदोषशोषाणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ॥८॥

पूर्वरूप—

भोजन में अरुचि, भोजन का कठिनाई से पचना, अम्लीका (खट्टे डकार आना), परिदाह (हृदय में जलन), सक्थिसदन (टांगों से न चला जाना-ग्लानि), आटोप (आध्मान), कार्श्य (कृशता), उद्गार बाहुल्य (डकारों का आना), आँखों में सूजन, अन्त्रकूजन (आँतों में गुड़गुड़ाहट), गुदपरिकर्त्तन (गुदा में कटने के समान क्षत), पाण्डु-ग्रहणीशोष की आशंका, कास-श्वास, शक्तिह्रास, भ्रम (चक्कर आना), तन्द्रा निद्रा और इन्द्रियों में दुर्बलता—ये भावि अर्श के पूर्वरूप हैं ॥८॥

जातेष्वेतान्येव लक्षणानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति ॥९॥

अर्शरोग के उत्पन्न होने पर यही लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं ॥९॥

---

१ त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ॥ चरक।

तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः सशूलं संहतमुपवेश्यते, कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति, गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपूरीषश्च पुरुषो भवति ॥१०॥

वातजन्य अर्श—

वायु के कारण अर्श परिशुष्क (स्राव रहित), अरुण वर्ण (लाल काले रंग के), नाना प्रकार के वर्णोंवाले, बीच में से नीचे ऊँचे, कदम्बपुष्प, तुण्डिकेरी (तालु रोग भेद या वन कार्पासी के फूल के समान), नाड़ी (नील) और मुकुल (डोडी) के समान एवं सूई (तीक्ष्ण मुख) के समान मुखवाले होते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित मनुष्य शूल के साथ कठिन मल का त्याग करता है। कटि, पीठ, पार्श्व, मेढ़ (शिश्न), गुदा, नाभि प्रदेश में इसकी वेदना होती है। अर्शरोग के कारण ही इस पुरुष को गुल्म, अष्ठीला, प्लीहोदर हो जाते हैं। रोगी की त्वचा नख-आँखें दांत चेहरा—मूत्र और मल भी काला पड़ जाता है ॥१०॥

पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥११॥

पित्तजन्य अर्श—

आगे से नीले तनु (कृश), विसर्पी (फैलनेवाले), पीले रंग के, यकृत् के समान काले-नीले, तोते की जीभ के समान आकारवाले, जौ के समान बीच में से मोटे, किनारों से पतले, जोंक के शरीर के समान संकोच एवं प्रसरण स्वभाववाले, प्रक्लिन्न (स्राव युक्त) होते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित मनुष्य जलन एवं रक्त मिश्रित मलका त्याग करता है। इस व्यक्ति को ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा उपद्रव होते हैं। रोगी की त्वचा, नख, आँखें, दाँत, चेहरा, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥

श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः श्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥१२॥

कफजन्य अर्श—

श्वेत, महान् मूलवाले, स्थिर (कठिन), गोल, स्निग्ध (चिकने), पाण्डु (धूसरवर्ण), करीर (वंशांकुर या करीर वृक्ष), पनस (कटहल) के फल के समान, गाय के स्तन जैसे अंकुर होते हैं। ये अंकुर न तो फटते हैं न इन से स्राव बहता है, इनमें खाज बहुत अधिक होती है। इन उपद्रवों से पीड़ित व्यक्ति कफ मिश्रित, मात्रा में बहुत अधिक, मांस के धोवन के समान मल का त्याग करता है। इस व्यक्ति को शोफ, शीतज्वर, अरुचि, अविपाक, शिर में भारीपन—ये उपद्रव इसी अर्श के कारण होते हैं। रोगी की त्वचा--नख, आँखें, दन्त, चेहरा, मूत्र और मल श्वेत हो जाते हैं ॥१२॥

रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदावगाढपुरीषपीडितानि भवन्ति, तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति ॥१३॥

रक्तजन्य अर्श—

न्यग्रोध प्ररोह (वटांकुर), विद्रुम (मूङ्गा), काकणन्तिका (गुंजा-रत्ती) के फल के समान लालवर्ण एवं पित्तजन्य अर्श के लक्षणों से युक्त होते हैं। जिस समय मल के कठिन होने से इन अंकुरों पर दबाव पड़ता है, तब इन अंकुरों से अत्यन्त दूषित, बहुत अधिक रक्त सहसा निकलने लगता है। रक्त के अधिक स्राव होने से अतिरिक्त स्रावजन्य आक्षेपकादि उपद्रव हो जाते हैं ॥१३॥

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ॥१४॥

सन्निपातजन्य अर्श में सब दोषों के लक्षण मिलते रहते हैं ॥

सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पांसूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेता, क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निप्राणः परमलसश्च, तथा घ्राणशिरोऽक्षिनासाश्रवणरोगी, सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ॥१५॥

भवति चात्र—

सहजात अर्श–दूषित शुक्र एवं दूषित रक्त के कारण उत्पन्न होते हैं। इन अर्शों में दोष के लक्षणों को देखकर चिकित्सा करनी चाहिये। दुर्दर्शनानि (कठिनाई से दीखते हैं), परुष (कठोर), पाण्डु (धूसरवर्ण), दारुण (कष्टदायक) और अन्दर की ओर मुख किये अन्तःवलि में होते हैं। इन लक्षणों से पीड़ित व्यक्ति-कृश, थोड़ा खानेवाला, शरीर पर सिरा जाल दीखता है, थोड़ी संतानवाला, क्षीणवीर्य, क्षीण स्वरयुक्त, क्रोधी, अल्पाग्नि, अल्पबल, शिर-आँख-नाक-कान के रोगों से युक्त, निरन्तर अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ाहट), आटोप (आध्मान), हृदय कफ से व्याप्त, अरुचि आदि रोगों से पीड़ित रहता है ॥१५॥

बाह्यमध्यवलिस्थानां प्रतिकुर्याद् भिषग्वरः।
अन्तर्वलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१६॥

कहा भी है—

बाह्य और मध्य वलि में स्थित अर्श रोग की वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिये। अभ्यन्तर वलि में स्थित अर्श रोग का निराकरण करके—(असाध्य समझकर) चिकित्सा करनी चाहिये ॥१६॥

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति। ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वं, योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति, ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवं च, नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डूपदमुखसदृशान् करीराञ्जनयन्ति। त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति, तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदना स्रावो दर्शननाशश्च घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च, वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति ॥१७॥

मेढ्रादि में अर्श—

कुपित हुए वातादि दोष—मेढ्र (मेहन) में आश्रित होकर मांस एवं रक्त को दूषित करके कण्डू उत्पन्न करते हैं। कण्डू के कारण व्रण उत्पन्न हो जाता है। इस क्षत में दूषित मांस जन्य प्ररोह (अंकुर) शिश्न के मणि भाग पर या त्वचा के ऊपर (बाह्यचर्म) उत्पन्न हो जाते हैं। ये अंकुर—पिच्छिल (चिकने), रुधिर का स्राव करनेवाले और कूर्चकि (सुअर के बाल के समान-मोटे दीर्घ) के समान शिश्न के ऊपर या अन्दर होते हैं। ये अंकुर शिश्न का नाश कर देते हैं और पुरुषत्व को भी मिटा देते हैं। दूषित दोष योनि का आश्रय करके मांस एवं रक्त को दूषित करके सुकुमार (कोमल), दुर्गन्ध युक्त, चिकने, रक्तस्रावि, छतरी के आकारवाले अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। ये अंकुर योनि और आर्त्तव दोनों का नाश कर देते हैं। ये ही दूषित दोष आन्तों में पहुँचकर कोमल, दुर्गन्धयुक्त, चिकनें, गण्डूपद (गिंडोये) के मुख के समान अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। ये ही दोष श्रोत, आँख, नासिका और मुख में ऊपर की ओर आकर अर्श रोग को उत्पन्न करते हैं। इनके कारण कानों में बधिरता, शूल, कान से पूय (दुर्गन्ध) आना, आँखों में वर्त्मावरोध (आँख की पलक का बन्द होना), पीड़ा, स्राव तथा अन्धापन उत्पन्न होता है। नासिका में अर्श होने से प्रतिश्याय, छींकों का बहुत आना, कठिनाई से श्वास लेना, पूतिनस्य (नाक से दुर्गन्ध आना), सानुनासिक वाक्य (नासिका मिश्रित वचन) और शिर में वेदना होती है। मुख में—कण्ठ, ओष्ठ, तालु—इनमें से कहीं पर अर्श होने से, गद्गद (अस्पष्ट) वाणी, रस की अज्ञानता और मुख के रोग होते हैं।

वि० मन्तव्य—टाउँसल कण्ठ के अर्श हैं। ये कफ कारक आहार से उत्पन्न होते हैं और कफ नाशक चिकित्सा से शान्त हो जाते हैं। कण्ठरोगों में इन (टाउँसल) का वर्णन नहीं मिलता, क्लिष्ट कल्पना करना दूसरी बात है। अर्श के समान यद्यपि इनका भी छेदन किया जाता है, परन्तु "भ्रंशस्तत्र सुदारुणः" (च० चि० अ १४) इसमें थोड़ी भी भूल भीषण होती है ॥१७॥

व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥१८॥

प्रकुपित व्यान वायु कफ के साथ मिलकर गुदौष्ठ से बाहर (अथवा अन्यत्र त्वचा में) स्थिर (कठोर), कील के समान (शंकु-खुण्टे की भांति) अर्श (अंकुरों) को उत्पन्न करती हैं। इनको चर्मकील रूप अर्श कहते हैं ॥१८॥

भवन्ति चात्र—

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते।
श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रन्थित्वं च विनिर्दिशेत् ॥१६॥
पित्तशोणितजं रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्लक्ष्णता तथा।
समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम् ॥२०॥

कहा भी है—

इन चर्मकीलों में विशेष रूप से शूल का होना वायु का लक्षण है। कफ के कारण चर्मकीलों का रङ्ग कफ के समान श्वेत और ग्रन्थि रूप इनका आकार होता है। पित्त एवं रक्तजन्य चर्मकीलों में—रूक्षता, कालापन चिकना रङ्ग तथा समुदीर्णखरत्व (अतिशय खरता) होता है ॥

वि० मन्तव्य—एक आश्चर्य—चर्मकील इष्टदेवता की कोई मनौती मानने पर लुप्त हो जाते हैं, अर्श-मन्त्राभिमन्त्रित चान्दी का छल्ला पहनने से शान्त हो जाते हैं। अनेक सज्जन इस प्रकार के छल्ले बाँटते हैं। खोज कीजिये ॥१६,२०॥

अर्शसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यतस्तु यत्।
तत्सर्वं प्राग्विनिर्दिष्टात्साधयेद्भिषजां वरः ॥२१॥

मेढ्र आदि स्थानों में उत्पन्न अर्श के जो लक्षण संक्षेप में कहे हैं, इनको पूर्व कहे हुए (वात आदि के भेद से विस्तार रूप में—कहे हुए) लक्षणों द्वारा वैद्य को जानना चाहिये। (अथवा अर्श संक्षेप में छः प्रकार का और विस्तार में पन्द्रह प्रकार का है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं) ॥२१॥

अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥२२॥

जिस समय अर्श में दोनों के लक्षण स्पष्ट दीखते हों, उस समय इसको संसर्ग जानना चाहिये। यह संसर्ग (मिश्रण) छः प्रकार का है। यथा—वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ, वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, इनके लक्षणों को सूत्रस्थानोक्त वर्ण-वेदना के लक्षणों से जानना चाहिये[1] ॥२२॥

त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत्।
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ॥२३॥
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च।
सन्निपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ॥२४॥

वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न, अल्प लक्षणों-वाले अर्श याप्य हैं। द्वन्द्व (संसर्ग जन्य) जन्य अथवा दूसरी बलि में आश्रित एवं एक साल पुराना अर्श रोग कष्ट साध्य है। सन्निपातजन्य एवं सहजन्य (जन्म के) अर्श सर्वथा असाध्य हैं।

सर्वाः स्युर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः।
तैस्तु प्रतिहतो वायुरपानः सन्निवर्तते ॥२५॥
ततो व्यानेन सङ्गम्य ज्योतिर्मृद्नाति देहिनाम् ॥२६॥

अग्निमान्ध का कारण—

जिन पुरुषों की सब बलियाँ अर्श रोग (अंकुरों) से भरी होती हैं, उन पुरुषों में अवरोध होने से अपान वायु रुक जाती है (बाहर नहीं निकलती)। यह अपान वायु व्यान वायु से मिलकर पुरुषों की ज्योति (पञ्चात्मक) अग्नि को मन्द कर देती है। यह उपद्रव प्रायः करके सहजन्य अर्श रोग में होता है॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽर्शोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीणां निदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

गुदा और वस्ति का एक ही समान आश्रय होने से इस सजातीयधर्म की अपेक्षा से अर्श रोग के पीछे अश्मरी निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति, श्लेष्माधिष्ठानाः। तद्यथा—श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति ॥३॥

अश्मरी रोग चार प्रकार का है, श्लेष्मा इन अश्मरियों का अधिष्ठान (समवायी कारण) है। यथा—कफजन्य, वातजन्य पित्तजन्य, और शुक्रजन्य।

वि० मन्तव्य—अश्मरी को पथरी कहते हैं। यह वृक्क की विकृति—से मूत्राशय में आगत श्लेष्मा को केन्द्रित (मूल) बना कर धीरे-धीरे निर्मित होती रहती है और कभी वृक्क में भी इसका निर्माण हो जाता है। जैसे पाषाण की खान में पाषाण का छोटा कण भी कालान्तर में अपने उपादान का संग्रह करते-करते बड़ा हो जाता है वैसे अश्मरी भी बढ़ती रहती है। आजकल के चिकित्सक (एलोपैथ) यकृत् या पित्तकोश में भी अश्मरी की सत्ता मानते हैं, परन्तु वह पित्तग्रन्थि होती है "पित्तेषु इव रोचना गोः" जैसे गौ के पित्त में रोचन (पित्तग्रन्थि) का निर्माण हो जाता है। मेरे प्रिय शिष्य—श्री पं० शिवरामजी वैद्य (खाड़ अम्बाल) ने सन् १९४१ या ४२ में पित्ताश्मरी (पित्त ग्रन्थि) उदर पर ईख पीड़ने की वेलन घुमा कर पुरीष के साथ निकाली थी, जो छोटे अंगूर के समान थी, परन्तु वह ४-५ मास में सूखकर मटर से भी छोटी हो गई थी, किन्तु मूत्राशय की अश्मरी सूखकर छोटी नहीं होती। जब मूत्र में वे पदार्थ आकर वस्ति में सञ्चित होने लगते हैं, जो कि मूत्र के साथ निकल जाने चाहिये, तब अश्मरी का रूप धारण कर लेते हैं ॥३॥

तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य बस्तिमश्मरीं जनयति ॥४॥

सम्प्राप्ति—(वात-पित्त और कफ दोषजन्य अश्मरी की) असंशोधन शील (जो कि वमन, विरेचन नहीं करता), अपथ्य-कारी (निदान सेवी) व्यक्ति में कफ कुपित होकर मूत्र के साथ मिलकर वस्ति (मूत्राशय) में पहुँचकर अश्मरी को उत्पन्न करता है। जैसे कहा है—

"संहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः।
तद्वद्बलासं वस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः" ॥४॥

तासां पूर्वरूपाणि—ज्वरो बस्तिपीडारोचकौ मूत्रकृच्छ्रं बस्तिशिरोमुष्कशेफसां वेदना कृच्छ्रावसादो बस्तगन्धित्वं मूत्रस्येति ॥५॥

पूर्वरूप—

ज्वर, बस्ति पीड़ा (वस्ति में आध्मान), अरुचि, मूत्रकृच्छ्र (कठिनाई से मूत्रस्राव), बस्ति शिर (वृक्क एवं गवीनी-मूत्र प्रणाली), मुष्क (अण्डकोष) और शेफ (शिश्न) में वेदना (पीड़ा), ज्वर, कृच्छ्रावसाद (कष्टयुक्तअङ्ग ग्लानि, मूत्र में बस्त-गन्ध (बकरे की गन्ध) आना, ये अश्मरी रोग के पूर्वरूप हैं। (बस्ति शिर का अर्थ श्रीघाणेकर जी ने Internal urethal orific) किया है ॥५॥

---

१ पन्द्रह भेद—उपरोक्त छै भेद, वातपित्त-रक्त, वातकफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, वातजन्य, पित्तजन्य, कफ-जन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और वात पित्त-कफ एवं रक्तजन्य, ये पन्द्रह भेद हैं: सहज अर्शो का इन्हीं में अन्तर्भाव होता है।

यथास्ववेदनावर्ण दुष्टं सान्द्रमथाविलम् ।
पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः ॥६॥

वातादि दोष के अनुसार वेदना तथा मूत्र में वर्ण (रङ्ग), सान्द्र (घनता), आविल (गदलापन) होता है। अश्मरी रोग के पूर्वरूप में, रोगी कठिनाई से मूत्रत्याग करता है ॥६॥

अथ जातासु नाभिबस्तिसेवनीमेहनेष्वन्यतमस्मिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाशमत्याविलं ससिकतं विसृजति, धावनलङ्घनप्लवनपृष्ठयानोष्णाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति ॥ ७ ॥

सामान्य लक्षण—

अश्मरी के उत्पन्न होने पर मूत्र प्रवाहण के समय बस्ति (मूत्राशय), सेवनी (perinium) और मेहन इनमें से किसी एक में वेदना (पीड़ा), मूत्र मार्ग में अश्मरी के आने से मूत्र की धारा का निरोध, रक्त मिश्रित मूत्र का आना, अश्मरी के मार्ग से हट जाने पर मूत्र का रङ्ग गोमेदक मणि के समान अति आविल (बहुत गदला) होता है। सिकता (वालुका) मिश्रित मूत्र त्याग करता है। भागना, कूदना, तैरना, पृष्ठयान (घोड़े आदि की सवारी), उष्ण गमन (गरमी में चलना, पसीने के रास्ते जलीय भाग कम होने से अथवा ग्रीष्म ऋतु में), अध्वगमन (सफर करने) से वेदना होती है[१] ॥७॥

तत्र श्लेष्माश्मरी श्लेष्मलमन्नमभ्यवहरतोऽत्यर्थमुपलिप्याधः परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दाल्यते भिद्यते निस्तुद्यत इव च बस्तिर्गुरुः शीतश्च भवति, अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधूकपुष्पवर्णा वा भवति, तां श्लैष्मिकीमिति विद्यात् ॥८॥

इनमें श्लेष्माश्मरी—कफवर्धक अन्न को अधिक मात्रा में सेवन करने से कफ नवघट पंक-न्याय से नीचे की ओर बढ़ता हुआ बस्ति मुख मूत्राशय) का आश्रय करके मूत्र स्रोतों को रोक देता है। मूत्र के रुक जाने से बस्ति में कुल्हाड़े से काटने के समान वेदना, आरी से चीरने के समान पीड़ा, सूइयों के चुभने के समान शूल होता है, बस्ति भारी और शीतल हो जाती है। कफ जन्य अश्मरी—श्वेत, स्निग्ध, महान् कुक्कुट के अण्डे के समान अथवा महुवे के फूल के रङ्ग की होती है। इसको कफ जन्य अश्मरी कहते हैं ॥८॥

पित्तयुतस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दूष्यते चूष्यते दह्यते पच्यत इव बस्तिरुष्णवातश्च भवति, अश्मरी चात्र सरक्ता पीतावभासा कृष्णा भल्लातकास्थिप्रतिमा मधुवर्णा वा भवति, तां पैत्तिकीमिति विद्यात् ॥९॥

पित्त से मिश्रित श्लेष्मा संघात (कठिन) होकर पूर्व की भांति बढ़कर बस्ति मुख का आश्रय करके मूत्रवह स्रोतों को रोक लेता है। मूत्र के अवरोध से बस्ति समीपस्थ अग्नि द्वारा मानो तपाया जाता हो, जलाया जाता हो, अथवा पकाया जाता हो, ऐसा प्रतीत होता है तथा उष्ण वात नामक मूत्ररोग भी होता है। पित्त जन्य अश्मरी—रक्त मिश्रित-पीली झाँई वाली, काली, भिलावे की गुठली के समान अथवा शहद के रङ्ग की होती है। इसको पैत्तिक अश्मरी जानना चाहिये ॥९॥

वातयुतस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिगुणमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीव्रा वेदना भवति, तदाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति, नाभिं पीडयति, मेढ्रं प्रमृद्नाति, पायुं स्पृशति, विशर्धते, विदहति, वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण चास्य मेहतो निःसरन्ति, अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिकीमिति विद्यात् ॥१०॥

वायु से मिश्रित कफ कठिन होकर पूर्वोक्त की भांति बढ़कर बस्ति मुख का आश्रय करके मूत्रवह स्रोतों को रोक लेता है। मूत्र के रुक जाने पर बस्ति में तीव्र वेदना होती है। इस वेदना से अत्यन्त पीड़ित होकर रोगी दांतों को भींचता है, नाभि को दबाता है, मेढ्र (शिश्न) को मलता है, पायु (गुदा) को छूता है, जोर से चिल्लाता है, परितप्त होता है। मूत्र का प्रवाहण करने पर, वायु-मूत्र और मल कठिनाई से बाहर आते हैं। इसमें अश्मरी—कृष्णवर्ण, कठोर, ऊँची-नीची (टेढ़ी), खुरदरी, कदम्ब के फूल के समान कांटों से व्याप्त होती है, इस को वातजन्य अश्मरी जानना चाहिये ॥१०॥

प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति; तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादनुपचितमांसत्वाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति। महतां तु शुक्राश्मरी [१]शुक्रनिमित्ता भवति ॥११॥

प्रायः करके ये तीनों दोषजन्य अश्मरियां बालकों में होती हैं। क्योंकि—दिन में सोने से, हिताहित आहार करने से, शीत-गुरु-मधुर आहार के प्रिय होने से बच्चों में होती हैं। इन बालकों में बस्ति के तथा शरीर के छोटा होने से, बस्ति में मांस

---

१ कहा भी है—
"विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम्।
तत्संक्षोभात् क्षते सास्रम् ॥"

१ बारह वर्ष से पूर्व शुक्र उत्पन्न नहीं होता। इस अवस्था में पौरुष ग्रन्थि का श्वेत वर्ण स्राव होता है, जिसको कि कई शुक्र समझते हैं।

के बहुत अधिक न बढ़ने से सुख पूर्वक खींचकर बाहर निकाली जा सकती है। बड़े पुरुषों में शुक्राश्मरी 'शुक्र के कारण से उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥

मैथुनविघातादतिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छद्विमार्गगमनादनिलोऽभितः संगृह्य मेढ्रवृषणयोरन्तरे संहरति, संहृत्य चोपशोषयति; सा मूत्रमार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्रं बस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते; तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् ॥ १२ ॥

एकाएक मैथुन रोकने से, अथवा अति मैथुन के कारण अपने स्थान से चलायमान शुक्र मार्ग से बाहर न आकर अथवा विमार्ग (उल्टे रास्ते) में जाकर-वायु द्वारा, ऊपर-नीचे-पार्श्वस्थ दोनों धमनियों से एकत्रित होकर, मेढ्र, वृषण के मध्य (बस्ति द्वार के नीचे, शुक्राशय) में इकट्ठा, गोलाकार बन जाता है। इसको एकत्रित करके वायु सुखा देती है। यह शुष्क शुक्ररूपी अश्मरी मूत्रमार्ग को बन्द कर देती है। इसके कारण—मूत्र का कठिनाई से आना, बस्ति में वेदना तथा दोनों अण्डकोषों में सूजन उत्पन्न हो जाती है। शुक्राशय पर दबाव डालने से (गुदा में अंगुलि प्रवेश करके) इसी प्रदेश में अश्मरी-छोटी होने से विलीन हो जाती है। इसको शुक्राश्मरी समझना चाहिये। (ये लक्षण नूतन अश्मरी के समझना चाहिये) ॥ १२ ॥

वदन्ति चात्र—

शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्।

कहा भी है—

शर्करा (बारीक रेत) मेह, सिकता (दानेदार वालुका) मेह और भस्माख्य (मूत्र शुक्र नामक मूत्र रोग) ये अश्मरी के विकार (कार्य) हैं ॥

अश्मर्या शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना ॥ १३ ॥
पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः।

शर्करा में अश्मरी के समान ही लक्षण और वेदना होती है। खासकर यदि अश्मरी छोटी हो, तो वायु के अनुकूल होने पर बाहर निकल आती है।

वि० मन्तव्य—अश्मरी प्रारम्भ में जब वह छोटी होती है तो मूत्र के साथ निकल भी जाती है और बड़ी होने पर भी यदि वह टूट २ कर कण रूप में परिणत या विभक्त होने लगती है तो मूत्र के साथ निकलती रहती है, यही सिकता या शर्करा कहलाती है। जैसे पाषाण का चूर्ण—सिकता (बारीक वालू) तथा शर्करा (मोटा वालू-रेत) कहलाता है। भस्मक मेह में—भस्म के घोल कासा मूत्र होता है ॥ १३ ॥

सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते ॥ १४ ॥
हृत्पीडा सक्थिसदनं कुक्षिशूलं च वेपथुः।
तृष्णोर्ध्वगोऽनिलः कार्ष्ण्यं दौर्बल्यं पाण्डुगात्रता ॥१५॥
अरोचकाविपाकौ तु शर्करार्ते भवन्ति च।

यही अश्मरी जब वायु द्वारा छोटे-छोटे परमाणुओं में विभक्त हो जाती है तब इसको शर्करा कहते हैं। शर्करा रोगी में—हृदय प्रदेश में वेदना, सक्थि सदन (टांगों में ग्लानि) उदरशूल, कम्पन, तृष्णा, वायु का ऊपर को आना, कृष्णवर्णता, दुर्बलता, शरीर में पीलापन (रक्त की कमी), अरुचि और अजीर्ण होता है ॥ १४,१५ ॥

मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १६ ॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमरोचकम्।
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ १७ ॥

जिस समय अश्मरी मूत्रमार्ग में पहुँचकर रुक जाती है, उस समय—दुर्बलता, बेचैनी, कृशता, उदरशूल, अरुचि, पाण्डुरोग, उष्णवात (मूत्ररोग), तृष्णा, हृदय में वेदना और वमन—इन उपद्रवों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—यदि वह शर्करा कुछ बड़ी होती है तो मूत्रमार्ग में अटक जाती है ॥ १६,१७ ॥

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसाम्।
एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः॥ १८ ॥
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः।
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणो गुदः।
एकसंबन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवराश्रिताः ॥ १९ ॥

नाभि, पृष्ठ (पीठ), कटि, अण्डकोष, गुदा, वंक्षण (Groin) और शेफ (शिश्न), इनके मध्य में—नीचे की ओर मुख किये—एक द्वारवाली बस्ति है, बस्ति की त्वचा बहुत पतली (सूक्ष्म) है। बस्ति—(मूत्र से खाली होने पर) अलाबु (घिया कद्दू) के समान रूपवाली है, (मूत्र से भरने पर हंस के डिम्ब के आकार की भाँति होती है)। बस्ति में सिरा स्नायु का जाल है, (मांस नहीं है) बस्ति (मूत्राशय) बस्ति शिर पौरुष (शिश्न या भग), वृषण (अण्डकोश) और गुदा—ये एक समान आश्रयवाले हैं, अर्थात् गुदास्थित विवर में स्थित हैं[1] ॥ १८,१९ ॥

मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥ २० ॥
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ २१ ॥
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।
नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ २२ ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।
आमुखात्सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥ २३ ॥

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने—'अलाबा इव रूपेण' आदि पाठ एक सम्बन्धिनी से पूर्व पढ़ा है। यह ठीक है॥

मूत्राशय रूपी मलाधार (किट्ट रूप मल का आश्रय) और प्राणों का श्रेष्ठ स्थान है, इस पक्वाशय में रहनेवाली मूत्र-वहा नाड़ियाँ मूत्रद्वारा वस्ति को सदा भरती रहती हैं, जिस प्रकार कि नदियाँ सागर को भरती हैं। इन नाड़ियों के हजारों मुख सूक्ष्म होने के कारण पता नहीं लगता। आमाशय तथा पक्वाशय के बीच से नाड़ियों द्वारा लाये हुए मूत्र के निःस्यन्द (मन्द-मन्द क्षरण) से जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में (रात दिन) वस्ति भरती रहती है। जिस प्रकार कि नये घड़े को गले तक पानी में डुबोकर रखने पर पार्श्वों से पानी रिस रिस कर घड़े को भर देता है, उसी प्रकार मूत्र द्वारा बस्ति भरती है। श्री घाणेकरजी का कहना है कि "यह वर्णन प्रत्यक्ष विरुद्ध अतएव अप्रामाणिक है"।

वि० मन्तव्य—नाभि....पूर्यते—इस पाठ में वस्ति के आकार तथा मूत्र निर्माण आदि का बहुत ही सुन्दर एवं युक्ति-युक्त वर्णन दिया गया है, परन्तु खेद है कि यह श्रीगणनाथ सेन जी तथा श्रीघाणेकरजी को पसन्द नहीं आया और अपनी ओर से उक्त दोनों सज्जनों ने अप्रिय आक्षेप भी कर डाले हैं। भला, हम उनको दुहराना पसन्द नहीं करते, परन्तु इस पाठ की अच्छाई-सचाई दिखा देने का यत्न अवश्य करेंगे—वस्ति जहाँ बतलाई गई है वहीं है इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यह मूत्र का आशय—आकर शयन करने—ठहरने का स्थान है और उसका अधः की ओर एक मुख भी है (तीन नहीं)। इसमें जितना भी मूत्र संचित होता है वह वस्तुतः पक्वाशय (मलाशय) के द्रवमल (मूलपुरीष मय मलसार-रस से रहित मल) का द्रवांश ही है, रक्त में जो आहार का सार-भूत रस मिलता है वह तो धातु पोषण में व्यय होता है न कि उसका मूत्र (जो मल है) बनता है। इसका प्रत्यक्ष प्रत्येक पाठक स्वतः कर सकता है—यदि पुरीषोत्सर्ग में विलम्ब कर दिया जाय तो मूत्र अधिक आता है और पुरीष अपेक्षाकृत गाढा आता है। अतएव "पक्वाशयगताः मूत्रवहा नाड्यः (नाल्यः—सिराः) मूत्रं सदा तर्पयन्ति" लिखा है। "यथा सरितः सागरं तर्पयन्ति" उदाहरण मात्र है, जैसे छोटी २ नदियाँ बड़ी नदियों में मिलकर सागर को सर्वदा भरती रहती हैं। परन्तु इसके मुख-मुहाने इतने सूक्ष्म हैं कि चर्मचक्षुओं से उपलब्ध-सम्यक् ज्ञात नहीं होता, यही वृक्क हैं जो बस्ति शिर नाम से इसी सन्दर्भ में कहे गये हैं। इनमें मूत्र का निःस्यन्द वैसे ही होता है जैसे कोरे घड़े को जल में गले तक डुबाकर रखने से घड़े के भीतर जल का निःस्यन्द होता रहता है। वृक्कों से आनेवाले दोनों स्रोतों को वैदिक कालीन ऋषि भी जानते थे जो "गवीनी" नामकरण कर गये और सुश्रुत भी जानता था जो इसी सु०शा०अ० ९ में "मूत्रवहे द्वे" (स्रोतसी भवतः) लिख गया है और चरक भी जानता था जो "मूत्र वहानां स्रोतसां वस्तिः वंक्षणौ च मूलम्" लिख गया है। भले ही गणनाथ सेन और श्री घाणेकरजी आदि सज्जन—ऐलोपैथी के "शारीर" के पूर्व न जानते हों। वंक्षण शब्द-'बांक्षी-कांक्षायां' धातु से बनता है जो तृट् का वाचक है और तृट् (तृष्) तृषा-पिपासा का वाचक है। वंक्षण जब अधिक जल खींचने लगते हैं तब पिपासा भी अधिक लगती है, यथा—प्रमेह में "तृट् स्वादु आस्यं च जायते" पिपासा अधिक हो जाती है। आहार रस भी यद्यपि तरल होने के कारण जलीय है तथापि वह उतना ही जल अपने में लेता है, जितने से वह उचित रूप में तरल बने यदि अधिक जल लेता है तो उसका अभिष्यन्द होने लगता है, जिससे अवयवों में शोथ हो जाता है। वंक्षण—वस्ति सिरस का वाचक है, क्योंकि वस्ति सिरस्—मूल—प्रारम्भ स्थल वही है 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं (गीता)'। और अन्न का पाचन पीला पित्त—आहार रस के साथ नहीं जाता-छनता-मिलता। फलतः रस श्वेत बना रहता है, परन्तु वह मल द्रव में से अधिकांश—द्रवांश के साथ जाता है और वृक्क—रक्त में से भी—पित्त मिश्रित द्रवांश को लेते हैं, फलतः मूत्र का वर्ण पीला रहता है और सुनिये—यदि २-३ दिन पुरीषोत्सर्ग न किया जाय तो पुरीष का वर्ण काला रह जाता है और वह सूखकर मेंगन बन जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि मलद्रव से ही मूत्र बनता है, रस से या रक्त से नहीं॥ २०-२३॥

घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते।
एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा॥ २४॥

जिस प्रकार से घड़े में स्नेह पहुँच जाता है, उसी प्रकार से वात, पित्त, कफ मूत्र के साथ मिलकर बस्ति में पहुँच कर अश्मरी रोग उत्पन्न करते हैं॥ २४॥

मूत्रयुक्तमुपस्नेहात् प्रविश्य कुरुतेऽश्मरीम्।
अप्सु स्वच्छा (स्था) स्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे॥
कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसंभवस्तथा।
संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः॥२६॥
तद्वद्बलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः।

नूतन (अति स्वच्छ) घड़े में अत्यन्त स्वच्छ पानी के रखने पर भी, कालान्तर में कीचड़ उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार से वस्ति में निर्मल मूत्र से भी अश्मरी बन जाती है। जिस प्रकार से दिव्य (अन्तरिक्ष) जल को वायु, अग्नि और बिजली कठोर (ओले के रूप में) बना देती है, उसी प्रकार से मूत्राशय स्थित बलास (कफ), को ऊष्मा (पित्त) और वायु कठोर बना देती हैं।

वि० मन्तव्य—मूत्र के साथ—वायु, पित्त एवं कफ की वृक्कों से छनकर वस्ति में आ जाते हैं, मूत्र में पीलापन पित्त का ही होता है, श्वेतता या लसीलापन कफ का ही होता है। वृक्कों के विकृत होने पर—शरीरोपयोगी अन्य धातुओं के उपादान भी रसमय रक्त में से छनकर मूत्र के साथ बहने लगते हैं। वृक्कों के विषय में आयुर्वेद बहुत कुछ जानकारी रखता है, यथा—मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं—रक्त में मिश्रित मेदस् के उपादान को मूत्र के साथ न बहने देने का मूल-कारण वृक्क है, अतएव शार्ङ्गधर में लिखा है कि—वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः ॥ २५,२६ ॥

मारुते प्रगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥२७॥

वस्ति में वायु के अनुकूल होने पर मूत्र भली प्रकार से प्रवृत्त होता है। वायु के प्रतिलोम होनेपर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।
मूत्रदोषाश्च ये कचिद्वस्तावेव भवन्ति हि ॥२८॥

वायु के प्रतिलोम होने से ही, वस्ति में, मूत्राघात, प्रमेह, शुक्र दोष और मूत्र दोष सम्बन्धी रोग होते हैं[1] ॥२८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽश्मरीनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अश्मरी और भगन्दर रोग का आश्रय स्थान वस्ति और गुदा है, ये दोनों स्थान समान आश्रय हैं, इसलिये अश्मरी निदान के पीछे भगन्दर निदान कहते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राविशम्बूकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति। ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च 'भगन्दरा' इत्युच्यन्ते। अभिन्नाः पिडकाः भिन्नास्तु भगन्दराः॥

वायु, पित्त, कफ, सन्निपात एवं आगन्तुज, कारणों से क्रमशः पाँच प्रकार के भगन्दर उत्पन्न होते हैं। यथा—शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावि, शम्बूकावर्त्त और उन्मार्गि। ये भग स्थान, गुदा और वस्ति स्थान को दारण कहते हैं इसलिये इन्हें भगन्दर कहते हैं। जब तक नहीं पकते तब तक इनका नाम पिड़का है, और पककर फूटने से इनका नाम भगन्दर है। (वाग्भट्ट ने परिक्षेपी, ऋजु और अर्शोज भगन्दर, ये तीन अधिक कहे हैं) ॥ ३ ॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—कटीकपालवेदना कण्डूर्दाहः शोफश्च गुदस्य भवति ॥ ४ ॥

पूर्वरूप—

कटिकपाल (नितम्बास्थि-त्रिकास्थि) में वेदना, गुदा में कण्डू और दाह, और गुदा में सूजन का होना, ये भगन्दरों के पूर्वरूप हैं ॥ ४ ॥

तत्रापथ्यसेविनां वायुः प्रकुपितः सन्निवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिडकां जनयति, साऽस्य तोदादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, मूत्राशयाभ्यासगतत्वाच्च व्रणः प्रक्लिन्नः शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते, तानि च छिद्राण्यजस्रमच्छं फेनानुविद्धमधिकमास्रावं स्रवन्ति, व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव निस्तुद्यते, गुदं चावदीर्यते, उपेक्षिते च वातमूत्रपुरीषरेतसामप्यागमश्च तैरेव छिद्रैर्भवति; तं भगन्दरं शतपोनकमित्याचक्षते ॥ ५ ॥

अपथ्य सेवन करनेवाले पुरुष में वायु कुपित होकर अपने कार्यों से निवृत्त एवं निश्चल होकर गुदा के चारों ओर एक या दो अंगुल परिमित स्थान में मांस तथा रक्त को दूषित करके, लाल रङ्ग की पिड़का उत्पन्न करता है। यह पिड़का तोद (चुभने की सी वेदना) आदि रूपी वेदनाओं को उत्पन्न करता है। चिकित्सा न करने पर पिड़का पक जाती है। मूत्राशय के समीप में होने से व्रण आर्द्र एवं शतपोनक (आटा छानने की चलनी,) भांति सूक्ष्म मुखवाले छिद्रों से भर जाता है। इन छिद्रों से निरन्तर स्वच्छ, झाग से मिश्रित बहुत अधिक स्राव बहता है। व्रण में ताड्यते (दण्डे से पीड़ने के समान), भिद्यते (कुठार से काटने के समान), छिद्यते (दाँत से काटने के समान), सूईयों के चुभने के समान वेदना होती है, गुदा फटती सी प्रतीत होती है। वायु मूत्र, मल और शुक्र भी इन्हीं छिद्रों से बाहर आता है। इस भगन्दर को शतपोनक कहते हैं[1]।

पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववदवस्थितं रक्तां तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रग्रीवाकारां पिडकां जनयति; साऽस्य

---

१ अश्मरी कफ जन्य है, क्योंकि शरीर में कफ एक चिकास वाला पदार्थ हैं। इसके न्युक्लियम के चारों ओर दोष एकत्रित होकर अश्मरी बनाते हैं। दोषों को एकत्रित होने के लिये एक केन्द्र चाहिये। वह केन्द्र कफ होता है। जैसे बछड़ा खूण्टे से बन्धा होने पर उसके चारों ओर ही घूमता है, इसी प्रकार दोष इसके चारों ओर एकत्रित होते हैं।

१ पिडका के उत्पन्न होने से मूत्र सम्पूर्ण या आधे रूप में रुककर, मांस, शिरा स्नायु को दूषित करके समीपवर्त्ति स्थान को सदा आर्द्र रखता है।

चोषादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्चाग्निक्षाराभ्यामिव दह्यते, दुर्गन्धमुष्णमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरमुष्ट्रग्रीवमित्याचक्षते ॥ ६ ॥

अपथ्य सेवन से पित्त प्रकुपित होकर वायु के द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर पूर्व की भांति निश्चल बनकर लाल रङ्ग की पतली, ऊपर को उठी हुई ऊँट की ग्रीवा के समान बीच में से दबी हुई पिड़का उत्पन्न करता है। इसमें चोष (जलन) आदि वेदनायें होती हैं। चिकित्सा न करने पर यह पिड़का पक जाती है। व्रण में, अग्नि एवं क्षार से पकने के समान वेदना होती है, जलन होती है। दुर्गन्ध युक्त गरम स्राव बहता है, उपेक्षा करने पर व्रण में से वायु-मूत्र-मल-शुक्र बाहर आता है। इस भगन्दर को 'उष्ट्रग्रीव' कहते हैं ॥ ६ ॥

श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्ववदवस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां जनयति, साऽस्य कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च कठिनः संरम्भी कण्डूप्रायः, पिच्छिलमजस्रमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरं परिस्राविणमित्याचक्षते ॥

अपथ्य सेवन से कफ कुपित होकर वायु के द्वारा नीचे प्रेरित होकर पूर्व की भांति निश्चल बनकर मोती की चमकवाली श्वेत रङ्ग की स्थिर एवं कण्डूयुक्त पिड़का को उत्पन्न करता है। यह पिड़का-कण्डू आदि वेदनाओं को उत्पन्न करती है। चिकित्सा न करने पर पक जाती है। इसमें व्रण कठिन, संरम्भी (निरन्तर वेदनाशील), कण्डूबहुल होता है। निरन्तर चिकना स्राव बहता रहता है। उपेक्षा करने पर व्रण से वायु-मूत्र-मल-शुक्र बहने लगता है। इस भगन्दर को 'परिस्रावी' कहते हैं ॥ ७ ॥

वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठाग्रप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति, साऽस्य तोददाहकण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः, तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते ॥

अपथ्य सेवन से कुपित वायु कुपित पित्त कफ को साथ लेकर नीचे की ओर आकर पूर्व की भांति निश्चल होकर, पाँव के अंगूठे के समान, तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त पिड़का को उत्पन्न करती है। इसमें तोद, दाह, कण्डू आदि के रूप में वेदनायें होती हैं। चिकित्सा न करने पर यह पिड़का पक जाती है। व्रण में से नाना प्रकार का स्राव बहता है। भरी हुई नदी के समान अथवा शम्बूक (शंख) के आवर्त्त (भँवर-चक्कर) की तरह से निरन्तर तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। इस भगन्दर को 'शम्बूकावर्त्त' कहते हैं। आवर्त्त अर्थात् Boring pains ॥

मूढेन मांसलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृतं यदाऽवगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाधः प्रेरितमसम्यगागतं गुदमपक्षिणोति तदा क्षतनिमित्तः कोथः उपजायते, तस्मिंश्च क्षते पूयरुधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलप्रक्लिन्नायां क्रमयः संजायन्ते। ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति, तस्य तैर्मार्गैः क्रिमिकृतैर्वातमूत्रपुरीषरेतांस्यभिनिःसरन्ति तं भगन्दरमुन्मार्गिणमित्याचक्षते ॥

आगन्तुज भगन्दर—

मूढ व्यक्ति मांस के लालच में अस्थि शल्य को अन्न के साथ खा जाता है, तब यह शल्य कठिन मल के साथ मिलकर अपान वायु द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर—अनुचित रूप से (तिरछा) आकर गुदा को चोट पहुँचाता है। क्षत के कारण से यहाँ पर कोथ (पूतिभाव दुर्गन्ध—सड़ांद) उत्पन्न होता है। पूय और रक्त से भरे इस क्षत में मांस से सड़ने से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार कि जल से गीली भूमि में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि गुदा को खाते हुए पार्श्वों में गुदा को विदीर्ण कर देते ह। कृमियों से बनाये इन मार्गों में से, वायु-मल—मूत्र और शुक्र बाहर निकलने लगता है। इस भगन्दर को 'उन्मार्गी' (तिर्यग्गामी) कहते हैं ॥ ९ ॥

भवन्ति चात्र—

उत्पद्यतेऽल्परुक् शोफात् क्षिप्रं चाप्युपशाम्यति।
पाय्वन्तदेशे पिडका सा ज्ञेयाऽन्या भगन्दरात् ॥१०॥
पायोः स्याद् द्व्यङ्गुले देशे गूढमूला सरुग्ज्वरा।
भागन्दरीति विज्ञेया पिडकाऽतो विपर्ययात् ॥११॥

कहा भी है—

सूजन के कारण से थोड़ी वेदनावाली एवं शीघ्र शान्त होनेवाली जो पिड़का गुदा के समीप उत्पन्न होती है वह भगन्दर से भिन्न होती है। गुदा के दो अंगुल परिमित स्थान में गूढ़मूल (गम्भीर मूलवाली) एवं वेदना तथा ज्वरकारी जो पिड़का उत्पन्न होती है, इसको उपर्युक्त पिड़का से भिन्न, भगन्दर को उत्पन्न करनेवाली पिड़का समझना चाहिये ॥११॥

यानयानान्मलोत्सर्गात् कण्डूरुग्दाहशोफवान्।
पायुर्भवेद् रुजः कट्यां पूर्वरूपं भगन्दरे ॥१२॥

पूर्वरूप में—

यान (रथादि) की सवारी से अथवा मल के त्याग में प्रथम पायु में, कण्डू, जलन, वेदना और सूजन होती है, कटि में वेदना होती है ॥ १२ ॥

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च भगन्दरः ॥१३॥

सब ही भगन्दर घोर (कष्टदायक) एवं कृच्छ्रसाध्य हैं। इनमें से सन्निपातजन्य एवं क्षतजन्य (आगन्तुज) भगन्दर असाध्य हैं ॥१३॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भगन्दरनिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

भगन्दर रोग के समान असाध्य कुष्ठ रोग के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाद् गुरुविरुद्धासात्म्याजीर्णाहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायामग्राम्यधर्मसेविनो ग्राम्यानूपौदकमांसानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जत्यप्सूष्माभितप्तः सहसा छर्दिंवा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रपद्य समुद्धूय बाह्यमार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति; यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निश्चरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं प्रतिपद्यते धातूनभिदूषयन् ॥३॥

मिथ्या (अनुचित) आहार (अन्न पान) एवं आचार (मनु धर्मोक्त-आचमन-स्नान आदि नियमों) से, विशेष करके गुरु (भारी), विशुद्ध (हिताहितीय अध्याय में कहे हुए), असात्म्य (आत्मा के प्रतिकूल) भोजन से, अजीर्ण में भोजन करने से, अहित वस्तुओं के सेवन से, स्नेह पान करके अथवा वमन कर्म करके व्यायाम, ग्राम्यधर्म (मैथुन) के सेवन से, अथवा बहुत करके दूध के साथ ग्राम्य अथवा आनूप (जल बहुल) मांस के सेवन से, ऊष्मा (अग्नि) से, अभितप्त (गरम) होने पर स्नान करने से, एकदम से वमन के वेग को रोकने से वायु कुपित होकर पित्त एवं कफ को साथ में लेकर, तिरछी जानेवाली शिराओं में पहुँचकर इनको दूषित करके बाह्यमार्ग (रक्त—लसीका—त्वचा और मांस) को चारों ओर से घेर लेते हैं। जिस स्थान पर दोष प्रक्षिप्त होकर बाहर निकलता है, उस उस स्थान में मण्डल (चक्के) उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार से त्वचा में उत्पन्न दोष उस उस स्थान में बढ़कर, चिकित्सा न करने पर रोम मार्ग से अन्दर पहुँचकर धातुओं को दूषित कर देता है ॥३॥

तस्य पूर्वरूपाणि—त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति ॥४॥

कुष्ठ के पूर्वरूप—त्वचा में कठोरता, बिना कारण के ही रोमांच होना, शरीर में कण्डु, पसीने का बहुत आना या बिलकुल न आना, अंग-प्रत्यंगों में स्पर्श ज्ञान का अभाव, क्षत विसर्पण (व्रण का फैलना) और रक्त का काला पड़ना, ये सब कुष्ठों के पूर्वरूप हैं ॥४॥

तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति । तत्र महाकुष्ठान्यरुणोदुम्बरर्ष्य(र्क्ष)जिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति । क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभ (मं) पामा रकसा चेति ॥५॥

सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रमीणि च भवन्ति, उत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात् ॥

संख्या—

कुल मिलाकर कुष्ठ अठारह प्रकार के हैं। इनमें सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं। महाकुष्ठ यथा—अरुण, उदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल, काकणिक, पुण्डरीक, दद्रु। क्षुद्र कुष्ठ यथा स्थूल-अरुष्क, महाकुष्ठ, एवं कुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विचर्चिका, किटिभ, पामा और रकसा। सम्पूर्ण कुष्ठ (छोटे-बड़े सब) वायु-पित्त-कफ एवं कृमि के कारण से उत्पन्न होते हैं। दोष की उत्कटता (प्रबलता) से यह कहा जाता है कि कुष्ठ वातजन्य है, यह पित्तजन्य है, इत्यादि। क्योंकि दूसरे दोषों की उसमें न्यूनता रहती है।

वि० मन्तव्य—ये सब कृमि—रक्तज कृमि होते हैं, यथा—केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा। कुष्ठजाः सपरीसर्पा ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः ॥ सु० उ० अ० ३४ तथा—शोणितजानां (कृमीणां) तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्। निदानम्....अतिवृद्धानां च त्वक् सिरा स्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति। च० वि० अ० ७। तथा कुष्ठैककर्माणः। मा० नि०॥५,६॥

तत्र वातेनारुणं, पित्तेनोदुम्बरर्ष्य(र्क्ष)जिह्वकपालकाकणकानि, श्लेष्मणा पुण्डरीकं दद्रुकुष्ठं चेति। तेषां महत्त्वं क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वं चेति ॥७॥

इन महाकुष्ठों में—वायु की प्रधानता से अरुण, पित्त की प्रधानता से ऋष्यजिह्व, उदुम्बर, कपाल और काकणक, कफ की प्रधानता से पुण्डरीक और दद्रु, इन कुष्ठों की महानता—तीन कारणों से है। यथा—चिकित्साकार्य के महान् होने से, उत्तरोत्तर रक्तादि धातुओं में प्रविष्ट होने से, एवं असाध्य होने से ये सातों कुष्ठ महान् हैं ॥७॥

तत्र वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोदभेदस्वापयुक्तान्यरुणानि। पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृतिवर्णान्यौदुम्बराणि, ऋष्य(क्ष)जिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋष्य(क्ष)जिह्वानि, कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि, काकणन्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्तकृष्णानि काकणकानि; तेषां चतुर्णामप्योषचोषपरिदाहधूमायनानि

क्षिप्रोत्थानप्रपाकभेदित्वानि कृमिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि। श्लेष्मणा पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पौण्डरीकाणि, अतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च दद्रुकुष्ठानि तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता कण्डूश्चिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि ॥८॥

इनमें अरुण कुष्ठ—वायु के कारण से लाल (काला मिश्रित) झाँईवाला, पतला, फैलनेवाला, तोद (चुभने की दर्द), भेद, स्वाप (स्पर्श शून्यता) युक्त होता है। पित्त के कारण उदुम्बर कुष्ठ—पके हुए गूलर के फल की आकृति एवं वर्ण (रङ्ग) वाला होता है, ऋष्यजिह्व कुष्ठ-ऋष्य (हरिण भेद) की जीभ के समान खर (ककश) होता है, कपाल कुष्ठ-कृष्णकपालिका (काली मिट्टी) के समान होता है, काकणककुष्ठ—काकणान्तिका (गुञ्जा-रत्ती) के फल के समानाकार एवं बहुत लाल एवं काला होता है। इन चारों में ओष (अग्नि के पास बैठने के समान दाह), चोष (चूसने के समान वेदना), परिदाह (जलन) और धूमायन (धूम के आकार का कृष्ण वमन), ये लक्षण होते हैं। ये कुष्ठ शीघ्र उत्पन्न होते हैं, शीघ्र पकते हैं, और शीघ्र ही फूट जाते हैं, इनमें कृमि भी जल्दी उत्पन्न होते हैं। ये इन कुष्ठों के सामान्य लक्षण हैं।

पुण्डरीक कुष्ठ पुण्डरीक (पद्म[1]) के पत्र के समान होता है, दद्रुकुष्ठ—अतसी (अलसी) के फूल के समान अथवा ताम्रवर्ण, फैलनेवाली, छोटी छोटी पिडकाओं से युक्त होता है। इन दोनों पुण्डरीक और दद्रुकुष्ठ[2] में उत्सन्नता 'उभार' और परिमण्डलता (चक्कर-वर्तुलाकार घेरा), कण्डू (खाज) एवं देर में उत्पन्न होना—ये सामान्य लक्षण हैं ॥८॥

क्षुद्रकुष्ठान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—

स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि
स्थूलारुषं स्युः कठिनान्यरूंषि।
त्वक्सङ्कोचभेदस्वपनाङ्गसादाः
कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति ॥९॥

इसके आगे क्षुद्र कुष्ठों को कहते हैं—

स्थूलारुष्क कुष्ठ में—अरूंषि (फुन्सियाँ) स्थूल मूलवाली सन्धियों में उत्पन्न अतिकष्ट साध्य स्थूल एवं कठिन (कठोर) होती है।

महाकुष्ठ में—त्वचा का संकोच, त्वचा का भेदन (स्फुटन), त्वचा का स्वाप (संज्ञा नाश) एवं अंगसाद (अंग ग्लानि) होता है ॥९॥

कृष्णारुणं येन भवेच्छरीरं
तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम्।
स्युर्येन कण्डूव्यथनौषचोषा-
स्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति ॥१०॥

एक कुष्ठ में—जिस कुष्ठ में शरीर काला लाल हो जाता है, उसको एक कुष्ठ कहते हैं।

चर्मदल कुष्ठ में—हाथ-पाँव के तलुओं में कण्डु (खाज), व्यथा (पीड़ा) ओष (दाह) और चोष (चूसने) की वेदना होती है ॥१०॥

विसर्पवत् सर्पति सर्वतो य-
स्त्वगसृक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम्।
मूर्च्छाविदाहारतितोदपाकान्
कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः ॥११॥

विसर्प कुष्ठ[1]—त्वचा, रक्त, मांस को दूषित करके शीघ्र ही (और कुष्ठों के समान देर में नहीं) विसर्प रोग की भाँति फैलने लगता है इसमें मूर्च्छा, विदाह (जलन) अरति (बेचैनी) तोद (शूल) पाक (पकाना) आदि विकार होते हैं ॥११॥

शनैः शरीरे पिडकाः स्रवन्त्यः
सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः।
कण्ड्वन्वितं श्वेतमपायि सिध्मं
विद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाये ॥१२॥

परिसर्प कुष्ठ मे—शरीर के ऊपर धीरे-धीरे फैलनेवाली, एवं स्रावयुक्त पिडकायें निकल आती हैं।

सिध्म कुष्ठ[2]—खाजयुक्त, श्वेतवर्ण, अपायि (अकष्टकारि); तनु (सूक्ष्म आकार का) प्रायः शरीर के ऊर्ध्वभाग में (छाती एवं मुख पर) होता है ॥१२॥

राज्योऽतिकण्ड्वर्तिरुजः सरूक्षा
भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्।
कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना
विपादिका पादगतेयमेव ॥१३॥

विचर्च्चिका—रोग में हाथ पाँव पर राजि (बाह्य त्वचा के फटने से रेखायें) उत्पन्न हो जाती हैं, अति कण्डू (बहुत खाज की पीड़ा—खजूरी पीड़ा—कौंच के लगने पर जैसी पीड़ा होती है), रुज् (पीड़ा), एवं रूक्षता

---

१ पुण्डरीक का लक्षण—
"श्वेतं च रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्।
सोत्सेधं च सरागञ्च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥" चरक।

२ दद्रुकुष्ठ दो प्रकार का है—श्वेत (सित) और कृष्ण (असित)। इनमें असित कुष्ठ—महान कष्टसाध्य होने से महाकुष्ठों में पढ़ा है। सितकुष्ठ-सुखसाध्य होने से, पीड़ा करने से चरक में क्षुद्रकुष्ठों में पढ़ा है।

१ विसर्प रोग इस कुष्ठ से भिन्न है—क्योंकि विसर्परोग धीरे धीरे फैलता है। विसर्पकुष्ठ तीन ही दोषों तक सीमित रहता है।

२ सिध्मकुष्ठ दो प्रकार का है। यथा—पुष्पिका और सिध्म। पुष्पिकाकुष्ठ सुखसाध्य होने से सुश्रुत में क्षुद्र कुष्ठों में पढ़ा है। सिध्मकुष्ठ साध्य न होने से चरक ने महाकुष्ठ में पढ़ा है। सिध्म—"शीत से नष्ट हो जाता है।" (अपायि शीतत्वाँ विनाशि)।

आ जाती है। जिस समय यह विचर्च्चिका पांव में होती है, उस समय इसमें खाज, जलन और पीड़ा होती हो, तो इसको विपादिका कहते हैं।

किटिभ कुष्ठ—स्रावयुक्त वृत्त (गोल), घन (स्थिरकठिन) तीव्र कण्डूयुक्त, स्निग्धकृष्ण (उज्ज्वल कृष्ण) होता है ॥१३॥

यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु
तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं (मं) वदन्ति।

सास्रावकण्डूपरिदाहकाभिः
पामाऽणुकाभिः पिडकाभिरूह्या ॥१४॥

स्फोटैः सदाहैरति सैव कच्छूः
स्फिक्पाणिपादप्रभवैर्निरूप्या।

पामा—कुष्ठ में-छोटी छोटी बारीक पिड़कायें उत्पन्न होती हैं। इन पिड़काओं से स्राव बहता रहता है, इनमें खाज और जलन होती हैं। जिस समय यह पामा स्फिक् (नितम्ब), पाणि (हाथ) और पांव में उत्पन्न हो जाये और इनमें स्फोट (बड़े-बड़े छाले-पिड़कायें नहीं) काले रङ्ग के उत्पन्न हो जायें इनमें जलन और खाज हो तो इसको "कच्छू" कहते हैं[1] ॥१४॥

कण्ड्वन्विता या पिडका शरीरे
संस्रावहीना रकसोच्यते सा ॥१५॥

रकसा—सम्पूर्ण शरीर में--खाज युक्त एवं स्राव रहित जो पिड़कायें उत्पन्न हो जाती हैं, उनको रकसा कहते हैं ॥१५॥

अरुः ससिध्मं रकसा महच्च
यच्चैककुष्ठं कफजान्यमूनि।
वायोः प्रकोपात् परिसर्पमेकं
शेषाणि पित्तप्रभवाणि विद्यात् ॥१६॥

इन ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों में—अरुष्क, सिध्म, रकसा, महाकुष्ठ और एक कुष्ठ, ये कफजन्य हैं। परिसर्प कुष्ठ वायु से उत्पन्न होता है। शेष (विसर्प, किटिभ, विचर्च्चिका, पामा, चर्मदल) कुष्ठ पित्तजन्य हैं ॥१६॥

किलासमपि कुष्ठविकल्प एव, तत्त्रिविधं--वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा चेति। कुष्ठकिलासयोरन्तरं त्वग्गत मेव किलासमपरिस्रावि च। तद्वातेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च, पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च। तेषु संबद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धं च ॥१७॥

किलास (Leucoderma) भी कुष्ठ का ही भेद है। यह रोग तीन प्रकार का है, यथा—वायुजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य। कुष्ठ और किलास में अन्तर--त्वचा में ही स्थित (लसीका रक्त—मांस में नहीं) और स्राव रहित को किलास कहते हैं। वायुजन्य किलास मण्डलाकार, अरुण (लाल), परुष (कठिन) और परिध्वंसि (रोमनाशक) पित्त के कारण उत्पन्न किलास—कमल पत्र के समान आकार का और दाहयुक्त होता है। कफजन्य-श्वेत, स्निग्ध, बहल (स्थूल-कठिन) और कण्डू युक्त होता है। इनमें जिस किलास में मण्डल परस्पर मिले (सम्बद्ध) हो, जो अन्त स्थानों में (ओठ, पाणि, पांव या गुह्य प्रदेश में) उत्पन्न हो, जिसमें बाल लाल हो जायें, तथा अग्नि से जलने से जो उत्पन्न हुआ है, वह किलास असाध्य समझना चाहिये[1] ॥

कुष्ठेषु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफभेदकौण्यस्वरोपघाता वातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्णनासाभङ्गाक्षिरागसत्त्वोत्पत्तयः पित्तेन, कण्डूवर्णभेदशोफास्रावगौरवाणि श्लेष्मणा ॥१८॥

कुष्ठ में त्वचा का संकोच, त्वचा में स्पर्श नाश, पसीना न आना, सूजन, त्वचा का फटना, कौण्य (हाथों की विकलता) और स्वरभंग, ये वायु के कारण उत्पन्न होते हैं। पकना, फटना, अंगुलियों का गिरना, कान,--नाक का नाश, आंखों में लालिमा सत्त्वोत्पत्ति (कृमियों का उत्पन्न होना), ये. पित्त के कारण से होता है। खाज, वर्ण का नाश, सूजन, स्राव और भारीपन कफ के कारण से होता है ॥१८॥

तत्रादिबलप्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम् ॥१९॥

इनमें आदि बल (शुक्र शोणित के दोषजन्य) से प्रवृत्त, पुण्डरीक और काकणक ये तीनों कुष्ठ असाध्य हैं ॥१६॥

भवन्ति चात्र—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृद्धिविवर्धितैः ॥२०॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः ॥२१॥

कहा भी है—२०,२१॥

जिस प्रकार से उत्पन्न वनस्पति समय की अधिकता से, मूल (जड़) पकड़कर-वृद्धि से बढ़कर भूमि के अन्दर स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार से त्वचा में उत्पन्न हुआ कुष्ठ-चिकित्सा न करनेवाले पुरुष में समय की अधिकता से रक्त आदि धातुओं में फैल जाता है ॥

---

१ कहा भी है—"सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेताः, ज्ञेयाः पाण्योः कच्छूरुग्राः स्फिचोश्च।"

१ कहा भी है—
"गुह्ये पाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्ज्जनीयं विशेषेण किलासम् ॥"

(२) किलास जिस समय त्वचा से आगे रक्तादि धातुओं में आ जाता है, तो इसका नाम श्वित्र हो जाता है। श्वित्र किलास का ही भेद है। यथा—
"त्वग्गतं तु यदाऽस्रावि किलासं तत् प्रकीर्त्तितम्।
यदा त्वचमतिक्रम्य तद् धातुमवगाहते।
हित्वा किलाससंज्ञं तत् श्वित्रसंज्ञां लभेत च ॥"

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते ।
वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते ॥२२॥

त्वचागत कुष्ठ के लक्षण—स्पर्शज्ञान की हानि, पसीने का थोड़ा आना, कण्डू (खाज), विवर्णता (रङ्ग परिवर्त्तन) और रूक्षता होती है ॥ २२ ॥

त्वक्सुस्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्याभिप्रवर्तनम् ।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥२३॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं व कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥२४॥

कुष्ठ के रक्त में होने पर—त्वचा का स्पर्श नाश, रोमांच, स्वेद का बहुत आना, कण्डू और विपूयक (पूयोत्पत्ति) होती है । मांस में कुष्ठ होने पर—बाहुल्य (स्थूल-कठोर मण्डल), मुख की शुष्कता, पिड़काओं का उत्पन्न होना, तोद (पीड़ा), स्फोट (छाले), स्थिरत्व (कठिनता) होते हैं ॥ २३,२४ ॥

दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ कृमयस्तथा ।
गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदःसमाश्रिते ॥२५॥
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसंभवः ।
भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते ॥२६॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।
शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥२७॥

मेद में कुष्ठ पहुँचने पर-दुर्गन्धता, उपदेह (परिलिप्तता) पूय कृमियों की उत्पत्ति, शरीर का विदीर्ण होना होता है । अस्थि और मज्जा में कुष्ठ होने पर—नासिका नाश, आँखों में रक्तिमा, क्षत-व्रणों में कृमि की उत्पत्ति तथा स्वर भङ्ग होता है । शुक्र स्थान में कुष्ठ के पहुँचने पर – कौण्य (अङ्गों में विकलता), गतिक्षय (चलना-फिरना नष्ट होना), अङ्गों का फूटना, व्रण का फैलना तथा उपर्युक्त (त्वचा से लेकर मज्जा तक कहे) लक्षण होते हैं ॥ २५-२७ ॥

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥२८॥

कुष्ठ दोष के कारण जिन पिता-माता का शुक्र और शोणित दूषित होता है, उनकी यदि सतान उत्पन्न होती है, तो वह भी कुष्ठ राग से पीड़ित होती है ॥ २८ ॥

कुष्ठमात्मवतः साध्यं त्वग्रक्तपिशिताश्रितम् ।
मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम् ॥२९॥

आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष का त्वचा रक्त और मांस में आश्रित कुष्ठरोग साध्य है, मेद में आश्रित याप्य है, शेष स्थानों में पहुँचा असाध्य है ॥ २९ ॥

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः ।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥३०॥

ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, सज्जन वध, दूसरे के धन के हरने के कारण—इस पापरोग-कुष्ठ की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार से कर्मजन्य कुष्ठ को कहा है ॥ ३० ॥

म्रियते यदि कुष्ठेन पुनर्जातेऽपि गच्छति ।
नातः कष्टतरो रोगो यथा कुष्ठं प्रकीर्तितम् ॥३१॥

यदि कुष्ठरोग से मनुष्य मरता है, तो उत्पन्न होने पर फिर इसको कुष्ठ रोग होता है । इसलिये कुष्ठ से अधिक दुःख दायी और दूसरा कोई रोग नहीं है ॥ ३१ ॥

आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम् ।
औषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात् ।
यस्तेन मुच्यते जन्तुः स पुण्यां गतिमाप्नुयात् ॥३२॥

वर्णित आहार एवं आचार के नियमों का पालन करते हुए बड़ी भारी विचारणा को करने से, विशेष औषधियों के तथा तप (चन्द्रायण आदि व्रत) के सेवन से जो पुरुष कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है वह पुण्य गति को प्राप्त करता है[१] ॥३२॥

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥३३॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ॥३४॥

प्रसंग (संक्रान्त व्यक्तिसे मैथुन करने) से, संक्रान्त व्यक्ति के शरीर-स्पर्श से, संक्रान्त व्यक्ति के निःश्वास से, सक्रान्तव्यक्ति के साथ भोजन करने से, संक्रान्त व्यक्ति के साथ सोने से, बैठने से, उसकी उपभुक्त वस्तु वस्त्र माला या अनुलेप (अङ्गराग) को लगाने से, कुष्ठ, ज्वर, शोथ (क्षय), नेत्राभिष्यन्द (नेत्र-रोग) और औपसर्गिक[२] (मसूरिका, रोमान्तिका, आदि) रोग, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ जाते हैं ॥ ३३,३४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने कुष्ठनिदानं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

कुष्ठ के त्रिदोषजन्य होने पर भी एक एक दोष की प्रबलता से कुष्ठ को कहकर अब त्रिदोषजन्य प्रमेह

---

१ यह राग कर्मजन्य है । जैसा कि कहा है—
"यथाशास्त्रं विनिर्णीतो यथाविधि चिकित्सितः
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्म्मजो बुधैः ॥"
इसलिये कर्म्मों के क्षय होने से इसका क्षय है । यतः—
"कर्म्मक्षयात् कर्म्मकृता दोषजाः स्वरभेषजैः ।
कर्म्मदोषोद्भवा यान्ति कर्म्मदोषक्षयात् क्षयम् ॥"
इसलिये औषध एवं तप आदि के सेवन का विधान किया है ।

२ औपसर्गिक रोग—
मसूरिकाश्च रोमान्त्यो ग्रन्थिर्वीसर्प एव च ।
उपदंशश्च कण्ड्वाद्या औपसर्गिकसंज्ञकाः ॥

निदान को कहते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति ॥३॥

प्रमेह के कारण—

दिन में सोने, व्यायाम (शारीरिक परिश्रम) न करनेवाले, निरन्तर सदा आलसी, शीत स्निग्ध (घृत बहुल), मधुर, मेद्य (मेदवर्धक) द्रव (तरल) खान-पान को सेवन करनेवाले पुरुष में प्रमेह उत्पन्न होता है[1] ॥३॥

तस्य चैवंप्रवृत्तस्यापरिपक्वा एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधो गत्वा वस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहाञ्जनयन्ति।

इस प्रकार के आहार-विहार को सेवन करनेवाले पुरुष के अपरिपक्व (आमावस्था के) अवस्था में ही वात, पित्त और कफ मेद (एवं वसा) के साथ मिलकर मूत्रवाही स्रोतों के आश्रय से नीचे की ओर आकर बस्ति मुख का आश्रय लेकर जब बाहर निकलने लगते हैं, तब प्रमेहों की उत्पत्ति होती है[2] ॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥५॥

प्रमेह के पूर्वरूप—

हाथ और पाँव के तलुओं में जलन, शरीर में स्निग्धता (चेहरे पर बिना तेल के तेल की झलक), चिकनापन और भारीपन होना, मूत्र में मधुरता और सफेदपन, तन्द्रा (आलस्य), साद (अङ्गों में ग्लानि), प्यास, श्वास में दुर्गन्ध, श्वास-तालु, गले-जिह्वा और दांतों में मल का बहुत उत्पन्न होना, बालों का आपस में उलझा रहना, और नखों का शीघ्र बढ़ना—ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं ॥५॥

तत्राविलप्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति ॥६॥

सब प्रमेहों में मूत्र का गदलापन और मात्रा में मूत्र का बहुत आना सामान्य लक्षण हैं।

वि० मन्तव्य—आहार का परिपाक हो जाने के पश्चात् मल द्रव का जलीयांश आचूषित होकर रस के समान ही रक्त में मिलता है और रक्त में आहार रस मय सब धातुओं के उपादान विद्यमान रहते हैं। रक्त में से वृक्कों द्वारा मूत्रांश छनता है, तब यदि धातुओं के उपादान भी मूत्र में छनने लगते हैं और अप—धातु (जितने जल की शरीर को सर्वदा आवश्यकता होती है—रहती है उतना जल) भी अधिक छनने लगता है तो मूत्र—आविल (अस्वच्छ) तथा अपेक्षाकृत अधिक आने लगता है। फलतः धातुओं का उचित पोषण नहीं होता। इसी रोग का नाम "प्रमेह" या मेह है। शेष सब लक्षणों पर ध्यान दें। और—स्थूलः प्रमेही बलवान् इह एकः कृशः तथैकः परिदुर्बलश्च। (च० चि० अ० ६) जिस रोगी के मेदस् तथा ओजस् सुरक्षित रहते हैं वह स्थूल और बलवान् बना रहता है। जिसके नहीं वह कृश एवं दुर्बल हो जाता है ॥६॥

सर्व एव सर्वदोषसमुत्थाः सह पिडकाभिः ॥७॥

सब प्रमेह एवं प्रमेह जन्य सब पिडकायें (कुष्ठ की भांति) सब दोषों से उत्पन्न होती हैं ॥७॥

तत्र, कफादुदकेक्षुवालिकासुरासिकताशनैर्लवणपिष्टसान्द्रशुक्रफेनमेहा दश साध्याः, दोषदूष्याणां समक्रियत्वात्, पित्तान्नीलहरिद्राम्लक्षारमञ्जिष्ठाशोणितमेहाः षड् याप्याः, दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वात्, वातात् सर्पिर्वसाक्षौद्रहस्तिमेहाश्चत्वारोऽसाध्यतमाः, महात्ययिकत्वात् ॥८॥

इनमें कफ के कारण से दस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते हैं। यथा—उदकमेह, इक्षुवालिकामेह, सुरामेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, लवणमेह, सान्द्रमेह, पिष्टमेह, शुक्रमेह और फेनमेह। ये दसों प्रमेह साध्य हैं। क्योंकि इनमें दोष (कफ) और दूष्य (मेद-मज्जा आदि) की चिकित्सा कार्य एक समान है। अर्थात् कफ और मेद दोनों ही रूक्ष एवं उष्ण तथा कटु तिक्त कषाय से शान्त होते हैं, इसलिये साध्य हैं। पित्त के कारण से—नीलमेह, हरिद्रामेह, अम्लमेह, मञ्जिष्ठामेह और शोणितमेह-ये छै प्रमेह उत्पन्न होते हैं। छै प्रमेह याप्य हैं। क्योंकि इनमें दोष (पित्त) और दूष्य (मेद-लसीका आदि) का चिकित्साकार्य विषम रूप है। अर्थात् पित्त मधुर एवं शीत, स्निग्ध क्रिया से शान्त होता है, और मेद लसीका—उष्ण एवं कटु रूक्ष क्रिया से शान्त होती है, इसलिये याप्य हैं। वायु के कारण से—सर्पिर्मेह, वसामेह, क्षौद्रमेह, और हस्तिमेह—चार प्रमेह होते

---

१ कई आचार्यों का कथन है कि प्रमेहरोग स्त्रियों को नहीं होता। इसके लिये वे कहते हैं कि—

"रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति।
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः ॥"

यह वचन ठीक नहीं है। क्योंकि किसी तन्त्र ने इसको नहीं माना और प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। परन्तु यह भी सत्य है कि जिस स्त्री को ऋतु धर्म ठीक प्रकार से आता रहता है, इसको मूत्र दोष नहीं होते या कम होते हैं। और जिस को प्रमेह होता है, उनको रजो दोष को शिकायत रहती है। विशेष चिकित्सास्थान में देखें।

२ कहा भी है—

"दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः।
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्पते ॥"

हैं। ये अतिशय असाध्य हैं। क्योंकि—महात्ययिक होने से—अर्थात् अतिशय धातु क्षय करने के कारण शीघ्र विनाशकारी हैं एवं इनमें भी विषम क्रिया है। (मधुर रस वायु को शमन करता है, स्निग्ध गुण वायु का शामक है, परन्तु ये दोनों दूष्य-मेद को बढ़ाते हैं) ॥८॥

तत्र वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा श्लेष्मप्रमेहाञ्जनयति, वातकफशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो वायुर्वातप्रमेहान् ॥९॥

इनमें वायु-पित्त और मेद (मांस आदि भी[1]) से युक्त कफ-कफजन्य प्रमेहों को उत्पन्न करता है। वायु-कफ और रक्त एवं मेद से मिश्रित पित्त-पित्तजन्य प्रमेहों को, कफ-पित्त वसा मज्जा और मेद से मिश्रित वायु-वातजन्य प्रमेहों को उत्पन्न करती है ॥९॥

तत्र, श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति, इक्षुरसतुल्यमिक्षुवालिकामेही, सुरातुल्यं सुरामेही; सरुजं सिकतानुविद्धं सिकतामेही; शनैः सकफं सृत्स्नं शनैर्मेही; विशदं लवणतुल्यं लवणमेही; हृष्टरोमः पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही; आविलं सान्द्रं सान्द्रमेही; शुक्रतुल्यं शुक्रमेही; स्तोकं स्तोकं सफेनमच्छं फेनमेही मेहति ॥१०॥

इनमें उदकमेही रोगी—श्वेतवर्ण मूत्र-बिना किसी पीड़ा के—पानी के समान स्वच्छ प्रवाहण करता है। इक्षुमेही रोगी—गन्ने के समान, सुरामेही—सुरा के समान, सिकतामेही-पीड़ा के साथ सिकता (दूषित कफ वालुका में परिवर्तित होता है—इसलिये वालुका) मिश्रित, शनैर्मेही-धीरे धीरे—कफ मिश्रित मृत्स्न (पिच्छिल-चिकासयुक्त), लवणमेही विशद (निमल), लवणरस युक्त, एवं लवणोदक के समान, पिष्टमेही—हृष्टरोमा (शरीर में रोमांच उत्पन्न होकर), पिष्टरस (पिट्ठीमिले पानी) के समान, सान्द्रमेही—आविल (कलुषित), सान्द्र[2] (घन), शुक्रमेही—शुक्र के समान चिकना, फेनमेही-धीरे-धीरे फेन मिश्रित मूत्र प्रवाहित करता है ॥१०॥

अत ऊर्ध्वं पित्तनिमित्तान् वक्ष्यामः—सफेनमच्छं नीलं नीलमेही मेहति; सदाहं हरिद्राभं हरिद्रामेही; अम्लरसगन्धमम्लमेही; स्रुतक्षारप्रतिमं क्षारमेही; मञ्जिष्ठोदकप्रकाशं मञ्जिष्ठामेही; शोणितप्रकाशं शोणितमेही मेहति ॥११॥

इसके आगे पित्तजन्य प्रमेहों की व्याख्या करते हैं—नीलमेही रोगी—फेनयुक्त अच्छे (निर्मल), नीलवर्ण (दूषित पित्त के कारण से) मेहन करता है। हरिद्रामेही–दाह से युक्त एवं हरिद्रा मिश्रित जल के समान, अम्लमेही—अम्लरस एवं अम्लगन्ध युक्त, क्षारमेही—स्रुतक्षार (गलित क्षार द्रव) के तुल्य, मञ्जिष्ठामेही—मञ्जिष्ठा मिश्रित पानी के समान लाल, शोणितमेही—रक्त के समान मूत्र प्रवाहण करता है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं वातनिमित्तान् वक्ष्यामः—सर्पिःप्रकाशं सर्पिर्मेही मेहति; वसाप्रकाशं वसामेही; क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही; मत्तमातङ्गवदनुप्रबन्धं हस्तिमेही मेहति ॥१२॥

इसके आगे वातजन्य प्रमेहों की व्याख्या करते हैं—सर्पिर्मेही-सर्पि (घी) के समान, वातमेही वसा के समान, क्षौद्रमेही—मधु के समान रस एवं वर्णयुक्त, हस्तिमेही—मत्त हाथी के समान निरन्तर वेग पूर्वक और पीछे से बिना वेग के धीरे धीरे प्रवाहण करता है।

वि० मन्तव्य—हस्तिमेह में वस्ति का मुख खुल जाता है, फलतः सर्वदा मूत्र बहता रहता है, रोगी को उसके लिये—रबड़ की थैली मेहन के मुख पर लगानी पड़ती है। कफज मेह में—आहार रस में अधिक मधुरता उत्पन्न होने लगती है। यहाँ तक कि स्वेद और मूत्र भी मधुर होने लगते हैं। (स्वस्थ के स्वेद एवं मूत्र लावणिक होते हैं)। फलतः—शरीर एवं मूत्र पर मक्षिका बैठने लगती हैं। यह कफज मेह का उपद्रव है, मेद बढ़ने पर होता है। वातज मेह का उपद्रव—हृद्ग्रह इससे हृदय की स्वाभाविक गति में रुकावट होने लगती है। फलतः वातप्रमेही की नाड़ी भी रुक-रुक कर चलती है। पाठक नाड़ी देखते समय ध्यान दें। स्तम्भ—गतिशील अवयवों का स्तब्ध हो जाना—देखा सुना जाता है। वात प्रमेह के रोगियों की मृत्यु हृत्स्तम्भ से (हार्ट फेल होने से) होती है। और उक्त वातज चारों मेह प्रायः सुखी सुकुमार एवं मस्तिष्क से काम लेनेवालों (वकील, जज, विद्वान् तथा धनिकों) को अधिक होते हैं ॥१२॥

मक्षिकोपसर्पणमालस्यं मांसोपचयः प्रतिश्यायः शैथिल्यारोचकाविपाकाः कफप्रसेकच्छर्दिनिद्राकासश्वासाश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः; वृषणयोरवदरणं बस्तिभेदो मेढ्रतोदो हृदि शूलमम्लीकाज्वरातीसारारोचका वमथुः परिधूपनं दाहो मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं चेति पैत्तिकानां, हृद्ग्रहो लौल्यमनिद्रा स्तम्भः कम्पः शूलं बद्धपुरीषत्वं चेति वातजानाम्। एवमेते विंशतिः प्रमेहाः सोपद्रवा व्याख्याताः ॥१३॥

मक्षिकोपसर्पण (शरीर की मधुरता में स्नान एवं अनुलेपन करने पर भी मक्खियों का आना), आलस्य, मांसोपचय (मांसवृद्धि), प्रतिश्याय, शैथिल्य,-(अङ्गों में शिथिलता), अरुचि, अविपाक, कफप्रसेक (मुख से लालास्राव), छर्दि, निद्रा-कास,

---

१ चरक में कहा है कि—

"स विसपन् सर्वशरीरे मेदसैवाहितः मिश्रीभावं गच्छति। मेदसो बह्ववद्धत्वात्"।

२ यदा पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने।

पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥

श्वास-ये कफजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव-अण्डकोषों का फटना (पकना), मूत्राशय में पीड़ा, शिश्न में वेदना, हृदय शूल, खट्टे डकार ज्वर, अतिसार, अरुचि, वमन, परिधूमायन (उष्णिमा के कारण-धूमोद्गार या चारों ओर से ताप प्रतीति), दाह, मूर्च्छा, प्यास, निद्रा का नाश, पाण्डुरोग, मल-मूत्र-और नेत्र का पीला होना, पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। वायु जन्य प्रमेहों के उपद्रव—हृदय में पीड़ा (बेचैनी), लौल्य (सब रसों के खाने की इच्छा), अनिद्रा, स्तम्भ (जड़ता), कम्पन, मल का अवरोध (काठिन्य)—ये वातजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। इस प्रकार से ये बीस प्रमेह उपद्रवों के साथ कह दिये ॥१३॥

तत्र वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडका जायन्ते। तद्यथा—शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका, विद्रधिका चेति ॥१४॥

वसा (मांस स्नेह) एवं मेद के कारण अभिपन्न (दूषित) शरीरवाले प्रमेही के धातुओं में तीन दोष व्याप्त होकर दस पिड़कायें उत्पन्न करते हैं[1]। यथा—शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका और विद्रधि। ये पिड़कायें प्रायः शरीर के निचले भाग में (ग्रीवा के नीचे) होती हैं ॥१४॥

शरावमात्रा तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सार्षपी ॥१५॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥१६॥
महती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता।
महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडका सा तु पुत्रिणी ॥१७॥
मसूरसमसंस्थाना ज्ञेया सा तु मसूरिका।
रक्ताऽसिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत् ॥१८॥

शराविका पिड़का—शराव (चप्पन) के समान, इसी के आकार की, बीच से दबी होती है। सर्षपिका—श्वेत सरसों के आकार की, सरसों के बराबर बड़ी होती है। कच्छपिका—जलनयुक्त—कछुवे के समान बीच में से ऊपर को उठी होती है। जालिनी पिड़का—तीव्र दाहयुक्त—एवं मांस एवं शिराजाल से घिरी रहती है। विनता—महान् एवं नीले रङ्ग की होती है। पुत्रिणी—महती (स्थूल) एवं छोटी-छोटी पिड़काओं से व्याप्त (चारों ओर से घिरी) होती है। मसूरिका—मसूर के समान आकार की होती है। अलजी—लाल-काली स्फोटवती (त्वचा के फटने से छाले के रूपवाली), अति कठिन (कष्टदायक होती है ॥१५-१८॥

विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका।
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका बुधैः ॥१९॥

विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल एवं कठिन होती है। विद्रधि पिड़का—विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है ॥१९॥

ये यन्मयः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तत्कृताः।

जिन दोषों के कारण से प्रमेह उत्पन्न होते हैं, उन्हीं दोषों के कारण से ये प्रमेह जन्य पिड़कायें उत्पन्न होती हैं ॥

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥२०॥

गुदा, हृदय, शिर, अंस (बाहुका शिर), पीठ, मर्मस्थानों में उत्पन्न एवं तृषा-कास आदि उपद्रवों से युक्त, एवं अल्पाग्नि तथा अल्पशरीरवाले पुरुष में पिड़कायें असाध्य होती हैं[1] ॥२०॥

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अधः प्रक्रमते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः ॥२१॥

वायु, मेद, मज्जा और वसा (ओज एवं लसीका) के साथ मिलकर सम्पूर्ण शरीर का विलोड़नकर समस्त धातुओं को मूत्र मार्ग द्वारा प्रवाहण करती है, इसलिये शरीर के अधः भाग में पिड़कायें बलवान् होती हैं। इसलिये वातजन्य पिड़कायें असाध्य हैं ॥२१॥

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते।
किंचिच्चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२२॥

पूर्वरूपावस्था में सब रोग सुखसाध्य होते हैं—इसलिये कहते हैं कि—जिस रोगी में प्रमेह के पूर्वरूप के लक्षण स्पष्ट होने लगें अथवा मूत्र में कुछ अधिकता आने लगे, तो समझ लेना चाहिये कि यह प्रमेही है—इसको प्रमेह होनेवाला है ॥२२॥

कृत्स्नान्यर्धानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे।
प्रवृत्तमूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२३॥

जिस रोगी में सम्पूर्ण अथवा आधे प्रमेह पूर्वरूप के लक्षण स्पष्ट हों और मूत्र की मात्रा विशेष रूप से बढ़ जाये, उस रोगी को प्रमेह है, ऐसा जानना चाहिये ॥२३॥

पिडकापीडितं गाढमुपसृष्टमुपद्रवैः।
मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तितः ॥२४॥

---

१ यद्यपि सब प्रमेहियों के लिये पिड़कायें कही है, तथापि मधुमेही रोगी में विशेष करके पिड़कायें उत्पन्न होती हैं, जैसा कि चरक के 'कियन्तःशिरसीय' अध्याय में कहा है।

१ पिड़काओं के उपद्रव—
"तृट्कासमांसकोथमोहहिक्कामदज्वराः।
विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥"

अतिशय रूप में पिड़काओं से पीड़ित एवं प्रमेह जन्य उपद्रवों से युक्त, मेही को मधुमेही कहते हैं, यह असाध्य है[1] ॥

स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति ।
आसनाद् वृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति ॥२५॥

मधुमेही रोगी चलने की अपेक्षा खड़ा रहना (काम न करना) खड़े रहने की अपेक्षा बैठना, बैठने की अपेक्षा शय्या (बिस्तर पर लेटना), शय्या से सोना अधिक पसन्द करता है ॥

यथा हि वर्णानां पञ्चानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण शबलबभ्रुकपिलकपोतमेचकादीनां वर्णानामनेकेषामुत्पत्तिर्भवति, एवमेव दोषधातुमलाहारविशेषेणोत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण प्रमेहाणां नानाकरणं भवति ॥२६॥

जिस प्रकार कि पांच (सित हरित, कृष्ण, पीत और रक्त) रंगों के उत्कर्ष (अधिकता) एवं अपकर्ष (न्यूनता) द्वारा विशेष संयोग करने पर शबल (मिश्रित वर्ण), बभ्रु (पिंगल वर्ण), कपिल (उज्ज्वल पिंगल), कपोत (कबूतरी) और मेचक (उज्ज्वल श्यामवर्ण) आदि अनेक प्रकार के रङ्ग उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार से दोष (वातादि), दूष्य (मेद वसा आदि), मल आहार की विशेषता के न्यूनाधिक द्वारा विशेष होने पर नाना प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते हैं ॥२६॥

भवति चात्र—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकुर्वतः ।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२७॥

कहा भी है—

सब प्रकार के प्रमेह—प्रथम क्रियाकाल में चिकित्सा न करने पर मधुमेह में परिवर्त्तित हो जाते हैं । मधुमेह हो जाने पर असाध्य हो जाते हैं ॥२७॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने प्रमेहनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथात उदराणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

प्रमेह की भांति उदररोग भी शीघ्र उत्पन्न हुए ही सुखसाध्य हैं, इसलिये प्रमेह के पीछे उदररोग की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो
राजर्षिरिन्द्रप्रतिमोऽभवद्यः ।
ब्रह्मर्षिपुत्रं । विनयोपपन्नं
शिष्यं शुभं सुश्रुतमन्वशात् सः ॥३॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ एवं राजर्षि इन्द्र के समान आयुर्वेदज्ञाता धन्वन्तरि (शल्यशास्त्र के ज्ञाता), विनय से युक्त (जितेन्द्रिय), ब्रह्मर्षिपुत्र (विश्वामित्र के पुत्र—तप से ब्रह्मत्व प्राप्त करने के कारण), विनय शील आदि शुभ गुणों से युक्त, शिष्य रूप से आये सुश्रुत को शिक्षा देने लगे ॥३॥

पृथक् समस्तैरपि चेह दोषैः
प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।
आगन्तुकं सप्तममष्टमं च
दकोदरं चेति वदन्ति तानि ॥४॥

इस शास्त्र में उदररोग आठ प्रकार के हैं । यथा—एक-एक दोष से (वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य) तीन, सब दोषों से एक, इस प्रकार से चार प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, आगन्तुज और दकोदर आठवाँ है । (यकृद्दाल्युदर का अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही होता है) ॥४॥

सुदुर्बलाग्नेरहिताशनस्य
संशुष्करूक्षपूत्रनिषेवणाद्वा ।
स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तो-
र्वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः ॥५॥

---

१ जिस प्रकार से शिशु में क्रूरता-शूरता आदि गुण देखकर 'सिंहो माणवकः' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार से मधुमेही शब्द से—मधु के समान मूत्र प्रवाहित होता है, इसका द्योतक मधुमेही शब्द है । इसी प्रकार से—उत्पत्तिजन्य तथा सहजन्य दोनों प्रकार का मधुमेह असाध्य है । कहा भी है—

जातः प्रमेही मधुमेही नो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् । ये चापि केचित्कालजा विकाराः भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥

(२) प्रमेह रोग, केवल मूत्रमार्ग का ही रोग है, यह बात नहीं । प्रमेह तो सारे शरीर का एक रोग है । इस रोग का मुख्य लक्षण—'प्रभूत-आविल मूत्रता'—मूत्र का मात्रा में अधिक और मलिन होना है । वह लक्षण शरीर में दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है । इसी से चरक में कहा है "त्रयाणामेषां निदानादविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते—प्रगतिभूयस्त्वात्, संप्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात् । स विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति । मेदसश्चैव बह्वबद्धत्वात् मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात् ।" इत्यादि ।

चरक० नि० अ० ४ ।

(३) मधुमेह में शरीर की उष्णिमा कम हो जाती है । इसीलिये इस रोग में जो पिड़कायें बनती हैं वे पकती नहीं । इसी उष्णिमा को बढ़ाने के लिये इन्स्युलीन (पित्ताग्नि) दी जाती है ।

गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ।

कारण—

दुर्बल जठराग्निवाला व्यक्ति जब अहिताशन (विरुद्ध-सम-अध्यशन—विषमाशन) करता है, अथवा अतिशुष्क, दुर्गन्ध युक्त अन्न के खाने से, पुरुष के स्नेह-स्वेदन, वमन विरेचनादि कार्यों के अनुचित रूप में सेवन करने से, दोष कुपित होकर कोष्ठ (आमाशय, पित्ताशय और पक्वाशय) का आश्रय करके गुल्मरोग के समान आकार एवं चिह्न रूपी लक्षणों को उत्पन्न करके कष्टदायक उदररोग को उत्पन्न करते हैं ॥५॥

कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ॥६॥

त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ता-

द्विवर्धमानो जठरं करोति ।

सम्प्राप्ति—दूषित अनिल (प्राण-अपान वायु) के कारण प्रेरित अन्नसार (अन्नरस), कोष्ठ से उपस्नेह की भाँति (जिस प्रकार से नवीन घट में से तैल सूक्ष्म छिद्रों द्वारा बाहर आता है—उसी प्रकार से) बाहर निकलकर त्वचा को भली प्रकार से तानकर (आध्मान करके), चारों ओर से धीरे-धीरे बढ़ते हुए उदर रोग को उत्पन्न करता है ॥६॥

तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षा-

वलीविनाशो जठरे हि राज्यः ॥७॥

जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो

बस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः ।

उदररोग के पूर्वरूप—रोगी में बल और वर्ण की चाह रहती है (बल वर्ण घट जाता है), उदर की वलियाँ (झुर्रियाँ) नष्ट हो जाती हैं, उदर पर रेखायें (उदर में आध्मान होने से) उत्पन्न हो जाती हैं। भोजन के जीर्ण या अजीर्ण होने का ज्ञान नहीं होता, विदाह (जलन) होती है, बस्ति में दाहयुक्त वेदना और पाँवों में सूजन आ जाती है ॥७॥

संगृह्य पार्श्वोदरपृष्ठनाभी-

र्यद्वर्धते कृष्णसिरावनद्धम् ॥८॥

सशूलमानाहवदुग्रशब्दं

सतोदभेदं पवनात्मकं तत् ।

वातोदर—जब वायु—कृष्णरक्तवाही शिराओं का आश्रय करके पार्श्व उदर-पीठ और नाभि को घेरकर बढ़ती है, तब इसमें शूल, आनाह के समान तीव्र गुड़गुड़ शब्द, तोद एवं भेद (कुल्हाड़े के काटने के समान) होती है—इसको वातोदर कहते हैं ॥८॥

यच्चोषतृष्णाज्वरदाहयुक्तं

पीतं सिरा भान्ति च यत्र पीताः ॥९॥

पीताक्षिविण्मूत्रनखाननस्य

पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि ।

पित्तोदर—उदररोग में चोष (चूसने के समान वेदना), तृष्णा, ज्वर, दाह हो; जब पीली शिरायें (पित्तवह सिरायें) अधिक पीली हो जायें, आँख, मल-मूत्र-नख और चेहरा भी पीला हो जाता है तो पित्तोदर बहुत शीघ्रता से बढ़ता है ॥९॥

यच्छीतलं शुक्लसिरावनद्धं

गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य ॥१०॥

स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं

कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि ।

कफोदर में—उदर शीतल एवं उदर पर शिराजाल श्वेत-सा दीखता है। उदर भारी, स्थिर (कठिन) हो जाता है। रोगी का चेहरा और नख श्वेत हो जाते हैं। उदर, स्निग्ध, महान्—शोफयुक्त होता है, अङ्गों में ग्लानि होती है, उदर चिरकाल में बढ़ता है ॥१०॥

स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्र

विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ॥११॥

यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च

दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ।

तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः

कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ॥१२॥

तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु

विशेषतः कुप्यति दह्यते च ।

स चातुरो मूर्च्छति संप्रसक्तं

पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ॥१३॥

प्रकीर्तितं दूष्युदरं तु घोरं

सन्निपातोदर—दुराचारी स्त्रियाँ एवं अविवेकी पुरुष नख रोम-मूत्र-मल-आर्तव युक्त खान-पान को, शत्रु गर (संयोगजन्य कृत्रिम विष) जिस व्यक्ति को देते हैं उसको एवं दूषित जल (विष-मत्स्यादि युक्त), दूषीविष (जो विषदावाग्निवायु और आतप के कारण मन्द हो जाये) के सेवन करने से रक्त और वातादि दोष शीघ्र कुपित होकर त्रिलिंग (वात-पित्त-कफ के लक्षणवाला), घोर उदररोग को उत्पन्न करते हैं। शीत से, वायु से, बादलों के आने पर विशेष रूप में यह रोग बढ़ता है, इसमें जलन होती है। रोगी निरन्तर मूर्च्छित रहता है, रोगी पाण्डुवर्ण, कृश हो जाता है, प्यास से गला शुष्क हो जाता है। इस उदर को घोर (भयानक-कष्टकारी) एवं दूष्युदर (दुष्प्रतीकार होने से निन्दनीय) कहते हैं।

वि० मन्तव्य—सौभाग्य की दुरभिलाषा से प्रेरित नारियाँ कार्मण का प्रयोग करती हैं, तथा दुष्ट अपने जारों के बहकावे में आकर पति को उक्त प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग कर बैठती हैं और शत्रु—तत्काल पुलिस की कार्यवाही आदि के भय से दूषीविषों का अलक्षित प्रयोग करते हैं। फलतः वह अभागा घुल-घुल कर महीनों खटिया सेकर मरता है ॥११-१३॥

प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ।
विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ॥१४॥
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति
प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ॥१५॥
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।

इसके आगे प्लीहोदर कहते हैं—उसे जानो—

विदाही एवं अभिष्यन्दि (दोष-धातु मल स्रोतसों के क्लेद कारक) पदार्थों के निरन्तर सेवन करने से रक्त और कफ अतिशय रूप में कुपित होकर निरन्तर प्लीहा की वृद्धि को करते हैं, इसको विद्वान् प्लीहोदर कहते हैं। प्लीहा की वृद्धि वामपार्श्व में (पसलियों के नीचे) होती है, रोगी को विशेष रूप में अंग ग्लानि होती है। रागी को मन्द (थोड़ा २) ज्वर रहता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, कफ और पित्तजन्य उदरों के लक्षण रहते हैं। रोगी का बल बहुत घट जाता है, शरीर अत्यन्त पीला पड़ जाता है ॥१४,१५॥

सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे
ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥१६॥

तदेव (यही प्लीहोदर-दूषित कफ और रक्त) सव्येतर (दक्षिण) पार्श्व में यकृत् के दूषित होने पर 'यकृद् दाल्युदर' कहाता है। (इसका अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही है) ॥१६॥

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा ।
संचीयते तत्र मलः सदोषः
क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि ॥१७॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
त (य) श्चोदरं विट्समगन्धिकं च ॥१८॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः,

जिस पुरुष की आँतों में—उपलेपि (पिच्छिलकेवुकादि) अन्न के कारण से अथवा बाल या अश्म (पत्थर के कणों) से पृथक्-पृथक् अथवा समुदित रूप में, तीनों दोषों से सम्मिलित मल एकत्रित हो जाता है, जिस प्रकार कि नाड़ी (प्रणाली) में (झाडू से एकत्रित की गई) धूल का ढेर हो जाता है, उसी प्रकार से गुदा में मल संचित होता है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा मल बाहर आता है। उदर हृदय और नाभि के मध्य में बढ़ने लगता है। प्रच्छर्दयन् (आँतों के आमाशय को दबाने से जो वमन आता है, वह) उदर मल के समान गन्धयुक्त होता है, इसको बद्धगुदोदर कहते हैं ॥१७,१८॥

ततः परिस्राव्युदरं निबोध ॥
शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं
भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा ॥१९॥
तस्मात् सृतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ।
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं
निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च ॥२०॥
एतत् परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं

इसके आगे परिस्रावि उदर को कहते हैं—उसे जानो—

जिस पुरुष में अन्न से मिला शल्य (मत्स्यकण्टक आदि) अथवा अन्यथा (अनुचित तिर्यग् रूप में आया तीर, बरछा छुरा आदि शल्य) रूप से आँतों में आकर शल्य आँतों को विदीर्ण कर देता है। इसलिये आंतों से पानी के समान निकला हुआ स्राव-गुदा से बार-बार बाहर आता है। उदर में नाभि के निचले स्थान में वृद्धि आरम्भ होती है, चुभने के समान अतिशय वेदना और विदाह होता है। इसको परिस्रावि उदर कहते ॥१९,२०॥

दकोदरं कीर्तयतो निबोध ।
यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा
वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ॥२१॥
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य
स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ।
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु
दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ॥२२॥
स्निग्धं महत् सपरिवृत्तनाभि
भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च
शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२३॥

इसके आगे दकोदर को कहते हैं—वह जानो—

स्नेहपान करने पर, अनुवासन कर्म करने पर, वमन करके, विरेचन लेकर, अथवा निरूढ कर्म करके, जो पुरुष एकदम शीतल जलपान करता है, उस पुरुष के जलवाही स्रोत सहसा दूषित हो जाते हैं। अथवा स्रोतों के स्नेहादि से लिप्त होने पर जब शीतल जल पीता है, तब पूर्व (परिस्रावि) की भांति-नाभि के निचले भाग में 'दकोदर' (जलोदर) बढ़ता है। इस रोग में उदर ऊपर से बहुत सा चिकना, नाभि-गोलाकार तथा बहुत ऊँची उठी होती है। जिस प्रकार से मशक पानी से भरी होने पर-क्षुभित होती है, कम्पन करती है, शब्द करती है, उसी प्रकार से उदर भी क्षुभित होता है, हिलता है, गति करता है, शब्द करता है, इसको दकोदर (Ascitis) कहते हैं ॥२१-२३॥

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोफः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ।

दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥२४॥

सामान्य लक्षण—

आध्मान (अफारा), चलने में अशक्ति, दुर्बलता, अग्निमांद्य, शोफ (सूजन), अंगों में ग्लानि, वात-मल का अवरोध, दाह, तृष्णा—ये लक्षण सब उदररोगों में सामान्य हैं ॥२४॥

अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु।
सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत् ॥२५॥

साध्यासाध्य—

सब उदररोगों के अन्त में उदर के अन्दर पानी उत्पन्न हो जाता है। इसलिये काल के परिणाम से सब उदररोग इस अवस्था में आकर असाध्य हो जाते हैं ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने उदरनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो मूढगर्भनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

उत्सेध की सामान्यता से उदररोगों के उपरान्त मूढगर्भ[1] निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडन-धावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्ष-कटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः, स विमुक्तबन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः कोष्ठ-संक्षोभमापादयति, तस्या जठरसंक्षोभाद्वायुरपानो मूढः पार्श्वबस्तिशीर्षोदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं च्यावयति तरुणं शोणितस्रावेण; तमेव कदाचिद्विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसंमोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते ॥३॥

मैथुन, रथादि, वाहन (अश्वादि), अध्वगमन (रास्ते की-मुसाफिरी), प्रस्खलन (अकस्मात् पांव का फिसलना), प्रपतन (गिरना)· प्रपीडन (दबना), धावन (भागना), अभिघात (चोट लगना), विषम शयन (ऊँची-नीची जगह सोना), विषमासन (ऊँची-नीची जगह बैठना), उपवास, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, अतिरूक्ष कटु-तिक्त भोजन से, शोक से, अतिक्षार के सेवन से, अतिसार-वमन-विरेचन से, प्रेंखोलन (झूला झूलने से), अजीर्ण से (गर्भपात कारक चित्रकादि औषधियों के सेवन करने तथा अन्य) कारणों से गर्भ बन्धन (नाडीबन्धन) से छूट जाता है, जिस प्रकार कि प्रहारादि के कारण फल वृन्त (गुच्छ, टहनी) से पृथक् हो जाता है, (अकाल में गिर जाता है)।

यह गर्भ नाड़ीबन्धन से पृथक् होकर गर्भशय्या का उल्लंघन करके यकृत्, प्लीहोदर और अन्त्र के अन्तराल में से नीचे की ओर गिरता हुआ कोष्ठ (मल-मूत्राशय) में विक्षोभ उत्पन्न करता है। गर्भिणी स्त्री में उदर के विक्षोभ के कारण अपान वायु मूढ़ (क्रिया रहित) होकर पार्श्व-वस्तिशीर्ष-उदर-योनि में शूल, आनाह (आध्मान), मूत्रसंग (निरोध)—इनमें से किसी एक रोग को उत्पन्न करके रक्तस्राव द्वारा तरुण (अजातसार-अव्यक्त चेतन रूप) गर्भ च्युत करती है। इसी जातसार गर्भ को जब यह निरन्तर बढ़कर असम्यग् (विलोम भाग से) रूप से योनिमार्ग में पहुँच जाता है, और अपान वायु के विलोम होने से मूर्च्छित होने के कारण–मार्ग से बाहर नहीं निकलता, तब इसको मूढ़ गर्भ कहते हैं ॥३॥

ततः कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति। तत्र, ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः; निःसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी प्रतिखुरः; यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः, यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठति स परिघः, इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते। तत्तु न सम्यक्; कस्मात्? स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्रपद्यते तदा सङ्ख्या हीयते ॥४॥

यह मूढगर्भ चार प्रकार का है। यथा-कील, प्रतिखुर, बीजक और परिघ। इनमें-जो गर्भ बाहुओं को ऊपर रखकर शिर एवं पांवों द्वारा योनिमुख को रोक लेता है, वह कील (शंकु) की भाँति होने से 'कील' है। जो गर्भ हाथ पांव और शिर बाहर निकालकर शरीर के मध्यभाग से योनिमार्ग को रोकता है, वह 'प्रतिखुर' है। जिस गर्भ की एक भुजा और शिर बाहर निकल जाता है, उसे 'बीजक' कहते हैं। और जो गर्भ परिघ (अर्गल) के समान (तिर्यगवस्था-Transvers Position)–योनिमुख को घेर के रहता है इसे 'परिघ' कहते हैं, इस प्रकार से मूढगर्भ चार प्रकार का है, ऐसा कई आचार्यों का सिद्धान्त है। यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि—जिस समय विलोम अपान वायु से पीड़ित होकर अनेक रूप से योनिमार्ग में आता है, उस समय इस चार संख्या का अतिक्रमण कर जाता है॥

तत्र, कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन, कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः, कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनि-

---

[1] मूढगर्भ का लक्षण—
सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः।
विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते॥ || Imp.

द्वारं पिधायावतिष्ठते, अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम, इत्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा समासेन ॥

यथा—कोई गर्भ दोनों टांगों से योनिमुख में आता है, कोई गर्भ एक टांग को संकुचित करके एक टांग से योनिमार्ग में उतरता है, कोई गर्भ टांग और शरीर को संकुचित करके—स्फिग् (नितम्ब) भाग से तिरछे रूप में योनिमुख में पहुँचता है। कोई गर्भ उर, पीठ पार्श्व—इनमें से किसी एक अवयव से योनिद्वार को रोक कर रहता है। कोई गर्भ शिर को अन्दर की ओर झुकाकर चिबुक को छाती पर रखकर-एक बाहु द्वारा योनिमुख में आता है। कोई गर्भ शिर को संकुचित करके दोनों बाहुओं से, कोई शरीर के मध्यभाग को झुकाकर हाथ-पांव और शिर से, कोई गर्भ एक ही टांग से और कोई गर्भ गुदा द्वारा योनिमार्ग में आता है। इस प्रकार से संक्षेप में आठ प्रकार की मूढगर्भ की गतियाँ कह दी हैं ॥५॥

तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् ॥६॥

इनमें सातवें या आठवें प्रकार का मूढगर्भ स्वभाव से ही असाध्य है। शेष मूढगर्भों में निम्न लक्षण होने पर इनको भी असाध्य समझना चाहिये। यथा—जिस समय स्त्री रूपादि इन्द्रिय-विषयों को ठीक प्रकार से ग्रहण न कर सके, आक्षेपक (Convolsions) हो, योनिभ्रंश (योनि का बाहर आना), योनिसंवरण (योनि का संकोच), मक्कल्ल (प्रसूता स्त्री में वायु रक्त को रोककर बस्ति, शिर में शूल उत्पन्न करती है), श्वास, कास, भ्रम (चक्कर)-ये लक्षण हों तो असाध्य समझना चाहिये॥

भवन्ति चात्र—

कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद्यथा फलम्।
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥७॥
एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीनिबन्धनात्।
गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥८॥

कहा भी है—

जिस प्रकार से कालजन्य परिपाक के कारण वृन्त (टहनी) से मुक्त हुआ फल स्वभाव से ही गिरने लगता है, अन्यथा रूप में स्वयं नहीं गिरता, उसी प्रकार काल-स्वभाव से गर्भाशय में स्थिर गर्भ नाड़ीबन्धन से पृथक् होकर जन्म ग्रहण करता है ॥

कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्।
पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद् गर्भविच्युतिः ॥९॥

जिस प्रकार से कृमि, वायु अथवा चोट के कारण से यही फल (बिना समय) में गिर पड़ता है, उसी प्रकार से यह गर्भ भी असमय में गिरता है ॥९॥

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेत् गर्भविच्युतिः।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥१०॥

यदि चार मास तक के गर्भ का भ्रंश हो तो इसको गर्भस्राव (Abortion) कहते हैं, (चार मास तक मूढगर्भ नहीं है)। चार मास के पीछे शरीर के स्थिर होने पर 'गर्भपात' कहा जाता है (Mis carriage)। इनके आगे सातवें मास में पूर्व प्रसव (Pri-Birth) कहते हैं ॥१०॥

प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥११॥

जो स्त्री अंगों को झुकाकर शिर को अतिशय हिलाती-डुलाती है, जिस स्त्री की लज्जा सर्वथा चली गई, जिस स्त्री की शिरायें ऊपर को उठ गईं एवं काली पड़ गई हैं, वह स्त्री गर्भ को और वह गर्भ उस गर्भवती स्त्री को नष्ट कर देता है ॥११॥

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तमृते शिशौ ॥१२॥

शिशु के गर्भाशय में मर जाने पर, गर्भ का स्पन्दन (हिलना-डुलना) बन्द हो जाता है, आवि (प्रसववेदनायें) नष्ट हो जाती हैं, शरीर का रंग काला-पीला पड़ जाता है, निःश्वास में दुर्गन्ध आती है ॥१२॥

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः ॥१३॥

माता के मानसिक (शोकादि) एवं आगन्तुज (चोट आदि) दुःखों द्वारा पीड़ित होने से तथा रोगों के कारण पीड़ित गर्भ कुक्षि (गर्भाशय) में मर जाता है[1] ॥१३॥

बस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक् ॥१४॥

बस्तमार (गला घोटकर शीघ्र-बिना कष्ट से मारी हुई बकरी के समान-शीघ्र मृत) की भांति मृत स्त्री के उदर में यदि गर्भ जीवित हो (चेष्टा करता हो) तो —

१ अन्य लक्षण—
'सोऽन्तर्मृतो गर्भो शूनो बस्तिरिवाततः।
उत्क्षिप्यन्त इवांगानि मूत्रबस्तिश्च भिद्यते॥
क्लोमप्लीहा यकृच्चैव फुप्फुसं हृदयं तथा।
गर्भेण पीडितं पित्तादूर्ध्वं प्रकामति स्त्रियः॥
सा शूयते मुह्यति च कृच्छ्रश्वासा च जायते।
पूतिगन्धस्तथा स्वेदो जिह्वा तालु च शुष्यति॥
वेपते भ्राम्यति तथा जीवितं चोपरुध्यते।
एतैर्लिंगैर्विजानीयात् मृतं गर्भचिकित्सकः॥

तत्क्षण जन्मसमय में उदर को चीर कर गर्भ को निकाल लेना लेना चाहिये। अन्यथा शिशु भी मर जायगा[1]।

श्री हाराणचन्द्र जी ने तो यह अर्थ किया है, कि जब अपत्यमार्ग तंग हो तब प्रसव के समय उदरमार्ग को चीरकर बच्चा बाहर निकाल लेना चाहिये। श्री घाणेकर जी का कहना है कि बालक के जन्म के समय जब माता की विपन्नावस्था हो, तब उदर को चीरकर बालकको बाहर कर लेना चाहिये ।१४।

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मूढगर्भनिदानं नामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शस्त्रचिकित्सा के साधर्म्य से मूढगर्भ निदान के अनन्तर विद्रधि के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—विद्रधि वह फोड़ा है जिसका मूल अस्थि में होता है। परन्तु बाह्यविद्रधि का ही मूल अस्थि में होता है, अन्तर्विद्रधि का नहीं ॥ १.२ ॥

सर्वामरगुरुः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिपः।
शिष्यायोवाच निखिलमिदं विद्रधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

देवताओं के गुरु कारणवश पृथिवी पर राजा के रूप में अवतीर्ण हुए भगवान् धन्वन्तरि ने आगे कहे जानेवाले इन विद्रधि लक्षणों को समस्त रूप में शिष्य के लिये कहा है ॥३॥

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ ४ ॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम्।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा, विज्ञेयः स च षड्विधः ॥ ५ ॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ ६ ॥

सम्प्राप्ति—अतिशय कुपित वातादि दोष अस्थि का आश्रय करके त्वचा, रक्त, मांस एवं मेद को दूषित करके घोर शोथ को धीरे-धीरे उत्पन्न करते हैं। "विदहति इति विद्रधिः" "शीघ्रं विदाहित्वात् विद्रधिरित्यभिधीयते।" चरक। जिस समय यह शोथ महान् मूलवाला, अतिशय पीड़ायुक्त, गोलाकार अथवा आयताकार होता है, उस समय बुद्धिमान् पुरुष इसको 'विद्रधि' कहते हैं। यह विद्रधि रोग छै प्रकार का है। यथा—पृथक् पृथक् दोषों (वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य) समस्त दोषों (सन्निपातजन्य) से, चोट लगने से और रक्तजन्य इन छै प्रकार की विद्रधि के लक्षणों को कहते हैं ॥ ४-६॥

कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदनः।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥ ७ ॥

वातजन्य विद्रधि-कृष्ण या अरुण (लाल) वर्ण, कठोर, अत्यन्त वेदना युक्त, देर में उत्पन्न होती है, और देर में ही पकती है। श्रीघाणेकरजी ने 'चिरोत्थान' के स्थान पर 'चित्रोत्थान' पाठ करके विविध प्रकार से उठनेवाली अर्थ किया है[1]।

पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥ ८ ॥

पित्तजन्य विद्रधि—

पके हुए गूलर के समान लाल या काली, ज्वर एवं दाह से युक्त, शीघ्र उत्पन्न होती है और शीघ्र ही पक जाती है ॥८॥

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धोऽल्पवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च सकण्डूश्च कफोत्थितः ॥ ९ ॥

कफजन्य विद्रधि—

शराव के समान बड़ी, चक्केदार, पाण्डुवर्ण, शीतल, स्तब्ध (जड़) थोड़ी वेदना युक्त, देर में उत्पन्न होती है और देर में पकती है, एवं कण्डू होती है ॥ ९ ॥

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः।

इनमें पकने पर-वातजन्य विद्रधि का स्राव-(पतला) पित्तजन्य का पीला और कफजन्य का श्वेत स्राव होता है।

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ॥ १० ॥
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः।

सन्निपातजन्य विद्रधि—

नानावर्ण युक्त (काली-पीली शुक्ल), अनेकविध पीड़ा युक्त (तोद-दाह-कण्डू युक्त), नानाविध स्राव युक्त (तनु पीत-

---

(२) चरक में—

"अन्तःकुक्षौ गर्भो म्रियते, तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवति अस्पन्दनो गर्भः, शूलमधिकमुपजायते, न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवति, अक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः, ताम्यति, व्यथते, भ्रमते, श्वसिति, अरतिबहुला च भवति। न चास्या वेगप्रादुर्भाव उपलभ्यते।"

१ वाग्भट्ट में निम्न प्रकार से यह श्लोक पढ़ा है—
"वस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक्।"

गर्भिणी के मरने पर बस्ति द्वार के पास में कुक्षि अतिशय रूप में हिलती हो तो कुशल वैद्य को चाहिये कि कुक्षि के प्रस्पन्दन के पीछे उदर को चीरकर शिशु को बाहर निकाल लेवे।

१ चित्रौ नानाविधौ वायोः विषमक्रियत्वाद् उद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा "मधुकोष"।

शुक्ल), अत्यन्त उभरी हुई, विषम आकार की, बहुत फैली हुई, विषम रूप में (कुछ भाग शीघ्र पकता है, कुछ देर में अथवा गम्भीर एवं उत्तान भेद से) पकती हैं ॥ १० ॥

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यसेविनः ॥ ११ ॥
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।
ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ १२ ॥
एष विद्रधिरागन्तुः पित्तविद्रधिलक्षणः ।

आगन्तुज विद्रधि—व्रण में—घोड़े से गिरने या गूढ़ प्रहार आदि से चोट लगने पर, अथवा अपथ्य सेवन करने पर व्रण की उष्णिमा (पित्त), वायु से फैलकर रक्त एवं पित्त को प्रेरित करता है। इसके कारण पुरुष को—ज्वर-तृष्णा और दाह उत्पन्न होता है। इसको आगन्तुज विद्रधि कहते हैं, इसमें पित्तजन्य विद्रधि के लक्षण होते हैं ॥ ११,१२ ॥

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः ॥ १३ ॥
पित्तविद्रधिलिङ्गैस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

रक्तजन्य विद्रधि—काली फुंसियों से घिरी हुई काले रङ्ग की, तीव्र दाह एवं अतिशय वेदना से युक्त, पित्तजन्य विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है ॥ १३ ॥

उक्ता विद्रधयो ह्येते तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ॥ १४ ॥

इन उपर्युक्त विद्रधियों में सन्निपातजन्य विद्रधि असाध्य है, शेष पाँच साध्य हैं ॥ १४ ॥

आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते ।
गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कसंसृष्टभोजनात् ॥ १५ ॥
अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः ।
पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥१६॥
वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।

इसके आगे आभ्यन्तर (अन्तः) विद्रधियों को कहते हैं—गुरु-असात्म्य विरुद्ध अन्न के सेवन से, शुष्क भोजन से, संसृष्ट (दूषित प्रदेश में) भोजन करने से, अति मैथुन से, व्यायाम से, उपस्थित मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से, विदाही भोजनों से, दोष—पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में कुपित होकर गुल्म के समान कठोर विद्रधि को उत्पन्न करते हैं। यह अन्तः विद्रधि वल्मीक के समान् (पच्यमानावस्था में) ऊपर को उठी होती है।

वि० मन्तव्य—अन्तर्विद्रधि—भीतरी अवयवों के फोड़ा का नाम है ॥ १५,१६ ॥

गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥१७॥
वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा।
तेषां लिङ्गानि जानीयाद्बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १८ ॥
आमपक्वैषणीयाच्च पक्वापक्वं विनिर्दिशेत् ।

स्थान—गुदा, बस्तिमुख, नाभि (अन्त्र), कुक्षि (उदर), वंक्षण (Croins), वृक्क (गुर्दा), यकृत्, प्लीहा, हृदय और क्लोम (पित्ताशय या आमाशय) में उत्पन्न होती हैं। बाह्य विद्रधि के लक्षणों से ही अन्तःविद्रधि को पहचानना चाहिये। 'आमपक्वैषणीय' अध्याय में वर्णित पक्व एवं अपक्व के लक्षणों से पक्वापक्व का निश्चय करना चाहिये ॥ १७,१८ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिंगं शृणु विशेषतः ॥ १९ ॥
गुदे वातनिरोधस्तु बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ।
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥२०॥
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ।
वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ॥२१॥
सर्वांगाप्रग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुणः ।
श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ॥२२॥

स्थानभेद से विशेष लक्षणों को सुनो—गुदा में विद्रधि होने पर वायु का अवरोध, बस्ति में होने से कठिनाई से थोड़ा मूत्र आता है, नाभि में होने पर हिचकी एवं आटोप (आध्मान), कुक्षि में होने पर वायु का प्रकोप वंक्षणजन्य विद्रधि में—कटिग्रह और तीव्र पृष्ठग्रह (जकड़ना) होता है, वृक्क में होने पर पार्श्वों में संकोच, प्लीहा में होने में श्वास का अवरोध (रुकना), हृदय में होने पर—तीव्ररूप में सब अङ्गों का ग्रह (पकड़ा जाना), तीव्र शूल होता है, यकृत् में विद्रधि होने पर—श्वास और तृष्णा होती है, क्लोम में होने पर अधिक प्यास लगती है॥

आमो वा यदि वापक्वो महान् वा यदि वेतरः ।
सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥२३॥

मर्मस्थान में यदि कोई आम (अपक्व) या पक्व, महान् अथवा अल्प—किसी भी प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है, वह सब कष्ट रूप होती है ॥ २३ ॥

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
जीवत्यधो निःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ २४ ॥
हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ २५ ॥

नाभि से ऊपर (प्लीहा, यकृत्-क्लोम, कुक्षि और हृदय में) उत्पन्न विद्रधियाँ पकने पर ऊपर की ओर (मुख-नाक से) स्रवित होती हैं। दूसरी—(गुदा-बस्ति-वंक्षण-वृक्क में) विद्रधियाँ पकने पर नीचे की ओर (गुदा मूत्र मार्ग) से स्रवित होती हैं। इनमें नीचे की ओर बहनेवाली विद्रधियों में मनुष्य जीता है, ऊपर को स्रवित होनेवाली विद्रधियों में मनुष्य नहीं जीता। यदि कभी भाग्यवश से हृदय, नाभि और बस्ति की विद्रधियों को छोड़कर अन्य (शेष-गुदा-कुक्षि वंक्षण-यकृत् प्लीहा क्लोम और वृक्क की) विद्रधियाँ बाहर की ओर त्वचा में फूट जाती हैं, तो मनुष्य कदाचित् बच जाता है, परन्तु हृदय नाभि और बस्ति की आभ्यन्तर विद्रधियों के नीचे की ओर फटने पर पुरुष कभी नहीं जीवित रहता ॥ २४,२५ ॥

स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥२६॥

रक्तविद्रधि—गर्भ के पात या स्राव होने से अथवा ठीक समय प्रसव करने पर अहित (शीत-रूक्ष आहार-विहार के) सेवन से स्त्रियों में—दाह, ज्वर एवं कष्टदायक रक्तजन्य (आर्त्तवजन्य) विद्रधि उत्पन्न होती है ॥२६॥

अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम् ।
रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥२७॥

ठीक समय पर भली प्रकार से प्रसव होने पर भी यदि गर्भाशय से रक्त (दूषित रक्त) बाहर न निकले तो मक्कल्ल के कारण कुक्षि में रक्तजन्य विद्रधि (स्त्रियों में) उत्पन्न होती है ।

वि० मन्तव्य—प्रसूता के गर्भाशय के शूल का नाम भी "मक्कल" है ॥२७॥

सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रपच्यते ।

यदि यह रक्तजन्य विद्रधि सात दिन में शान्त न हो तो पित्त की उष्णिमा के कारण अन्दर पकती है, पकने पर असाध्य हो जाती है ।

विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधिगुल्मयोः ॥२८॥
गुल्मदोषसमुत्थानाद्विद्रधेर्गुल्मकस्य च ।
कस्मान्न पच्यते गुल्मी विद्रधिः पाकमेति च ॥२९॥
न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धनः ।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥३०॥
विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा ।
एवंप्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाकं न गच्छति ॥३१॥
मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः ।
मांसशोणितहीनत्वाद्गुल्मः पाकं न गच्छति ॥३२॥
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ।
विद्रधिः पच्यते तस्माद्गुल्मश्चापि न पच्यते ॥३३॥

इसके आगे गुल्म और विद्रधि रोग में भेद को कहते हैं—

प्रश्न—गुल्म और विद्रधि के कारण दोष एक समान हैं। इस पर गुल्म किस कारण से नहीं पकता और विद्रधि किस लिये पकती है ? उत्तर—गुल्म का कोई निबन्ध (मूल) नहीं है, (रक्तादि द्रव्यों का अभाव रहता है), विद्रधि रोग का मूल (त्वचा रक्त-मांस आदि) है । गुल्म रोग में वातादि दोष स्वयं ही (दूष्य के आश्रय के बिना ही) गुल्माकार बन जाते हैं, विद्रधि में दोष मांस एवं रक्त का आश्रय लेकर गुल्म रूप होते हैं। जिस प्रकार से पानी में वायु से बुलबुले बन जाते हैं, इसी प्रकार से वायुजन्य गुल्म विवर (स्रोतों में) का अनुसरण करके कफ पित्त-रक्त में ग्रन्थि रूप से हो जाता है । इसलिये गुल्म पकता नहीं । विद्रधि में मांस और रक्त की अधिकता रहती है इसलिये विद्रधि पकती है । गुल्म में मांस और रक्त नहीं रहता है, इसलिये गुल्म नहीं पकता । गुल्म अपने वातादि दोषों में ही रहता है, विद्रधि मांस-रक्त (दूष्यों) में रहती हैं, इसलिये विद्रधि पकती है और गुल्म नहीं पकता ॥३३॥

हृन्नाभिवस्तिजः पक्वो वर्ज्यो यश्च त्रिदोषजः ।

हृदय, नाभि, बस्ति में उत्पन्न विद्रधि पकने पर तथा सन्निपातजन्य विद्रधि–जहाँ कहीं भी हो, वह असाध्य है ।

अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते ॥३४॥
सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ।
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते ॥३५॥
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत् ।
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम् ॥३६॥
अथास्य कर्मणा व्याधिर्द्वारं तु लभते यदा ।
ततो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु ॥३७॥
भिन्नेऽस्थ्नि निःस्रवेत् पूयमेतदस्थिगतं विदुः ।
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम् ॥३८॥

प्राक्तन कर्मों के कारण अथवा उपेक्षा से विद्रधि अस्थि में पहुँचकर पक जाती है—उसके लक्षण कहते हैं–उपेक्षा से या कर्मवश कष्टकारी मज्जा का परिपाक होने लगता है । यह मज्जा पाक अस्थि एवं मांस से रुक जाने पर मार्ग नहीं पा सकता । तब वह स्थान इस मज्जापाक रोग से अग्नि के समान जलने लगता है । अस्थि एवं मज्जा की उष्णिमा से जलते हुए के समान शीर्ण (राख-भस्म) हो जाता है । यह शल्य रूप विकार रोगी को देर तक दुःख देता है । जब शस्त्रकर्म द्वारा रोग को मार्ग मिल जाता है, तब मेद के समान स्निग्ध, श्वेत, शीतल, गुरु (भारी) पूय–अस्थि के भिन्न होने पर बाहर स्रवित होती है । शास्त्रकुशल वैद्य इसको अस्थिगत विद्रधि कहते हैं । इसमें सन्निपातजन्य पीड़ा होती है ॥३४-३८॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने विद्रधिनिदानं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

—०—

१ सब गुल्मों में वायु मुख्य कारण है—इसी से कहा है—
'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णदोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥
'चरक'

चरक में जहाँ गुल्मचिकित्सा में पक्वगुल्म का वर्णन है, वह अन्तः विद्रधि का समझना चाहिये । चरक के त्रिशोथीय अध्याय में गुल्म का वर्णन किया है । विद्रधि के दो भेद बताते हुए—"विद्रधिं द्विविधमाहुः बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा"—कहकर – अन्तः विद्रधि का समावेश गुल्म में किया है । सुश्रुत में गुल्म और विद्रधि दोनों पृथक् रक्खे हैं, इसलिये, अन्तः विद्रधि को—विद्रधि में रख दिया है—'कृतवास्तुपरिग्रह' गुल्म पकता है, 'अकृतवास्तु-परिग्रह' गुल्म नहीं पकता—यह दूसरा भी अन्तर है ।

दशमोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

त्वचा रक्त आदि दूष्य (आश्रित) वस्तुओं की समानता से विद्रधि के अनन्तर विसर्प नाड़ी स्तन रोग की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—यह विसर्प कुष्ठनिदानोक्त विसर्प कुष्ठ से भिन्न है इसमें कुष्ठ के पूर्वरूप नहीं होते और यह सहसा उत्पन्न होता है और १०-२० दिन में शान्त भी हो जाता है। एक विलक्षण विसर्प का वर्णन चरक में आया है और कभी कभी दृष्टिगोचर भी होता है वह है—यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूता च० चि० अ० १२। ये स्फोट (फफोले) यज्ञोपवीतव्याप्य शरीरावयव पर होते हैं। बाँएँ स्कन्ध से दाईं कुक्षि या पार्श्व तक—वक्षस् एवं पीठ पर निकलते हैं ॥१,२॥

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम्।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥३॥

कुपित हुए वातादि दोष सम्मिलित होकर त्वचा (त्वचाश्रित उसी का भी), मांस और रक्त का आश्रय करके-सर्वांगविसर्पि (अन्तः एवं बाह्य तथा अवयव रूप से अंगों में फैलनेवाली), अस्थित (अनिश्चल-इधर उधर फिरनेवाली), आत्मलिंग (व्यस्त समस्तरूप वातादि लक्षणों से युक्त), फैला हुआ ऊपर न उठा हुआ सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को सब ओर फैलने से इसे शास्त्र में 'विसर्प' कहते हैं[१] ॥३॥

वातात्मकोऽसितमृदुः परुषोऽङ्गमद-
संभेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः।
गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा—
युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः ॥४॥

यद्यपि विसर्प त्रिदोषजन्य है, तथापि चिकित्सासौकर्य के लिये वातादि दोष भेद से लक्षणों को कहते हैं—

वातजन्य विसर्प—कृष्ण, कोमल, खुरदरा होता है, शरीर में पीड़ा, भेद तोद (चुभने के समान), एवं वायुजन्य ज्वर के लक्षणों से युक्त, वायु से अति दूषित होने के कारण विषम (निम्नोन्नत) गण्डों से (मांसजन्य गुडिका अथवा अग्नि से जलने पर उत्पन्न छालों जैसे) युक्त होता है। इस अवस्था में वह असाध्य है। (कोई २ आचार्य गण्डों की उत्पत्ति वातपित्त से मानते हैं) ॥४॥

पित्तात्मको द्रुतगतिज्वरदाहपाक-
स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः।
दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात्
स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥५॥

पित्तजन्य विसर्प—शीघ्र फैलनेवाला, तीव्र ज्वर, तीव्र दाह, पाक स्फोट (छाले) एवं काटने के समान वेदना से युक्त क्षतज (रक्त या वर्ण) के समान दीखता है। जिस समय दोष के अति बढ़ने से मांस और शिरायें नष्ट हो जायें, और रङ्ग स्रोत (सौवीरांजन) के समान या कर्दम (कीचड़) की भाँति हो जाय, तब यह असाध्य है। (कोई आचार्य पित्त-कफ के लक्षण मानते हैं) ॥५॥

श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः
स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डुः।

कफजन्य विसर्प—धीरे धीरे फैलता है, देर में पकता है, स्निग्ध, श्वेत वर्ण, थोड़ी सूजन युक्त और कण्डू-तीव्र होती है।

सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः
पक्वो न सिध्यति च मांससिराप्रशातात् ॥६॥

सन्निपातजन्य विसर्प में—वातादि तीनों दोषों का काला-पीला श्वेत वर्ण, तीनों दोषों की तोद-दाह, कण्डू, वेदना होती है, आभ्यन्तर मूलवाला है। मांस और शिरा के नष्ट होने पर, पक्वावस्था में असाध्य है, प्रथम अवस्था में कष्टसाध्य है ॥६॥

सद्यः क्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं
रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम्।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं
स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥७॥

क्षतजन्य विसर्प—दोषबहुल (कुष्ठ-वातरक्तादि पूर्व-रूप दोषदूषित धातु) पुरुष में पित्त और रक्त सद्यःक्षतजन्य व्रण में पहुँचकर शोफ को उत्पन्न करते हैं। यह शोफ—कृष्णवर्ण, रक्तवर्ण, अतिज्वर, अतिदाह, अतिपाक से युक्त, कुलत्थी के समान काले छालों से व्याप्त होता है ॥७॥

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।

---

१ विसर्प की उत्पत्ति में सात धातु कारण हैं, यथा—
रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषाः त्रयो मलाः।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥
इसलिये चरक में कहा हैं—
"स च सप्तविधो दोषैः विज्ञेयः सप्तधातुकः ॥"
विसर्प के स्थान—
(२) बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रिताः।
विसर्पो बलमेषान्तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥
(३) कविराज हाराणचन्द्र जी "कुर्वन्ति यं विस्तृतमुद्यतमाशु शोफम्" यह पाठ पढ़ते हैं।
इसमें 'उन्नत' का अर्थ 'ऊंचा उठा' किया है।

पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिंगौ
सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्या ॥८॥

इनमें साध्यासाध्य—वात, पित्त और कफजन्य विसर्प साध्य हैं, सन्निपातजन्य और क्षतजन्य विसर्प असाध्य हैं। गण्ड (छालों) युक्त वातजन्य विसर्प, अञ्जन की भाँति कीचड़ की तरह का पित्तजन्य विसर्प, तथा मर्मस्थानों में उत्पन्न विसर्परोग कष्टसाध्य हैं ॥८॥

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥९॥

नाड़ी—अनुचित कर्म करनेवाला वैद्य पके हुए शोथ को अपक्व (कचा) समझकर अथवा अतिपूययुक्त व्रण की उपेक्षा करता है, उक्त पुरुष में यह पूय पूर्वोक्त त्वचादि व्रण-वस्तु को विदीर्ण करके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है ॥९॥

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरित्यतश्च
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

इस पूय के अतिमात्रा में अन्दर की ओर जाने से इसको 'गति' कहते हैं, नाड़ी (प्रणालीसिरा) की भाँति इसमें पूय का वहन होता है, इसलिये इसको 'नाड़ी' कहते हैं।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥१०॥

संख्या—तीनों दोषों से पृथग् पृथग् तीन (वात, पित्त, कफजन्य), सन्निपातजन्य एक, द्विदोषजन्य, वात पित्त, पित्त-कफ, कफ-वातजन्य, और शल्यजन्य, इस प्रकार से पाँच प्रकार के नाड़ीव्रण हैं।

वि० मन्तव्य—नाड़ी व्रण को "नासूर" कहते हैं इसका मुख छोटा होता है और भीतरी भाग चौड़ा या बड़ा होता है फलतः इसके भीतर प्रलेप (मलहम) पहुँच नहीं पाता या वत्ती आदि से पूर्णरूप से पहुँचाया नहीं जा सकता अतः यह शीघ्र नष्ट भी नहीं होती यदि इसका मुख—शस्त्र द्वारा अथवा क्षार द्वारा बड़ा कर लिया जाता है तो व्रण के समान शोधन रोपण से नष्ट हो जाती है ॥१६॥

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम्।

वातजन्य नाड़ी—कठोर, सूक्ष्ममुखयुक्त, वेदनायुक्त होती है एवं फेन से मिश्रित स्राव बहाती है। यह स्राव रात्रि में (शीत के कारण शीतकाल में भी) अधिक होता है।

तृट्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु पित्तात् ॥११॥

पित्तजन्य नाड़ी—में प्यास, संताप, चुभने की वेदना अंगग्लानि तथा ज्वर की पीड़ा होती है। पीले रङ्ग का उष्ण स्राव बहता है, यह स्राव दिन में (उष्णता के कारण) अधिक बहता है ॥११॥

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
रात्रिस्रुतिः स्तिमितरुक्कठिना सकण्डूः।

कफजन्य नाड़ी—में स्राव मात्रा में बहुत, गाढ़ा श्वेत तथा चिकना होता है। स्राव रात्रि में अधिक होता है। नाड़ी में मन्द वेदना, कठोरता और कण्डू होती है।

दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन
तिस्रो गतिर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात् ॥१२॥

द्विदोषजन्य—उपर्युक्त दोषों के लक्षणों को द्वन्द्वरूप में संसर्ग होने पर व्यतिकर—प्रभव (द्वन्द्वजन्य) तीन गतियाँ जान-मान लेवे। यथा—वातपित्तजन्य, पित्त-कफजन्य और वातकफ-जन्य ॥१२॥

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि।
तामादिशेत् पवनपित्तकफप्रकोपाद्-
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम् ॥१३॥

सन्निपातजन्य नाड़ी—जिस नाड़ी में दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मुख की शुष्कता, तथा पूर्वोक्त (लक्षण उत्पन्न स्राव का काला झागयुक्त, पीला, श्वेत होना) हों, उसे पित्त-वायु-कफ-जन्य समझना चाहिये। यह नाड़ी कालरात्रि के समान भयानक एवं प्राणनाशक होती है ॥१३॥

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति।
सा फेनिलं मथितमच्छमसृग्विमिश्र-
मुष्णं स्रवेत सहसा सरुजा च नित्यम् ॥१४॥

शल्यजन्य नाड़ी—उदीरित (पूर्वोक्तवर्णित त्वचादि) स्थानों में किसी प्रकार से (दृष्टिमार्ग में न आने से अथवा सूक्ष्म होने के कारण) शल्य के नष्ट होने से वा अनुमार्ग (स्रोतोमार्ग[1]) में घुसने पर शल्य-शीघ्रता से नाड़ीव्रण उत्पन्न करते हैं। इसमें स्राव—झागदार, मथित (बिना जल के मथित तक्र के समान), (मांस के नष्ट होने से) निर्मल, रक्तमिश्रित, उष्ण स्राव बहता है। इनमें अकस्मात् स्राव बहता है, नित्य दर्द रहती है ॥१४॥

यावत्यो गतयो यैश्च कारणैः संभवन्ति हि।
तावन्तः स्तनरोगाः स्युः स्त्रीणां तैरेव हेतुभिः ॥१५॥

स्तन्य-निदान—जितने प्रमाण की गतियाँ हैं, और जिन वात, पित्त, कफ, सन्निपात, अभिघातजन्य कारणों से उत्पन्न

१ कविराज हाराणचन्द्र—'अणुमात्रमुदीरितेषु'—यह पाठ पढ़ते हैं।

होती हैं, उतने ही प्रकार की और उन्हीं कारणों से स्त्रियों में स्तन रोग उत्पन्न होते हैं ॥१५॥

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।
दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥१६॥

कन्या (अप्राप्त गर्भवाली स्त्रियों) के स्तनों में आश्रित धमनियाँ संवृतद्वार (अवरुद्ध मार्ग) होती हैं। इसलिये वातादि दोषों के रुके रहने से इनमें स्तनरोग नहीं होते हैं ॥१६॥

तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ।
स्वभावादेव विवृता जायन्ते संभवन्त्यतः ॥१७॥

इन्हीं स्त्रियों के प्रसवकाल में तथा गर्भवती स्त्रियों में वे धमनियाँ स्वभाव से खुल जाती हैं। इसलिये इनमें स्तनरोग होते हैं ॥१७॥

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः ।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥१८॥

पक्वाहार के कारण उत्पन्न रस का प्रसाद (उत्तम सार-तेज रूप) एवं मधुर भाग—सम्पूर्ण शरीर से जब स्तनों में पहुँचता है, तब इसका नाम स्तन्य (दूध) हो जाता है[१] ॥१८॥

विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१९॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥२०॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥२१॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात् स्मरणादपि ।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥२२॥
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ।

जिस प्रकार से गन्ने के रस में गुड़, दूध में घी व्याप्त होता है, उसी प्रकार से शुक्र एवं स्तन्य शरीर में व्याप्त है। इसलिये शरीर के सूक्ष्मरूप से काटने पर भी शुक्र दिखाई नहीं देता। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से शुक्र की भाँति दूध भी शुक्र के समान है; शरीर के काटने पर भी नहीं मिलता। यही शुक्र—इष्ट युवती के दर्शन से, युवती के स्मरण से, युवती के शब्द सुनने से, युवती के स्पर्श से, तथा मानसिक हर्ष—प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। शुक्र के उत्पन्न होने में मन की प्रसन्नता ही मुख्य कारण है। जिस प्रकार से शुक्र आहार रस से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार स्त्रियों में स्तन्य भी आहार रस से ही उत्पन्न होता है। यह स्तन्य भी पुत्र के स्पर्श से, पुत्र के दर्शन से, उसके स्मरण से, उसके पकड़ने से, शरीर में से शुक्र की भाँति बाहर निकलने (झरने) लगता है। इस दूध के झरने में मुख्य कारण निरन्तर स्नेह है ॥१९-२२॥

तत् कषायं भवेद्वातात् क्षिप्तं च प्लवतेऽम्भसि ॥२३॥
पित्तादम्लं सकटुकं राज्योऽम्भसि च पीतिकाः ।
कफाद्घनं पिच्छिलं च जले चाप्यवसीदति ।
सर्वैर्दुष्टैः सर्वलिङ्गमभिघाताच्च दुष्यति ॥२४॥

यह स्तन्य वायु से दूषित होने पर—कषायरस एवं पानी में गेरने पर तैरता है। पित्त के कारण—अम्ल एवं ईषत्कटु रस, तथा पानी में डालने पर पीली-लाल-नीली रेखायें दीखती हैं। कफ के कारण—घन (सान्द्र), पिच्छिल एवं जल में दूध डूब जाता है। सन्निपातजन्य तथा अभिघात (पतन-पीडनादि) से, दूध में सब दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—क्षीरपायी बालकों की चिकित्सा करते समय—धात्री के दूध का निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिये क्योंकि बालक कोई अन्य वस्तु तो खाता नहीं है ॥२३,२४॥

यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥२५॥

जो दूध पानी में डालने से पानी के साथ मिलकर एक-सा हो जाता है तथा सफेद, स्वाद में मधुर, पीतादिवर्ण रहित है, उस दूध को प्रसन्न (प्रकृतिस्थ निर्दोष) समझना चाहिये ॥२५॥

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
रक्तं मांसं च सन्दूष्य स्तनरोगाय कल्पते ॥२६॥

सम्प्राप्ति—दूध युक्त अथवा बिना दूध की दूध उत्पन्न करने में समर्थ होने पर भी बालक के उपयुक्त समय तक दूध पी चुकने के पश्चात् स्त्री के स्तनों में कुपित दोष पहुँचकर, रक्त एवं मांस को दूषित करके स्तनरोगों को उत्पन्न करते हैं ॥

---

१ (१) आहारजन्य रस सम्पूर्ण शरीर में सिरा एवं रक्तवाहिनियों द्वारा घूमता फिरता है। शरीरस्थ अवयव और ग्रन्थियाँ इस रस में से अपनी आवश्यक वस्तु अपनी शक्ति से उत्पन्न करती हैं। यथा—निकण्ठ कण्ठ ग्रन्थि (Thyroid gland) एकरस (Iodia Thyria) उत्पन्न करती है, और उपवृक्क (Supera-Renal) दूसरा रस (Adernalin) उत्पन्न करता है। इसी प्रकार से अण्डकोश भी दो रस उत्पन्न करते है। एक बाह्य रस—जिसको शुक्र कहते हैं। यह कामेच्छा से उत्पन्न होता है। और दूसरा रस अन्तःस्राव-ओज है। यह शरीर को बढ़ाता है। इसी प्रकार से स्तन्य ग्रन्थियाँ (anamary glands) भी रस में से दूध रूपा स्राव उत्पन्न करती हैं। इस रसस्राव के ऊपर भी काम-क्रोध का प्रभाव पड़ता है। जिससे कि दूध दूषित हो जाता है। इसलिये इन अवस्थाओं में दूध पिलाना उत्तम नहीं।

(२) कविराज रामचन्द्र सेन का कहना है कि स्तन-रोग सदा गर्भ में पुत्र होने पर ही उत्पन्न होता है, पुत्री को अवस्था में नहीं। यह बात प्रायः सत्य प्रतीत हुई है। कुछ थोड़े ही अपवाद हैं।

पञ्चानामपि तेषां तु हित्वा शोणितविद्रधिम् ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥२७॥

वातादिजन्य पाँचों स्तनरोगों के लक्षण, शोणितजन्य विद्रधि को छोड़कर—शेष बाह्य विद्रधि के लक्षणों के समान होते हैं ॥ २७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने विसर्पनाडीस्तनरोग-निदानं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथात ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डानां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शोथ की सामान्यता से विसर्परोग के पीछे ग्रन्थि, अर्बुद, गलगण्ड अपची निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ।

वि० मन्तव्य—ग्रन्थि को "मोगलीफोड़ा" कहते हैं। अपची या गण्डमाला को "गलशीराँ" और गलगण्ड को शिमला की तराई में गिल्लड़ और गोरखपुर आदि में घेंघा कहते हैं। अर्बुद को "रसौली" कहते हैं ॥ १,२ ॥

वातादयो मांसमसृक् च दुष्टाः
संदूष्य मेदश्च कफानुविद्धम् ।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं तु शोफं
कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ ३ ॥

वात, पित्त, कफ, दूषित होकर मांस एवं रक्त तथा कफ संयुक्त मेद को दूषित करके, गोलाकार, उठी हुई, गाँठ के समान, कठोरता युक्त शोथ उत्पन्न करते हैं। इसलिये इसको ग्रन्थि कहते हैं[1] ॥ ३ ॥

आयम्यते व्यथ्यत एति तोदं
प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम् ।
कृष्णोऽमृदुर्वस्तिरिवाततश्च
भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ ४ ॥

वातजन्य ग्रन्थि में—वायु के आकर्षण के कारण लम्बी सी की जाने के सदृश, आरे से काटने के समान, सुई चुभने के समान, खींच कर ढेला आदि लगने के समान, कुठार से काटने के समान तथा परशु से फाड़ने के समान वेदना होती है। ग्रन्थि कृष्णवर्ण, कठोर तथा मूत्राशय के समान तनी होती है। इसके फटने पर स्वच्छ रक्त बहता है[1] ॥ ४ ॥

दन्दह्यते धूप्यति चूष्यते च
पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्-
भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥ ५ ॥

पित्तजन्य ग्रन्थि में—अतिशय दाहयुक्त प्रतीत होती है, अतिशय सन्ताप युक्त अथवा गरम प्रतीत होती है, चूसने के समान वेदना युक्त होती है, अतिशय पकती है, तथा जलती सी प्रतीत होती है, ग्रन्थि का वर्ण लाल या पीला होता है। इसके फूटने पर अति उष्ण रक्त बहता है ॥ ५ ॥

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः
पाषाणवत् संहननोपपन्नः ।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्-
भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ ६ ॥

कफजन्य ग्रन्थि—

शीत, कुछ मलिन रङ्गवाली, अल्प वेदनावाली, अधिक कण्डूवाली, पत्थर की तरह कठिन होती है। शनैः २ बढ़ती है, इसके फूटने पर श्वेत गाढ़ा पूय बहता है ॥ ६ ॥

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः
स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डूः ।
मेदःकृतो गच्छति चावभिन्ने
पिण्याकसर्पिः प्रतिमं तु मेदः ॥ ७ ॥

मेदोग्रन्थि—

शरीर की वृद्धि से बढ़ती है और शरीर क्षय से घटती है, चिकनी, आकार में महान्, मन्द वेदना युक्त अधिक कण्डूवाली होती है। इसके फूटने पर पिण्याक (तिलकल्कखल) और घी के समान मेद बाहर आती है ॥ ७ ॥

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तै-
राक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम् ।
संपीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि
ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥ ८ ॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो
भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।
अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ ९ ॥

शिराजन्यग्रन्थि—

निर्बल पुरुष के अतिशय व्यायाम करने पर तथा अन्य वायुवर्धक कारणों से वायु कुपित होकर शिराजालों को पीड़न करके, संकुचित करके अथवा शुष्क करके गोल, उन्नत (उठी हुई) ग्रन्थि को शीघ्र उत्पन्न करती है। यदि शिराजन्य ग्रन्थि

---

१ भोज ने भी कहा है—
"वायुर्मेदो यदा मांसं सक्षिपेदथवा त्वचि ।
तत्र मेदोभवा ग्रन्थिः श्यावो भवति कण्डुलः ॥"
पाँचवीं—शिराजन्यग्रन्थि (Toumar) है।

१ अपक्वावस्था में ही स्वच्छ (पूय रहित) रक्त निकलता है। पककर फूटने पर पूय-मिश्रित रक्त जाता है।

वेदना युक्त और चल (गतिशील) हो तो कृच्छ्रसाध्य है । और यदि अचल (निश्चल), महान् और वेदना रहित हो, अथवा मर्मस्थानों में उत्पन्न हुई हो तो असाध्य समझनी चाहिये ।८,९।

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धि-
मन्यागलेषूपचितं तु मेदः ।
ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा
स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति ॥ १० ॥
तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रै-
र्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः ।
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं
चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥ ११ ॥
कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः
स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।
मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष
सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ॥ १२ ॥

अपची रोगकी सम्प्राप्ति—हन्वस्थि सन्धि, कक्षा (बाहुमूल) सन्धि, अक्षक (Geavical Bones) सन्धि, बाहुसन्धि (वंक्षणसन्धि भी), मन्या (ग्रीवा के पार्श्व भाग में स्थित दो धमनियाँ), और गले में संचित मेद और कफ ग्रन्थि को उत्पन्न करते हैं । यह ग्रन्थि स्थिर, गोल अथवा आयताकार (लम्बी) स्निग्ध, और मन्द वेदनायुक्त होती है । कोई ग्रन्थि आँवले के फल के समान होती है और अन्य (कोई) मछलियों के अण्डों के जाल के समान (गुच्छाकार एवं छोटी) होती हैं । निरन्तर बढ़ती जाने पर भी इनका रङ्ग त्वचा के समान रहता है । चय (उपचय-संचय) की अधिकता से इनको 'अपची' कहते हैं । इन ग्रन्थियों में कण्डु होती है, मन्द वेदना रहती है । फूटने पर बहती हैं और नष्ट हो जाती हैं । दूसरी नई ग्रन्थियाँ निकल आती हैं । यह रोग मेद और कफ के कारण से उत्पन्न होता है । बहुत वर्षों का पुराना होने पर यह रोग कष्टसाध्य है[1] । (चक्रपाणि ने चरक की टीका में ग्रन्थिविसर्प को 'अपची' कई कहते हैं—ऐसा लिखा है) चरक ॥ १०-१२ ॥

१ इस रोग में वायु-पित्त का भी थोड़ा योग रहता है जैसा कि भोज ने कहा है—

"वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् ।
जंघयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥
कुर्वन्ति ग्रन्थयस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः ।
त्रिदोषादूर्ध्वगो वक्षः कक्षामन्या गलाश्रितः ॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता ।
व्यामिश्रदोषजातस्य कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता ॥
तासां वातोत्तरा रूक्षा वातवेदनयान्विता ।
क्षिप्रपाकसमुत्थाना दाहयुक्ता तु पैत्तिकी ।
गूढा तु वातकठिना कफात्स्निग्धाल्परुक्करा ॥"

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः
संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ १३ ॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं
तमर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

अर्बुद—सम्मूर्च्छित (कुपित हुए) वातादि दोष शरीर के किसी भी भाग में मांस और रक्त को दूषित करके गोल, स्थिर, मन्द वेदना युक्त, महान् एवं विस्तृत मूलवाली, देर में बढ़नेवाली, पाक रहित (न पकनेवाली), मांसोच्छ्रय (मांससंघात युक्त) तथा अगाध (गम्भीर) शोफ उत्पन्न करते हैं । शास्त्रविद् इसको 'अर्बुद' कहते हैं ॥ १३ ॥

वातेन पित्तेन कफेन चापि
रक्तेन मांसेन च मेदसा च ॥ १४ ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि
ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति ।

वायु, पित्त, कफ, रक्त, मांस एवं मेद के कारण छै प्रकार का अर्बुद होता है । इस अर्बुद के लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं ॥ १४ ॥

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु
संपीड्य सङ्कोच्य गतस्त्वपाकम् ॥ १५ ॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं
मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धिम् ।
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्ट-
मसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात् ॥ १६ ॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
पाण्डुर्भवेत् सोऽर्बुदपीडितस्तु ।

अर्बुद के लक्षण—दूषित वातादि दोष एवं रक्त शिराओं को पीड़ित एवं संकुचित करके, पकने पर रक्त की मात्रा बढ़ने से एवं त्वचा के न फटने के कारण मांसपिण्ड को ऊपर की ओर उभार देते हैं । यह शोथ (उभार) मांसांकुरों से व्याप्त होता है और शीघ्र बढ़ता है । इससे निरन्तर दूषित रक्त बहता रहता है । यह रक्तजन्य अर्बुद असाध्य है । रक्त के क्षय के कारण उपद्रवों से (मूर्च्छा आदि रक्तपित्तजन्य उपद्रवों से) पीड़ित तथा अर्बुद रोगी जो पाण्डु वर्ण हो जाये, वह भी असाध्य हैं ॥१५,१६॥

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम् ॥ १७ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण-
मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढ-
मेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ १८ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं

मांसजन्य अर्बुद—मुष्टिप्रहार आदि (मुक्का की चोट आदि) के कारण अङ्गों में चोट लगने से मांस दूषित होकर शोफ उत्पन्न करता है। यह शोफ वेदना रहित, स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, पाक रहित, पत्थर के समान कठोर एवं निश्चल (न हिलनेवाला) होता है। मांसपरायण (अतिशय-मांसभक्षी) पुरुष के मांस के अति दूषित होने से यह अर्बुद (स्फिक्, कक्षा, जंघा आदि मांसबहुल स्थानों में) विशेषकर होता है। यह मांसार्बुद असाध्य है ॥१७,१८॥

साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्त।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं
स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥१९॥
यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२०॥

साध्य अर्बुदों में भी निम्नलिखित अर्बुदों को चिकित्सा कर्म में छोड़ देना चाहिये। यथा—जिन अर्बुदों में से रक्त का स्राव होता हो, जो अर्बुद मर्म या स्रोतस् स्थानों में उत्पन्न हुआ हो, जो अचल हो, प्रथम अर्बुद के होने पर जो अर्बुद फिर-दूसरा उत्पन्न होता है उसको 'अध्यर्बुद' जानना चाहिये। जो अर्बुद एक साथ द्वन्द्व (जोड़िया) रूपमें अथवा क्रम से (एक के पीछे दूसरा) उत्पन्न होते हैं, उनको द्विरर्बुद कहते हैं—ये द्विरर्बुद (एवं द्विदोषजन्य भी) तथा अध्यर्बुद असाध्य हैं॥

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्-
मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां
सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥२१॥

न पकने का कारण—अर्बुदों में कफ और मेद की अधिकता विशेष रूप में रहती है, इसलिये, यथा वातादि दोषों के स्थिर (मांसोन्नति के कारण चिरकाल तक रहने से कठोर) होने से एवं वातादि दोषों के ग्रन्थि रूप में (निश्चल) बन जाने से, सब प्रकार के अर्बुद स्वभाव से ही नहीं पकते हैं।

वि० मन्तव्य—सब अर्बुद पकते नहीं परन्तु रुधिरात्मक अर्बुद में से स्राव अवश्य निकलता है ॥२१॥

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ
मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिंगैः
समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥२२॥

गलगण्डसम्प्राप्ति—अतिशय रूप में प्रवृद्ध वायु और कफ तथा मेद-मन्या (ग्रीवा के पार्श्व भाग की धमनियों) का आश्रय करके वातकफ के (अपने अपने) लक्षणों से युक्त, क्रमशः (शनैः-वृद्धिशील) गण्डरोग को उत्पन्न करते हैं, इसको गलगण्ड कहते हैं। (पित्तजन्य गलगण्ड नहीं होता)।

गलगण्ड प्रायः—पर्वतीय प्रदेशों तथा तराइयों में होता है जहाँ कूप नहीं होते केवल कुल्याओं का जल पीना पड़ता है। इससे रोगी प्रायः आलसी एवं जड़ होते हैं ॥२२॥

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः
कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
मेदोन्वितश्चोपचितश्च कालाद्-
भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च ॥२३॥

वातजन्य गलगण्ड—तोदान्वित (सूई चुभने की वेदना युक्त), कृष्ण-शिराओं से व्याप्त, कृष्ण अथवा लालवर्ण होता है। यदि कालवश से संचित मेद के साथ संयुक्त हो जाता है तो अतिशय स्निग्ध एवं अरुज (वेदना रहित) होता है ॥२३॥

पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको
यदृच्छया पाकमियात् कदाचित्।
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ॥२४॥

यह अर्बुद कठोरता युक्त, देर में वर्धनशील, देर में पकनेवाला, भाग्यवश कभी पकता है। रोगी के मुख का स्वाद बदल जाता है, तालु और गला सूख जाता है ॥२४॥

स्थिरः सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डूः
शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु।
चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च
प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ॥२५॥
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः।

कफजन्य गलगण्ड—स्थिर, त्वचा के समान वर्ण, मन्द वेदनाशील, कण्डूबहुल, शीतल, एवं महान् होता है। बहुत देर में बढ़ता है और कभी भाग्य से बहुत देर में पकता है तब थोड़ी वेदना होती है। रोगी का मुख मीठा रहता है, तालु और गला कफ से भरा रहता है ॥५५॥

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो
मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डूः ॥२६॥
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो
देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-
र्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥२७॥

मेदजन्य गलगण्ड—स्निग्ध, मृदु (कोमल), पाण्डुवर्ण, अनिष्ट गन्ध (दुर्गन्ध) युक्त, वेदना रहित, कण्डू-बहुल होता है। अलाबु (घिया कद्दू) के समान नीचे लटकता है, मूल-अल्प (छोटा) होता है, शरीर की वृद्धि से बढ़ता है और शरीर के

क्षय से घटता है। रोगी का मुख स्निग्ध रहता है, सर्वदा या बोलने पर गले से शब्द आता रहता है।

वि० मन्तव्य--मेदोज गलगण्ड ही अधिक देखा जाता है॥

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं
संवत्सरातीतमरोचकार्तम्।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डिनं तु
भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत्तु ॥२८॥

असाध्यता—कठिनाई से श्वास लेनेवाला रोगी हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल (थोथला) हो, एक साल पुराना हो गया हो, अरोचक रोग से पीड़ित, शरीर से क्षीण तथा भिन्नस्वर (शब्द स्वर टूटे हुए) रोगी को असाध्य समझना चाहिये ॥२८॥

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥२९॥

गलगण्ड का स्वरूप—जिस रोगी के गले में महान् अथवा ह्रस्व सूजन, अण्डकोष के समान लटकने लगती है, उसको गलगण्ड कहते हैं[1]॥२९॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने गलगण्डगण्डमाला-
पच्यर्बुदनिदानं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदानां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

शोथ की सामान्यता से अर्बुद आदि निदान के पीछे वृद्धि, उपदंश, श्लीपद निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

वातपित्तश्लेष्मशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ताः सप्त वृद्धयो भवन्ति। तासां मूत्रान्त्रनिमित्ते वृद्धी वातसमुत्थे, केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतमः ॥३॥

वृद्धि रोग सात प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, मेदोजन्य, मूत्रजन्य और अन्त्रजन्य, (द्वन्द्वजन्य वृद्धिरोग नहीं होता) इनमें मूत्रजन्य तथा अन्त्रजन्य वृद्धि की उत्पत्ति का कारण वायु है, वायु के कारण वृद्धि होती है। उत्पत्ति का प्रधान कारण मूत्र या अंत्र इनमें से कोई एक होता है।

वि० मन्तव्य—मूत्र वृद्धि में मूत्र का सा द्रव भर जाता है जैसे जलोदर में ॥३॥

अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशवाहिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोषयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते ॥४॥

कोई एक दोष नीचे की ओर (नाभिसे नीचे) कुपित होकर अण्डकोषवाहिनी धमनी (Spinal-Cord), में पहुँचकर फलकोषों में वृद्धि (enlargement) उत्पन्न करता है, इसको 'वृद्धिरोग' कहते हैं। चरक में कहा है "ब्रध्नोऽनिलाद्यैः वृषणे स्वलिंगैः अन्त्रं निरेत्य प्रविशेन्मृदुश्च। मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत्, स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम्।" ॥४॥

तासां भविष्यतीनां पूर्वरूपाणि-बस्तिकटीमुष्कमेढ्रेषु वेदना मारुतनिग्रहः फलकोशशोफश्चेति ॥५॥

पूर्वरूप—वृद्धिरोग के पूर्वरूप—बस्ति (मूत्राशय) में वेदना, कटिशूल, मुष्क (अण्ड) में वेदना, शिश्न में वेदना, वायु का अवरोध—एवं फलकोश में सूजन (orchitis) होती है ॥५॥

तत्रानिलपरिपूर्णां बस्तिमिवाततां परुषामनिमित्तानिलरुजां वातवृद्धिमाचक्षते, पक्वोदुम्बरसङ्काशां ज्वरदाहोष्मवतीं चाशुसमुत्थानपाकां पित्तवृद्धिं; कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डुमतीं श्लेष्मवृद्धिं, कृष्णस्फोटावृतां पित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिं, मृदुस्निग्धां कण्डुमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकाशां मेदोवृद्धिं, मूत्रसंधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति, मूत्रकृच्छ्रवेदनां वृषणयोः श्वयथुं कोशयोश्चापादयति, तां मूत्रवृद्धिं विद्यात्, भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरभिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्यैतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो बस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥६॥

लक्षण—वातजन्य वृद्धि वायु से भरी बस्ति के समान बिना कारण के वेदनाशील होती है। पित्तवृद्धि पके हुए गूलर फल के समान, ज्वर-दाह एवं उष्णिमा युक्त, शीघ्र उठने एवं शीघ्र पकनेवाली होती है। कफ वृद्धि—कठिन, अल्पवेदना युक्त, शीत-स्पर्श, कण्डूमान् होती है। रक्तजन्य वृद्धि-काले स्फोटों से व्याप्त पित्तजन्य वृद्धि के समान लक्षणों से युक्त होती है। मेदजन्य वृद्धि मृदु, स्निग्ध, कण्डू युक्त, मन्दवेदना शील, पक्व ताल फल के समान होती है। जिस मनुष्य को मूत्र रोकने की आदत होती है, उसको मूत्रवृद्धि रोग होता है। चलते समय यह मूत्रवृद्धि—जल से भरी मशक के समान हिलती है, मूत्रप्रवाहण में कष्ट, वृषणों में वेदना तथा अण्डकोषों में सूजन अ।

---

[1] यथा—
मेदः कफात् शोणितसंचयोत्थो
गण्डस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः
स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः
दीप्तानिलेष्वल्पबलान्विते च ॥
साध्या स्मृता पीनसपार्श्वशूल-
कासज्वरच्छर्दियुता त्वसाध्या ॥

जाती है। इसको मूत्रवृद्धि कहते हैं। अंत्रवृद्धि—भार को उठाने से, बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करने से, वृक्ष से गिरने पर—अथवा अन्य इस प्रकार के परिश्रमजन्य कारणों से वायु स्वस्थान में अतिशय बढ़कर एवं कुपित होकर स्थूलांत्र के एक इतर भाग को टेढ़ा (दुहेरा) करके वंक्षणसन्धि में नीचे की ओर ले जाकर ग्रन्थि (गांठ) रूप में रहती है। चिकित्सा न करने पर कुछ समय के पीछे फलकोशों (scrotam) में घुसकर मुष्कशोथ को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में शोफ-आध्मान (फूली), वस्ति के समान विस्तृत और लम्बी होती है। दबाने पर आवाज के साथ ऊपर को चढ़ जाती है (सूजन हट जाती है)। छोड़ने पर (शब्द के साथ) नीचे आकर फुला देती है। इस अंत्रवृद्धि को (Hernia) असाध्य (भेषज रूप से) कहते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—अन्त्रवृद्धि—इसको "आँत उतरना" आँत गिरना कहते हैं। जहाँ क्षुद्रान्त्र का अन्त और बृहदन्त्र का प्रारम्भ होता है वहाँ एक सींग सा परन्तु अत्यन्त मृदु, ३-४ अंगुल लम्बा, अंगूठा सा मोटा अवयव होता है उसे "उपान्त्र" कहते हैं यह अपने स्थान से खिसक कर कुल्ले में आ जाता है—अड़ जाता है, गाँठ सी प्रतीत होती है और कभी २ उससे भी नीचे आकर अण्डकोश में आ जाता है और दबाने से ऊपर को चला जाता है। यह लम्बा शोफ प्रतीत होता है, शोफ नहीं होता उपान्त्र ही गुल्ला सा रहता है इसको खिसकने से रोकने के लिये कुण्डलिका का या पेटी का प्रयोग किया जाता है, शस्त्र चिकित्सा से भी खिसकना रुक जाता है ॥६॥

तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा तथाऽतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां सङ्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्षसलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशनविषशूकनिपातनाद्बन्धनाद्धस्ताभिघाताच्चतुष्पदीगमनादचौक्षसलिलप्रक्षालनादवपीडनाच्छुक्रवेगविधारणान्मैथुनान्ते वाऽप्रक्षालनादिभिर्मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते ॥७॥

अतिमैथुन के सेवन से, अतिब्रह्मचारिणी (मैथुन से अतिनिवृत्त होने के कारण योनि के संकुचित एवं कर्कश हो जाने से), कदाचित् ही मैथुन करनेवाली अर्थात् देर से जिसने मैथुन छोड़ रक्खा है, रजस्वला (ऋतुमती), दीर्घ रोमवाली, कर्कश रोमवाली, संकीर्ण (घने) रोमवाली, निगूढ़ (अन्तःप्रविष्ट होने से छिपे) रोमवाली, अल्पद्वार (तंग योनि मुख) वाली, महाद्वारवती, अप्रिया (प्रेम न रखनेवाली), अकामा (मैथुनेच्छा न करनेवाली-जांघों को संकुचित करनेवाली) अचौक्ष (अपवित्र) सलिल से प्रक्षालित योनि (योनि से निकलनेवाले पानी से तर योनि), अप्रक्षालित (मलिन) योनि, योनिरोग युक्त, स्वभाव (प्रकृति) से ही दुष्ट योनि (वातादि से दूषित योनि), वियोनि (पशु आदि की योनि को अथवा पारुष्यादि दोषों से दूषित-कर्कश आदि के सेवन से) अथवा स्त्री के अति सेवन से, तथा नख, दाँत, विष, शूक (जलशूक घोंघा) के लिंग पर गिरने या लगने से, अथवा जलशूक के बाँधने से, या हाथ से चोट लगने पर, चतुष्पदी (गाय-भैंस) की योनि में मैथुन करने से, अपवित्र जल से लिंग को धोने के कारण, अवपीड़न (लिंग को दबाने से), शुक्र मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से, मैथुन के अन्त में शिश्न को न धोने आदि कारणों से कुपित हुए वातादि दोष शिश्न में आकर क्षतयुक्त अथवा क्षतरहित सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को उपदंश कहते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कीटाणुवाद या कृमिवाद—भले ही सिफलिस को पृथक् माने परन्तु—उपदंश के उक्त कारण एवं उक्त लक्षण तथा चिकित्सा विधान एवं चिकित्सा सफलता को देखकर पृथक् मानना उचित नहीं प्रतीत होता। उक्त कृमि रक्तज कृमि अवश्य माने जा सकते हैं जो कुष्ठैककर्मा कहे हैं। योनिरोगोपसृष्टा—उपदंश रोग से उपसृष्टा—उपद्रुता—पीडिता। योनि—भग का नाम है और भग मैथुनोपयोगी अवयव है जो नर नारी में समान रूप से होता है केवल उसके आकार में भेद है और यह भेद भी अस्थायी है-परिवर्त्तन शील है, आयुर्वेद में लिंग परिवर्त्तनार्थ पुंसवन का विधान है और वेद में पुंसवन संस्कार का विधान है और आज का शल्य चिकित्सक लिंग परिवर्त्तन में सफल भी हो गया है और पुराणों में इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है अतः

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी—'स्थूलांत्रस्येतरस्य चैकदेशं' यह पाठ पढ़ते हैं। यहाँ पर इतर शब्द से क्षुद्रांत्र का ग्रहण है।

१ आजकल जिस रोग को सिफलिस कहा जाता है, उसका कारण एक कृमि (Spreochita Paladia) है। यह एक संक्रामक रोग है। जो कि स्पर्श से पहुँचता है। पुश्त दरपुश्त उतरता है। इसकी तीन अवस्थायें हैं।

(२) अन्य लक्षण—

"मेढ्रसन्धौ व्रणा केचित् केचित् सर्वाश्रयाः स्मृताः।
कुल्याकृतयः केचित् केचित् मुद्गदलोपमाः।
रुग्दाहपरीताश्च तृष्णामोहसमन्विताः।
शीघ्रं केचित् विसर्पन्ति शनैः केचित्तथापरे॥
स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः॥"[2]

उपदंश पीड़ित नर का उपसेवन करनेवाली नारी के उस अवयव में यह रोग हो सकता है, यह लिखना अनुचित नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित भी है। पाठक ठण्डे दिल से विचार करें। इसका विशद वर्णन च० चि० अ० ३० में ध्वजभंग नाम से किया गया है और भगवान् पुनर्वसु ने इस रोग को योनि व्यापद् प्रकरण में ही लिखा भी है। क्षतेऽक्षते वा–मैथुन करने में अथवा अन्य नख दन्तपात आदि से क्षत–खरोश—घाव होने पर अथवा क्षत के बिना ही फुनसी के रूप में शोथ हो जाता है। एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्–यही शोथ ५–७ दिन में व्रण का रूप बना लेता है ॥७॥

स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति।

यह उपदंश रोग पाँच प्रकार का है। यथा—तीन दोषों से पृथग्-वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य, तीनों के सन्निपात से एक और पाँचवाँ रक्तजन्य ॥८॥

तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्तब्धमेढ्रता परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः, पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पक्वोदुम्बरसङ्काशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाश्च; श्लैष्मिके श्वयथुः कण्डूमान् कठिनः स्निग्धः श्लेष्मवेदनाश्च; रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसृक्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं ज्वरदाहौ शोषश्च; याप्यश्चैव कदाचित्; सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनमवदरणं च शेफसः कृमिप्रादुर्भावो मरणं चेति ॥९॥

इनमें—वातजन्य उपदंश में—कठोरता, त्वचा का फटना, शिश्न में जड़ता (अकड़ाहट) सूजन में काठिन्य और नाना प्रकार की वातजन्य वेदनायें होती हैं। पित्तजन्य उपदंश में—ज्वर, पके हुए गूलर के समान वर्ण, तीव्र जलन, जल्दी से पकना और पित्तजन्य वेदनायें होती हैं। कफजन्य उपदंश से—सूजन, कण्डू, काठिन्य, स्निग्धता और कफजन्य वेदनायें होती हैं। रक्तजन्य उपदंश में—काले छालों की उत्पत्ति, अतिशय रक्तस्राव, पित्तजन्य उपदंश के लक्षण, अतिशय ज्वर, दाह और शोष होता है। यह उपदंश कभी २ याप्य है। सन्निपातजन्य उपदंश में—सम्पूर्ण दोषों के लक्षणों का स्पष्ट होना, शिश्न का विदीर्ण होना, शिश्न या शरीर में कृमियों का उत्पन्न होना और मृत्यु होती है ॥९॥

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं श्लीपदमित्याचक्षते। तत्त्रिविधं वातपित्तकफनिमित्तमिति ॥१०॥

श्लीपद (Elephantiasis)—प्रकुपित वात, पित्त, कफदोष नीचे की ओर सरककर वंक्षण, ऊरु, जानु और जंघा में स्थान करके कुछ समय पीछे पाँवों में उतरकर धीरे-धीरे सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को श्लीपद कहते हैं।

यह रोग तीन प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य।

वि० मन्तव्य—श्लीपद को फीलपाँव–हाथी पाँव कहते हैं। जब इसका वेग होता है तब शीत ज्वर भी हो जाता है ॥१०॥

तत्र वातजं खरं कृष्णं परुषमनिमित्तानिलरुजं परिस्फुटति च बहुशः, पित्तजं तु पीतावभासमीषन्मृदु ज्वरदाहप्रायं च; श्लेष्मजं तु श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितं च ॥११॥

वातजन्य श्लीपद—खरदरा, कृष्णवर्ण, कठोर, बिना कारण के ही वातजन्य वेदना युक्त तथा बहुत से स्थानों पर फूट पड़ता है (त्वचा फट जाती है)। पित्तजन्य श्लीपद–पीले रङ्ग की झांईवाला, थोड़ा कोमल, ज्वर एवं दाह युक्त होता है। श्लेष्मजन्य श्लीपद – श्वेत स्निग्ध (चिकना), चमक युक्त, मन्दवेदनाशील, गुरु, महाग्रन्थि बहुत बड़ी ग्रन्थि से युक्त तथा कांटों से व्याप्त होता है ॥११॥

तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकवज्जातं प्रस्रुतमिति वर्जनीयानि ॥१२॥

इनमें एक साल पुराना, अतिमहान्, वल्मीक के समान अनेक शिखराकार फैला हुआ श्लीपद रोग असाध्य है ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥१३॥

कहा भी है--उपर्युक्त तीनों श्लीपद कफ की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि गुरुत्व और महत्त्व ये दोनों बातें कफ के बिना उत्पन्न नहीं होतीं ॥१३॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥१४॥

प्रायः करके श्लीपद रोग उन देशों में होता है, जो कि सब ऋतुओं में शीतल रहते हैं (समुद्र के किनारे के) तथा जहाँ पर पुराने पानी का व्यवहार अधिकतया होता है[1] ॥१४॥

पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम्।
कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥१५॥

---

१ श्लीपद रोग का कारण आजकल 'फाईलेरिया' नामक कृमि माना जाता है। यह रोग मदुरा में अधिक होता है। इसलिये इसको Madura foot भी कहते हैं। यह रोग प्रायः वहीं होता है, जहाँ पानी खड़ा रहता है, ऐसा माना जाता है। केवल यही कारण हो, ऐसा नहीं दीखता, साथ में वहाँ ठण्डक भी रहनी चाहिये इस रोग का कृमि प्रायः रात में रक्त के अन्दर मिलता

मनुष्यों के (स्त्रियों के भी) पाँव के समान हाथों में श्लीपद रोग प्रायः होता है। कई आचार्यों का कहना है कि कान, आँख, नासिका, ओष्ठ (मुख एवं योनि दोनों) में भी होती है॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपद निदानं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातः क्षुद्ररोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

वृद्धि, उपदंश आदि रोगों को कहकर इसके आगे क्षुद्र-रोगों के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था[१] ॥१,२॥

समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति। तद्यथा-अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीकम्, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभः, जालगर्दभः, कक्षा, विस्फोटकः, अग्निरोहिणी, चिप्पं,कुनखः, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुदं, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदरम्, अलसेन्द्रलुप्तौ, दारुणकः; अरुषिका, पलितं, मसूरिका, यौवनपिडका, पद्मिनीकण्टकः, जतुमणिः, मशकः, चर्मकीलः, तिलकालकः, न्यच्छं, व्यङ्गः, परिवर्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकशः, संनिरुद्धगुदः, अहिपूतनं, वृषणकच्छुः, गुदभ्रंशश्चेति ॥३॥

संक्षेप में चवालिस क्षुद्ररोग हैं, यथा—अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीक, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभ, जालगर्दभ, कक्षा, विस्फोटक, अग्निरोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुद, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदर, अलस, इन्द्रलुप्त, दारुणक, अरूंषिका, पलित, मसूरिका, यौवनपिड़का, पद्मिनीकण्टक, जतुमणि, मशक, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, परिवर्त्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अहिपूतन, वृषणकच्छू और गुदभ्रंश ये चवालिस रोग हैं ॥३॥

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ॥४॥

१ अजगल्लिका—स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, ग्रथित, वेदना रहित एवं मूंग के समान होती है। यह रोग कफ एवं वायुजन्य है, प्रायः बालकों में (कभी कभी बड़ों में भी) होता है ॥४॥

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥५॥

२ यवप्रख्या—जौ के समान आकारवाली, अतिकठिन, ग्रथित, मांस से आश्रित पिड़का को 'यवप्रख्या' कहते हैं। यह कफ-वातजन्य है ॥५॥

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥६॥

३ अन्धालजी—कठिन, मुख रहित या अल्पमुखी गोल ऊपर उठी तथा अल्पपूययुक्त पिड़का को 'अन्धालजी' कहते हैं। यह कफ-वातजन्य है[१] ॥६॥

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥७॥

४ विवृता—खुले मुखवाली, महान् दाहयुक्त, पके गूलर फल के समान, गोल पिड़का को 'विवृता' कहते हैं। यह पित्त-जन्य है ॥७॥

ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोन्नताः।
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥८॥

५ कच्छपिका—कच्छ (बगल) में पाँच वा छै कठिन गांठें कच्छूए की पीठ के समान निकल आती हैं, उनको 'कच्छपिका' कहते हैं। यह रोग कफ और वायु से होता है ॥८॥

पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि।
ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते ॥९॥

है। रात के बारह बजे एक बूंद रक्त में ३०० से ६०० तक इनकी संख्या मिलती है। दिन के समय यह कृमि फेफड़े, वृक्क आदि में पहुंच जाता है। इस रोग के कारण रोगी को ज्वर आता है और वंक्षण में दर्द, शोथ, ग्रन्थि में वेदना होती है। पैर में सूजन तथा भारीपन अनुभव होता है। यह भारीपन शिला के भार के समान होता है—जैसा कि संग्रह में कहा है—"शिलावत् पदं श्लीपदम्। शनैः शनैः घनं शोफं श्लीपदं तत् प्रचक्षते।" "यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्त्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण। तच्छ्लीपदं स्यात्।" "श्लीपदं जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं श्रमात्॥"

१ 'क्षुद्ररोग' इस नाम का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कविराज हाराणचन्द्र जी का कहना है कि—नामग्रहण मात्र से ही रोग स्पष्ट हो जाता है, इसलिये इनको क्षुद्ररोग कहते हैं। दूसरे आचार्य 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से इनमें पढ़े महारोगों का भी इन क्षुद्ररोगों में अन्तर्भाव करते हैं। अथवा पूर्वाचार्यों ने इन रोगों की यह संज्ञा की है।

१ यह रोग स्नायुजन्य है। यथा—
'श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिड़कां परिमण्डलाम्।
दुष्टौ जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम्॥
आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्धालजीन्तु ताम्॥

तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्मुखैर्वृतः ।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥१०॥

६ वल्मीक—हाथ-पाँव के तलुओं में, सन्धि में, ग्रीवा में जत्रु (ग्रीवा अंससन्धि) के ऊपर के भाग में जो ग्रन्थि वल्मीक के समान धीरे धीरे बढ़ती है, उस ग्रन्थि में चुभने की सी वेदना, गीलापन, जलन, तथा कण्डुशील व्रणों से युक्तता रहती है। यह रोग कफ, पित्त, वायु से उत्पन्न होता है ॥९-१०॥

पद्मपुष्करवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।
इन्द्रवृद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥११॥

७ इन्द्रवृद्धा—पद्मबीजकोष के समान बीच में छोटी-छोटी पिड़काओं से घिरी होती है। यह इन्द्रवृद्धा पिड़का वात-पित्त-जन्य है ॥११॥

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥

गर्दभिका—पिडकाओं से घिरी हुई, लाल, ऊपर की ओर उठी हुई, गोल, पीड़ा से युक्त मण्डल को गर्दभिका जानना चाहिए। यह पिडका वातपित्तजन्य होती है।

कर्णौ परिसमन्ताद्वापृष्ठे वा पिडकोग्ररुक् ।
शालूकवत्पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् ॥१२॥

८ पनसिका—कानों के चारों ओर अथवा कान के पीछे (कान के अन्दर भी) शालूक कुमुदादि की जड़ के समान उठी हुई एवं अतिवेदनाशील पिड़का को पनसिका कहते हैं, यह कफवातजन्य है ॥१२॥

हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम् ।
पाषाणगर्दभं विद्याद्बलासपवनात्मकम् ॥१३॥

९ पाषाणगर्दभ—(Munips)—हनुसन्धि में (ग्रन्थियों-लालाग्रन्थियों के कारण) उत्पन्न, मन्द वेदनायुक्त, स्थिर सूजन को 'पाषाणगर्दभ' कहते हैं, यह रोग कफ-वातजन्य है ॥१३॥

विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः ।
अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥१४॥

१० जालगर्दभ—विसर्प के समान जो सूजन फैले, सूजन में दाह तथा ज्वर हो, शोथ तनु (उत्तानसूक्ष्म हो), सूजन पके नहीं, उसे 'जालगर्दभ' कहते हैं, यह रोग पित्तजन्य है[1] ॥१४॥

पिडिकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥१५॥

इरिवेल्लिका—जो पिडिका गोल, अतिपीडा और ज्वरकारक तीनों दोषोंवाली तथा तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ) के लक्षणों से युक्त शिर में होवे उसे इरिवेल्लिका समझना चाहिए ॥१५॥

बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥१६॥

११ कक्षा (Boil)—बाहु-पार्श्व अंस और कक्षा में काले रङ्ग के छाले उत्पन्न हो जायें, इन छालों में वेदना हो, इनको (कक्षा) कहते हैं। यह रोग पित्त के प्रकोप से होता है ॥१६॥

एकामेवंविधां दृष्ट्वा पिटिकां स्फोटसन्निभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धनामां प्रचक्षते ॥१७॥

१ गन्धनामा—इसी प्रकार की, स्फोट के तुल्य, चर्मपटल में आश्रित करके पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई पिडिका को गन्धनामा या गन्धमाला कहते हैं ॥१७॥

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वराः पित्तरक्ततः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति॥१८॥

२ विस्फोटक में—अग्नि से जलने की भाँति उत्पन्न छाले (पानीयुक्त) सम्पूर्ण शरीर में अथवा शरीर के किसी एक भाग में उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें ज्वर हो जाता है यह रोग रक्त-पित्तजन्य है ॥१८॥

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारु (र) णाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥१९॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः ॥२०॥

३ अग्निरोहिणी—कक्षा सन्धि (वंक्षण-गलसन्धि में भी) में मांस के कारण कठिन या मांस के दारक–फाड़नेवाले जो छाले उत्पन्न होते हैं, तथा इन छालों के कारण तीव्र अन्तर्दाह, तीव्र अन्तर्ज्वर रोगी को हो, छालों में जलती अग्नि के समान जलन रहती हो, इसको 'अग्निराहिणी, कहते हैं। यह रोग वातजन्य होने से सात दिन में, पित्ताधिक होने पर बारह दिन में और कफाधिक होने पर पन्द्रह दिन में रोगी को मार देता है। सन्निपातजन्य रोग असाध्य है[1] ॥१९,२०॥

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम् ।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥२१॥
तदेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि ।

४ चिप्प—और वायु नख के मांस का आश्रय लेकर

---

१ इस रोग पित्तमें की प्रधानता रहती है, इसलिये थोड़ा पकता है यह तो मानना ही पड़ेगा। जैसा कि भोज ने कहा है—

"पित्तोत्करास्त्रयो दोषाः जनयन्ति त्वगाश्रिताः ।
विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम् ॥"

---

१ अन्य स्थानों में—मांस को फाड़नेवाले छाले उत्पन्न होते हैं—ऐसा कथन है। यथा—

"पित्तोत्तरा नृणां दोषा प्रदीप्तांगारसन्निभाः ।
कक्षाभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान् ॥
मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् ।
पक्षाद्दशाहादर्वाक् वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी ॥"

वेदना, दाह एवं पाक को उत्पन्न करते हैं। इस रोग को 'चिप्प' कहते हैं। इसी को क्षतरोग या उपनख भी कहते हैं ॥२१॥

अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः ॥२२॥
भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ।

१५ कुनख—चोट के लगने से जो नख रूक्ष, काला और कर्कश हो जाता है, उसको 'कुनख' अथवा 'कुलीन' कहते हैं ॥

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ॥२३॥
कफादन्तःप्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक् ।

१६ अनुशयी—गम्भीर (अनुत्तान—गहरी), अल्पशोथ युक्त त्वचा के समानवर्ण, ऊपरी (शिरोभाग में) स्थित, पिड़का को 'अनुशयी' कहते हैं। यह कफ के कारण अन्दर से पकती है, इसीलिये गम्भीर है ॥२३॥

विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ॥२४॥
रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम् ।

१७ विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल, कक्षा—वंक्षण सन्धियों में उत्पन्न, (लालवर्ण) पिड़िका को 'विदारिका' कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य है, इसमें वातादि सब दोषों के लक्षण सम्मिलित रहते हैं ॥२४॥

प्राप्य मांससिरास्नायु श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ॥२५॥
ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम् ।
स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ॥२६॥
मांसं विशोष्यग्रन्थिस्तां शर्करां जनयेत् पुनः ।
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ॥२७॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्करार्बुदम् ।

१८ शर्कराऽर्बुद—मांस, शिरा, स्नायु तथा मेद में कफ और वायु पहुँचकर ग्रंथि (गाँठ) उत्पन्न करते हैं। इस गाँठ के फूटने पर मधु, घी और वसा के समान नाना रङ्ग का स्राव बहने लगता है। इस अवस्था में उस स्थान की वायु कुपित होकर मांस को शुष्क करके ग्रथित (दानेदार) शर्करा को उत्पन्न करती है। इसके कारण शिराओं से दुर्गन्ध युक्त, क्लिन्न (आर्द्र-पूति), नाना रंग का रक्त सहसा बहने लगता है। इसको 'शर्करार्बुद' कहते हैं ॥२५-२७॥

पामाविचर्च्यौ कुष्ठेषु रकसा च प्रकीर्तिता ॥२८॥

१९-२०-२१ पामा विचर्चिका और रकसा का वर्णन कुष्ठ रोग में कर चुके हैं ॥२८॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।
पादयोः कुरुते दारीं सरुजां तलसंश्रितः ॥२९॥

२२ विपादिका—पाददारिका परिक्रमणशील (सदा नंगे पाँव से मुसाफरी करनेवाले) व्यक्ति के अत्यन्त रूक्ष बने पैरों में वायु पाददारिका (दारण-बिवाई) रोग उत्पन्न करती है। इसके एड़ी में होने पर पीड़ा होती है ॥२९॥

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम् ॥३०॥
सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा ।
कोलमात्रः सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु सः ॥३१॥

२३ कदर—(Cornea) शर्करा (कंकड़ आदि से पाँव के पीड़ित होने पर या काँटे आदि से पाँव में क्षत होने पर वातादि दोष मेद-रक्त के साथ मिलकर कील (शंकु) के समान एवं कठिन, बेर के आकार की ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं। यह ग्रन्थि पाँव के नीची मध्यम या उन्नत होती है। इसमें वेदना और स्राव होते हैं। इसको 'कदर' कहते हैं ॥३०,३१॥

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विनिर्दिशेत् ॥३२॥

२४ अलस—पाँव की अंगुलियों में आर्द्रता, कण्डू, दाह और पीड़ा रहने पर दूषित कदम (कीचड़) के स्पर्श से (कफ के रक्त के साथ मिलने पर) 'अलस' रोग उत्पन्न होता है ॥३२॥

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥३३॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते ॥३४॥

२५ इन्द्रलुप्त—रोमकूपों में पहुँच पित्त वायु के साथ मूर्च्छित (दूषित) होकर, रोमों को गिरा देता है। इसके अनन्तर कफ रक्त से मिलकर रोमकूपों को रोक लेता है। इसलिये दूसरे नये रोमकूप उत्पन्न नहीं होते। इस रोग को इन्द्रलुप्त खालित्य या 'रुह्या' कहते हैं[1]। (इन्द्रलुप्त श्मश्रु में होता है, खालित्य शिर में और रुह्या सारे शरीर में होती है) ॥३३,३४॥

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥३५॥

२६ दारुणक—कफ-वायु के प्रकोप से कठिन कण्डुरा (कण्डुयुक्त) एवं रूक्ष केश भूमि (शिर की त्वचा) विशेषरूप में फटती है। इसको 'दारुणक' कहते हैं। (इस रोग में पित्त रक्त का भी अनुबन्ध रहता है ॥३५॥

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि ।
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥३६॥

२७ अरुंषिका—मनुष्यों के शिर में—कफ-रक्त और कृमियों के प्रकोप से अनेक मुखवाले, तथा अतिस्राव युक्त अरुष् (फुन्सियाँ) उत्पन्न हो जाते हैं। इनको अरुंषिका कहते हैं ॥३६॥

१—यह रोग स्त्रियों में नहीं होता। क्योंकि—
"अत्यन्तसुकुमारांग्यो रजो दुष्टं स्रवन्ति च ।
अव्यायामरता यस्माद् तस्मान्न खलितिः स्त्रियाम् ।

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३७॥

२८ पलित—क्रोध, शोक और परिश्रम के कारण शरीर की गरमी शिर में पहुँचकर वहाँ पर पित्त के साथ मिलकर बालों को पकाती है । इसलिये 'पलित' (समय से पूर्व बालों का श्वेत होना) रोग होता है ॥३७॥

दाहज्वररुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः ।
गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः ॥३८॥

२९ मसूरिका—इस रोग में शरीर में तथा मुख के अन्दर दाह-ज्वर उत्पन्न करनेवाले, पीड़ाकारक-ताम्र वर्ण के तथा पीले छाले उत्पन्न होते हैं[1] ॥३८॥

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः ।
जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः ॥३९॥

३० मुखदूषिका—(Acne)—यौवन पिड़का सिम्बल के काँटों के समान—छोटी छोटी पिड़कायें युवा पुरुषों के मुख पर कफ, वायु, रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हो जाती हैं, इनसे चेहरे का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है ॥३९॥

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥४०॥

३१ पद्मिनीकण्टक—पद्मिनी के काँटों के समान काँटों से भरा गोलाकार, कण्डू-युक्त, पाण्डुवर्ण मण्डल को 'पद्मिनीकण्टक' कहते हैं, यह रोग कफवातजन्य है ॥४०॥

नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम् ।
सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः ॥४१॥

३२ जतुमणि—जन्म से ही उत्पन्न, बिना वेदना के मण्डल को 'जतुमणि' कहते हैं । यह थोड़ा लाल, श्लक्ष्ण (कर्कशता रहित) तथा कफरक्तजन्य होता है ॥४१॥

अवेदनं स्थिरं चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं वदेत् ॥४२॥

३३ मषक (Moles) वेदना रहित, स्थिर, उड़द के समान, काले तिल शरीर में जो उत्पन्न हो जाते हैं, उनको 'मषक' कहते हैं ॥४२॥

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥४३॥

३४ तिलकालक-कृष्णवर्ण, तिल के समान बड़े, वेदना रहित त्वचा के बराबर होते हैं । वायु-पित्त से कफ की शुष्कता होने के कारण उत्पन्न होते हैं[1] ॥४३॥

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम् ।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥४४॥

३५ न्यच्छ—यदि जन्मकाल से ही शरीर पर वेदना रहित महान् या ह्रस्व, श्वेत या काला मण्डल हो, तो इसको न्यच्छ कहते हैं ॥४४॥

समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम् ।

३६ चर्मकील—समुत्थान (सम्प्राप्ति) और निदान से चर्मकीलों को अर्श निदान में कह दिया है, (पूर्वाचार्यों ने इनको क्षुद्ररोग में पढ़ा है) ।

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ॥४५॥
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ।
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥४६॥

३७ व्यङ्ग—क्रोध या परिश्रम (जृम्भा आदि) से प्रकुपित वायु पित्त के साथ मिलकर सहसा मुख में आकर वेदना रहित सूक्ष्म, श्यामवर्ण मण्डल को उत्पन्न करती है । इसको 'व्यङ्ग' कहते हैं ॥४५,४६॥

कृष्णमेवं गुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ।

नीलिका—उपर्युक्त व्यङ्ग के समान ही जो काले रङ्ग का मण्डल शरीर पर या मुख पर होता है उसे नीलिका कहते हैं ।

मर्दनात् पीडनाच्चापि तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥४७॥
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रतिनिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥४८॥
सवेदनः सदाहश्च पाकं च व्रजति कचित् ।
मारुतागन्तुसंभूतां विद्यात्तां परिवर्तिकाम् ॥४९॥
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ।

३८ परिवर्तिका—(Para Phymasis) जिस समय सर्वत्र फिरनेवाला व्यान वायु शिश्न के मलने से दबाने से अथवा शिश्न पर चोट लगने से शिश्न की त्वचा में आ जाता है, उस समय वायु से व्याप्त चर्म पीछे की ओर लौट जाता है, (मणि नग्न हो जाती है)। मणि के नीचे (पीछे) चर्मकोश गांठ के समान लटकने लगता है । इसमें वेदना और जलन होती है, कभी यह पक भी जाता है । यह रोग वायुजन्य है । यदि इसमें कण्डू और काठिन्य हो तो इस परिवर्तिका रोग को कफजन्य समझना चाहिये ॥४७-४९॥

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बालां गच्छेत् स्त्रियं नरः ॥५०॥
हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ।
मर्दनात्पीडनाद्वाऽपि शुक्रवेगविघाततः ॥५१॥

१—इसमें रक्त का मिश्रण रहता है । यथा—
"पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् ।
तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनः ॥
मसूरमुद्गमाषाणां तुल्या कोलोपमा इति ।
मसूरिका तु विज्ञेयाः पिडका रक्तपित्तजाः ॥"

१—केचित्—"वातपित्तासृगुच्छोषात्" यह पाठ पढ़ते हैं ।

यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

३६ अवपाटिका—अल्पयोनिद्वारवाली-सोलह वर्ष की आयु से कम स्त्री के साथ अतिहर्ष (उत्तेजनावस्था) से जब पुरुष सम्भोग करता है, अथवा हाथ के अभिघात से (हस्त-मैथुन से) बलात्कार चर्म उत्तान होकर लौट जाता है। अथवा जिस पुरुष का चर्म (शिश्न की त्वचा) मर्दन से, दबाने से अथवा शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से फट जाता है, उसको 'अवपाटिका' रोग कहते हैं[1] ॥५०,५१॥

वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम् ॥५२॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम् ॥५३॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न च विदीर्यते ।
निरुद्धप्रकशं विद्याद्दुरूढां चावपाटिकाम् ॥५४॥

४० निरुद्धप्रकश-(Phymasis)—मर्दन पीड़न या अभिघात के कारण व्यान वायु कुपित होकर शिश्न चर्म के साथ मिलकर मणि का सम्पूर्ण रूप में आश्रय कर लेती है, उस समय शिश्नचर्म मणि के साथ चिपट जाता है (पीछे नहीं सरकता)। इससे मूत्रस्रोत रुक जाता है। मूत्रछिद्र के तंग हो जाने से मूत्र की धारा मन्द एवं थोड़ी वेदना युक्त रहती है। इस रोग में मणि को कोई नुकसान नहीं होता। इस रोग को निरुद्धप्रकश कहते हैं। दुरूढ़ा (अनुचित रूप से रोहित) अवपाटिका भी 'निरुद्धप्रकश' कहाती है ॥५२-५४॥

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः ।
निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥५५॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥५६॥

४१ सन्निरुद्धगुद—मल के उपस्थित वेग को रोकने से गुदा में आश्रित वायु कुपित होकर मार्ग को रोककर महान् स्रोत को सूक्ष्म द्वार बना देती है। मार्ग के सूक्ष्म होने के कारण मल कठिनाई से बाहर आता है। इस रोग को 'सन्निरुद्धगुद' कहते हैं। यह रोग कष्टसाध्य है।

वि० मन्तव्य—जैसे उल्लिखित निरुद्धप्रकश में मूत्र का मार्ग छोटा-तङ्ग होता है वैसे ही पुरीष का मार्ग तङ्ग हो जाता है ॥५५,५६॥

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।
स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥५७॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५८॥

४२ अहिपूतन—मल मूत्र से युक्त अपान (गुदा) के साफ न करने पर तथा स्वेद होने पर भी स्नान न कराने से शिशु में-रक्त एवं कफजन्य कण्डू उत्पन्न होती है। कण्डू के करने से शीघ्र छाले उत्पन्न हो जाते हैं। इन छालों से स्राव बहता है। गुदा व्रणों के साथ मिलकर एक हो जाने पर यह रोग भयानक है। इसको अहिपूतन कहते हैं ॥५७,५८॥

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः ।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं संजनयेत्तदा ॥५९॥
तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥६०॥

४३ वृषणकच्छु—स्नान एवं उत्सादन (उबटन) न लगानेवाले पुरुष में मल अण्डकोषों में एकत्रित होकर पसीने के कारण जब आर्द्र होता है, तब कण्डु उत्पन्न करता है। कण्डु करने पर शीघ्र स्रावयुक्त स्फोट (छाले) पैदा हो जाते हैं। इसको 'वृषणकच्छू' कहते हैं—यह रोग कफ रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥५९,६०॥

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।
रूक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत् ॥६१॥

४४ गुदभ्रंश—(Prolapsuani)—प्रवाहण (अतिशय कांखना) एवं अतिसार के कारण रूक्ष एवं निर्बल शरीरवाले पुरुष की गुदवलियाँ बाहर आ जाती हैं। इस रोग को गुदभ्रंश कहते हैं ॥६१॥

इति सुश्रुसंहितायां निदानस्थाने क्षुद्ररोगनिदानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

—०—

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः शूकदोषनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

क्षुद्रत्व धर्म की समानता से क्षुद्ररोग के पीछे शूक दोष निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥१,२॥

१—वात्स्यायन कामसूत्र में लिखा है कि-न प्रसह्य किंचिदाचरेत्।' इसकी व्याख्या में जयमङ्गल ने लिखा है कि जबर्दस्ती करने से अवपाटिका रोग उत्पन्न होता है।

१ शूक—जलशूक (घोंघा) है, इसकी सहायता से लिंग को बढ़ानेवाले योग बनाये जाते हैं। यथा—

'भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्र-
मन्तःविदाह्यमतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्ट-
मालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥
स्थूलंमहत्तरमतुङ्गमतुल्यमाशु-
शोफःकरोत्यभिनवं नहि संशयोऽस्ति ।

लिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ च व्याधयो जायन्ते। तद्यथा—सर्षपिका; अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भिका, अलजी, मृदितं, संमूढपिडका, अवमन्य, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोतकः, त्वक्पाकः, शोणितार्बुदं, मांसार्बुदं, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति ॥ ३ ॥

लिंगवृद्धि (आयाम और परिणाह रूप में) की चाह करनेवाले एवं शास्त्रोक्त क्रम का अनुसरण न करनेवाले पुरुषों में अठारह प्रकार के शूकदोषजन्य रोग होते हैं। यथा—सर्षपिका अष्ठीलिका, ग्रथित, कुम्भीका, अलजी, मृदित, संमूढपिडका, अवमन्थ, स्पर्शहानि, उत्तमा, शतपोनक, त्वक्पाक, शोणितार्बुद, मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक ये अठारह रोग हैं[1] ॥ ३ ॥

गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भग्नहेतुका।
पिडका कफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः ॥ ४ ॥

सर्षपिका—शूकदुर्भग्नहेतुका (दुरवचारित शूक हेतु के कारण) श्वेत सरसों के समान पिड़का उत्पन्न होती है। यह पिड़का कफ-रक्तजन्य है[2] ॥ ४ ॥

कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्य प्रकोपतः।
शूकैस्तु विषसंभुग्नैः पिडकाऽष्ठीलिका भवेत् ॥ ५ ॥

अष्ठीलिका—(विषसंयुक्त भल्लातकास्थि आदि) शूकों के कारण से वायु का प्रकोप होने पर कठिन एवं विषम अन्तों से युक्त (प्रान्त भागों पर निम्नोन्नत) पिड़का उत्पन्न होती है, इसको 'अष्ठीलिका कहते हैं ॥ ५ ॥

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं तत् कफोत्थितम्।
कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ॥६॥

कुम्भीका—शश्वत् (प्रतिदिन) शूक (आत्मगुप्ता, कौंच आदि अथवा जलशूकों) के सेवन से (एक दिन के अन्तर से सेवन करना चाहिये), कफ से ग्रथित जामुन के समान अशुभ (काली) पिड़का उत्पन्न होती है। यह कुम्भीका पिड़का रक्त-पित्तजन्य है। (कफ के कारण पिड़का गांठ रूप होती है) ॥६॥

अलजीलक्षणैर्युक्तामलजीं च वितर्कयेत्।

अलजी—पिड़का प्रमेहपिड़का में कही अलजी पिड़का के समान लक्षणोंवाली होती है।

मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वायुकोपतः ॥ ७ ॥
पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत्।

संमूढपिड़का—पीड़ित (शूक प्रयोग करने के कारण शोथ आदि के उत्पन्न होने से) मृदित (अभिभूत), तथा शूकप्रयोगों को लगाने के पीछे हाथों से विशेष रूप में मलने के कारण (शिश्न के सुप्त होने पर) वायु के कोप से (वातरक्तजन्य) संमूढ-पिड़का उत्पन्न होती है ॥ ७ ॥

दीर्घा बह्वयश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ॥ ८ ॥
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षवृत्।

अवमन्थ—शूक कर्म के उपचार से दीर्घ (लम्बी) बहुत सी पिड़कायें उत्पन्न हो जाती हैं, ये बीच में से फट जाती हैं। यह अवमन्थ रोग कफ रक्त से उत्पन्न होता है। इसमें वेदना और शरीर में रोमांच होता है ॥ ८ ॥

पित्तशोणितसंभूता पिडका पिडकाचिता ॥ ९ ॥
पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा।

पुष्करिका—पित्त रक्त के कारण से—पिड़काओं से व्याप्त, पद्मकर्णिका के आकार की पिड़का उत्पन्न होती है, इसको पुष्करिका कहते हैं ॥ ९ ॥

जनयेत् स्पर्शहानिं तु शोणितं शूकदूषितम् ॥ १० ॥

स्पर्शहानि—शूक द्वारा दूषित रक्त स्पर्शहानि रोग को उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

मुद्गमाषोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा।
उत्तमैषा तु विज्ञेया शूकाजीर्णनिमित्तजा ॥ ११ ॥

उत्तमा—शूकाजीर्णनिमित्तजा (बार-बार शूक के सेवन से निर्वृत्त एवं विकृति विशेष से उत्पन्न) मूँग, माष के समान आकार की, लाल पिड़का को 'उत्तमा' कहते हैं, यह रक्त पित्त-जन्य है ॥ ११ ॥

छिद्रैरणुमुखर्वस्तु चितं यस्य समन्ततः।
वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥ १२ ॥

शतपोनक रोग में—मेढ्र-चारों ओर सूक्ष्म मुखवाले छिद्रों से भर जाता है, यह रोग वात-रक्त जन्य है ॥ १२ ॥

पित्तरक्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान्।

त्वक्पाक रोग—पित्त-रक्तजन्य है। इसमें रोगी को ज्वर और दाह होता है ॥

कृष्णैः स्फोटैः सरक्तैश्च पिडकाभिश्च पीडितम्।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥ १३ ॥

शोणितार्बुद—जिसमें वास्तु (अधिष्ठान शिश्न) काले छालों एवं लालवर्ण की पिड़काओं से व्याप्त होता है, उसको 'शोणितार्बुद' कहते हैं। यह रोग शूकापचार द्वारा रक्त के दूषित होने से होता है ॥ १३ ॥

इनसे उत्पन्न दोष (रोगों) की व्याख्या करते हैं। "दोषा ह्यपि रोगशब्दं लभन्ते।"

[1] निन्दित कल्पों को छोड़कर जलशूक आदि से रहित प्रशस्त कल्पों के प्रयोग में हानि नहीं। प्रशस्तकल्प यथा—

"अश्वगन्धावरीकुष्ठमासीसिंहीफलान्वितम्।
चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत्।
स्तनलिंगकर्णपालिवर्धनं म्रक्षणादिदम् ॥"

[2] किसी किसी स्थान पर—'शूकदुर्भंगहेतुका' यह पाठ है। वहाँ पर 'शूक और दूषित भग के कारण' यह अर्थ है।

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम् ।

मांसार्बुद—मांस में उत्पन्न होनेवाला मांसार्बुद मांसदोष से (मांस की वृद्धि से) उत्पन्न होता है ॥

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यत्र सर्वाश्च वेदनाः ॥१४॥

विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ।

मांसपाक—जिस रोगी के शिश्न का मांस शीर्ण (गल जाता) हो जाता है, वातादि सब दोषों की (तोद-दाह-कण्डु आदि) वेदनायें होती हैं, उसको मांसपाक कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१४॥

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥१५॥

विद्रधि—सन्निपातजन्य विद्रधि के समान इसमें लक्षण होते हैं ॥१५॥

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि च ।

पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥१६॥

कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।

सन्निपातसमुत्थानं तं विद्यात्तिलकालकम् ॥१७॥

तिलकालक—कृष्णवर्ण अथवा चित्रवर्ण (श्वेत, पीले, नीले विचित्रवर्ण) वाले और विषयुक्त (भिलावा मिश्रित) जलशूकों के प्रयोग करने से शिश्न सम्पूर्ण रूप में पक जाता है। शिश्न का मांस पके हुए तिलों के समान काला पड़कर गलने (झड़ने) लगता है। इस रोग को तिलकालक कहते हैं, यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१६,१७॥

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१८॥

असाध्य रोग—मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक ये चार शूकापचारजन्य रोग असाध्य हैं ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने शूकदोषनिदानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो भग्नानां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

शूकदोष के समान भग्न निदान के भी क्षुद्र होने से अब भग्न-निदान की व्याख्या करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति ॥३॥

भग्नरोग के कारण—गिरने से, दबाने से, चोट लगने से, आक्षेपण (आकर्षण अथवा अतिशय झटकने से), व्याल (सिंहादि), मृग (हरिण आदि) के दन्त-नख आदि से, (एवं बलवान् से लड़ाई करने आदि से) चोट विशेष लगने के कारण बहुत प्रकार से अस्थियों का भङ्ग होता है ॥३॥

तत्र भङ्ग (ग्न) जातमनेकविधमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोपपद्यते सन्धिमुक्तं, काण्डभग्नं च। तत्र षड्विधं सन्धिमुक्तं द्वादशविधं काण्डभग्नं भवति ॥४॥

सम्पूर्ण प्रकार के भग्नों का तत्तत् रूप में अनुसन्धान करने से (संक्षेप रूप से) दो प्रकार के भग्नों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यथा सन्धिमुक्त (dislocation) और काण्डभग्न (Fracture) ॥४॥

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्त्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम् ॥५॥

इनमें सन्धिमुक्त भग्न छै प्रकार का है। यथा—उत्पिष्ट (चूर्णित), विश्लिष्ट (पृथग् हुआ), विवर्त्तित (दक्षिण या वाम पार्श्व में घुमा), अवक्षिप्त (ऊपर या नीचे क्षिप्त), अतिक्षिप्त (मांस आदि का विदारण करके उत्पन्न), और तिर्यक्क्षिप्त (टेढ़ा होकर थोड़ा सा हिला हुआ) ॥५॥

तत्र प्रसारणाकुञ्चनविवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्षणमुक्तम् ॥६॥

लक्षण—प्रसारण (फैलाने में) आकुंचन (संकोच) विवर्तन (विपरीत घुमाने), आक्षेपण (अतिशय चालन अथवा आकर्षण) में अशक्ति, तीव्रवेदना, स्पर्श की असहिष्णुता ये सन्धिमुक्त के सामान्य लक्षण हैं ॥६॥

वैशेषिकं तूत्पिष्टे सन्धावुभयतः शोफो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति, विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धिविक्रिया च, विवर्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च; अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च; अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च; तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना चेति ॥७॥

विशेष लक्षण—उत्पिष्ट सन्धिमुक्त में—सन्धि के दोनों पार्श्वों में शोफ, वेदना का होना, और विशेषतः नाना प्रकार की वेदनायें रात्रि में उत्पन्न होती हैं। विश्लिष्ट सन्धिमुक्त में—थोड़ी सूजन, निरन्तर वेदना, सन्धि में अक्रियता आ जाती है। विवर्तित सन्धिमुक्त में—सन्धि के एक पार्श्व से हटकर दूसरे में जाने से अङ्ग में विषमता तथा वेदना होती है। अवक्षिप्त सन्धिमुक्त में—सन्धि का पृथग् होना और तीव्र वेदना होती है। अतिक्षिप्त सन्धिमुक्त में—सन्धिवाली—दोनों अस्थियाँ परस्पर दूर हट जाती हैं और वेदना होती है। तिर्यक्क्षिप्त सन्धिमुक्त में—एक अस्थिपार्श्व में दूरी आ जाती है और तीव्र वेदना होती है ॥७॥

काण्डभग्नमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—कर्कटकम्, अश्वकर्णं, चूर्णितं, पिच्चितम्, अस्थिच्छल्लितं, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अतिपातितं, वक्रं, छिन्नं, पाटितं, स्फुटितमिति द्वादशविधम् ॥८॥

इसके आगे काण्डभग्न की व्याख्या करते हैं।

काण्डभग्न (नलकास्थि का भंग) बारह प्रकार का है। यथा—कर्कटक, अश्वकर्ण, पिच्चित, अस्थिछल्लित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित और स्फुटित ॥८॥

श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्तनस्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम् ॥

सामान्य लक्षण—सूजन की अधिकता, स्पन्दन और विवर्त्तन में स्पर्श की असहिष्णुता, दबाने पर या रगड़ने पर शब्दोत्पत्ति (Crapitation) बालों को रगड़ने के समान), अङ्ग का गिरा रहना, नाना प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति, किसी भी अवस्था में शान्ति लाभ न होना, ये काण्डभग्न के सामान्य लक्षण हैं ॥९॥

विशेषस्तु संमूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भ (ल) ग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटकम् , अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकं स्पृश्यमानं शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत् , पिच्चितं पृथुतां गतमनल्पशोफं, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छलितं वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम् , अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम् , अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम् , अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नं, पाटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलं विस्फुटितं स्फुटितमिति ॥१०॥

विशेष लक्षण—कर्कटक में—अस्थि मध्य में से टूट जाने पर ऊर्ध्व और अधः दोनों प्रान्तों से संमूढ (कार्य में अशक्य) बन जाती है, अस्थि केकड़े के समान ऊपर को उठी रहती है। घोड़े के कान के समान ऊपर को उठी अस्थि अश्वकर्ण है। चूर्णितभग्न में—अस्थि स्पर्श करने पर चर-चर शब्द करती हुई प्रतीत होती है। पिच्चितभग्न से—अस्थि फैल जाती है और सूजन थोड़ी होती है। अस्थिछल्लित में—अस्थिपार्श्वों में कुछ ऊपर को उठ जाती है (अथवा इसमें अस्थि टूटकर छलका-सा बन जाता है)। काण्डभग्न में—अस्थि हिलाने पर चलती (हिलती) है। मज्जानुगत में—अस्थि का कोई भाग अस्थि के अन्दर घुसकर मज्जा को बाहर कर देता है। अतिपातित भग्न में—अस्थि सम्पूर्ण रूप में छिन्न हो जाती है। वक्र भग्न में—अस्थि मुड़ जाती है परन्तु पृथग् नहीं होती। छिन्न—एक पार्श्व में लगी रहती है और एक पार्श्व से छिन्न हो जाती है। पाटित—फटने से बहुत से छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं और तीव्र वेदना हो जाती है। स्फुटित-शूक-(यवादि धान्यों का अग्रभाग)—पूर्ण के समान वेदना युक्त, आध्मात (सूजी हुई), विपुल विस्फुटित (विशेष रूप से विदलित—कणों के रूप में टूटी) अस्थि "स्फुटित" होती है[1] ॥१०॥

तेषु चूर्णितच्छिन्नातिपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि, कृशवृद्धबालानां क्षतक्षीणकुष्ठिश्वासिनां सन्ध्युपगतं चेति ॥११॥

इनमें—स्फुटित, चूर्णित, छिन्न, अतिपातित, मज्जानुगत, ये काण्डभग्न कष्टसाध्य हैं। कृश वृद्ध और बालक तथा क्षत (उरःक्षत रोग), क्षीण, कुष्ठ एवं श्वास रोगी में सन्धिभग्न कष्टसाध्य है, (इनमें काण्डभग्न भी कष्टसाध्य समझना चाहिये) ॥११॥

भवन्ति चात्र—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेत्तच्चिकित्सकः ॥१२॥

कपाल (Flat) अस्थियों के भग्न होने पर, कटिसन्धि के मुक्त अथवा च्युत (स्खलित) होने पर, जघनस्थान में पिष्ट (उत्पिष्ट) भग्न होने पर, असाध्य समझना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कटि की सन्धि मुक्त होने पर कुब्जता हो जाती है जो असाध्य होती है, जघनास्थि पिस जाने पर उसका सन्धान नहीं होता ॥१२॥

असंश्लिष्टं कपालं तु ललाटे चूर्णितं च यत् ।
भग्नं स्तनान्तरे शङ्खे पृष्ठे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१३॥

कपालास्थियों की सन्धियों के पृथक् होने पर, ललाट में कपालभग्न होने पर, स्तनों के मध्यवर्त्ती शंख नामक मर्म के भग्न होने पर पीठ एवं शिर के दोनों प्रकार के भग्न को असाध्य समझना चाहिये ॥१३॥

आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिरथापि वा ।
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद्दुर्निबन्धनात् ॥१४॥
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ।

आदि से (जन्मोत्पत्ति काल से ही), दुर्जात (दूषित सन्धान के कारण) उत्पन्न अस्थि अथवा सन्धि असाध्य है। सम्यक् प्रकार से संहत (मिलाई) भी अस्थि—दुर्न्यास (बुरी प्रकार से रखने के कारण) से अथवा अनुचित रूप में बाँधने पर या संक्षोभ (हिलाने-जुलाने) से जो विकृत हो जाती है, वह अस्थि असाध्य समझनी चाहिये ॥१४॥

मध्यस्य वयसोऽवस्थास्तिस्रो याः परिकीर्तिताः ॥१५॥
तत्र स्थिरो भवेज्जन्तुरुपक्रान्तो विजानता ।

प्रथम जो तीन (वृद्धि यौवन और सम्पूर्ण) अवस्थायें कही हैं, इनमें मध्यम आयु के अन्दर (चालीस वर्ष की आयु में) पुरुष के धातु स्थिर रहते हैं (१६ से ४० तक धातु स्थिर रहते हैं)। इस अवस्था में चिकित्सा करनी चाहिये। इसके आगे

[1] कविराज हाराणचन्द्रजी ने 'खल्लितं प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्' यह पाठ दिया है। यहाँ पर खल्लित का अर्थ गर्त्तयुक्त किया है। यथा—खल्लो वस्त्र प्रभेदे स्याद् गर्त्ते। मेदिनी।

चालीस से सत्तर वर्ष की आयु में अतिशय कष्टसाध्य हो जाता है ॥१५॥

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ॥१६॥
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ।

तरुणास्थियाँ (Cartilage-घ्राण, कान, आँख की)—टेढ़ी बन जाती हैं। नलक (Long-Bones शाखास्थियाँ) टूटती हैं। कपालास्थियाँ (Flat–सिर आदि की) फटती हैं। रुचक (दाँत आदि) एवं बलयास्थियों (Small Bones कलई की) में स्फुटन (दराड़) होता है। इस प्रकार से अस्थियाँ पाँच प्रकार की बताई हैं। यथा—तरुण, कपाल, वलय, रुचक और नलक ॥१६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भग्ननिदानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथातो मुखरोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे मुखरोग निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मुखरोगाः पञ्चषष्टिर्भवन्ति सप्तस्वायतनेषु। तत्रायतनानि-ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालु, कण्ठः, सर्वाणि चेति। तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेषु ॥३॥

मुख रोग पैंसठ प्रकार के हैं। ये सब रोग सात स्थानों में उत्पन्न होते हैं। सात स्थान यह हैं—दोनों ओठ, दन्तमूल, दाँत, जीभ, तालु, कण्ठ और सम्पूर्ण मुख। इनमें ओठों में आठ, दन्तमूलों में पन्द्रह, दाँतों में आठ, जिह्वा में पाँच, तालु में नौ, कण्ठ में सत्रह और सब स्थानों में तीन, इस प्रकार से कुल ६५ मुखरोग हैं ॥३॥

तत्रौष्ठप्रकोपा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांसमेदोऽभिघातनिमित्ताः ॥४॥

इनमें ओष्ठरोग—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, मांस, मेद और अभिघात के कारण उत्पन्न होते हैं ॥४॥

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः ॥५॥

वायु के कारण ओष्ठ—खुरदरे, कठोर, निश्चल, काले हो जाते हैं, इनमें तीव्र वेदना होती है, ओठ गम्भीर रूप में फट जाते हैं, और इनकी (त्वचा) उखड़ फट जाती है ॥५॥

आचितौ पिडकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् ।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥६॥

पित्त के कारण ओठ—सरसों के आकारवाली पिड़काओं से पूर्ण रूप में भर जाते हैं। इन ओठों में जलन, पाक और स्राव होता है। ओठों का रङ्ग नीला या पीला पड़ जाता है ।६।

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।
कण्डूमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥७॥

कफ के कारण ओठ—त्वचा के समान वर्णवाले पिड़काओं से भर जाते हैं, इनमें वेदना नहीं होती। ओठों में कण्डु होती है, ओठ सूजे हुए, पिच्छिल, शीतल और भारी हो जाते हैं ॥७॥

सकृत् कृष्णौ सकृत् पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥८॥

सन्निपात के कारण ओठ—कभी काले, कभी पीले और कभी श्वेत हो जाते हैं। अनेक प्रकार की पिड़काओं से ओठ भरे रहते हैं ॥८॥

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥९॥

रक्त के कारण ओठ—खर्जूर के फल के समान वर्ण की पिड़काओं से भरे रहते हैं। इनमें लाल रङ्ग का रक्त बहता है ॥

मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्योभयतो मुखात् ॥१०॥

मांस के कारण ओष्ठ—गुरु (भारी), स्थूल (मोटे) एवं मांसपिण्ड के समान उन्नत हो जाते हैं। मुख के दोनों पार्श्वों में स्थित व्रणों में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥

मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू ।
अच्छस्फटिकसङ्काशमास्रावं स्रवतो गुरू ॥११॥

मेद के कारण ओठ—घृतमण्ड (घी के ऊपर के स्वच्छ भाग) के समान, एवं कण्डुयुक्त स्थिर (निश्चल) और कोमल होते हैं। इनसे स्वच्छ-स्फटिक के समान स्राव बहता है और ओठ भारी हो जाते हैं ॥११॥

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ।
ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ॥१२॥

अभिघात के कारण ओठ—क्षतज (रक्त) की आभावाले होते हैं, गहरे रूप में फट जाते हैं, इनकी त्वचा फट जाती है। ओठों में गाँठ-सी पड़ जाती है, इनमें कण्डू होती है। (अभिघातजन्य ओष्ठरोगों में वायु, कफ रक्त के साथ मिलकर कारण बनती है) ॥१२॥

दन्तमूलगतास्तु—शीतादो, दन्तपुप्पुटको, दन्तवेष्टकः, शौषिरो, महाशौषिरः, परिदर, उपकुशो, दन्तवैदर्भो, वर्धनः, अधिमांसो, नाड्यः पञ्चेति ॥१३॥

दन्तमूल में स्थित रोग-शीताद, दन्तपुप्पुटक, दन्तवेष्टक, शौषिर, महाशौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ, वर्धन, अधिमांस और पाँच नाड़ीव्रण—इस प्रकार से पन्द्रह रोग हैं ॥१३॥

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥१४॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥१५॥

शीताद—बिना किसी कारण के दन्तवेष्टों (मसूड़ों) में से रक्त बहने लगता है मसूड़ों का मांस दुर्गन्ध युक्त, काला, क्लेद (स्राव बहुल) और कोमल हो जाता है। मसूड़ों का मांस गलने लगता है, मसूड़े पक जाते हैं (पूय उत्पन्न हो जाती है)। यह रोग कफ-रक्तजन्य है[1] ॥१४,१५॥

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुः सरुजो महान्।
दन्तपुप्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः ॥१६॥

दंतपुप्पुटक—दो या तीन दाँतों के मूल में जब बहुत अधिक शोथ एवं वेदना उत्पन्न हो जाती है, तब इसको दन्तपुप्पुटक कहते हैं। यह रोग कफ-रक्तजन्य है ॥१६॥

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥१७॥

दन्तवेष्ट—मसूड़ों में से रक्त और पूय बहती है, दाँत हिलने लगते हैं, यह रोग दूषित रक्त से उत्पन्न होता है ॥१७॥

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः।
लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः ॥१८॥

शौषिर रोग में—मसूड़ों में सूजन उत्पन्न हो जाती है, इसमें वेदना होती है, यह रोग कफ-रक्तजन्य है। मुख से लाला बहती है, खाज होती है ॥१८॥

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते।
दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते ॥१९॥
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः।

महाशौषिर रोग में—दांत मसूड़ों को छोड़ देते हैं, तालु फट जाता है, मसूड़े पक जाते हैं, मुख भी (अधिक गलने से) आक्रान्त बन जाता है। यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१९॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ॥२०॥
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः।

परिदर रोग में—मसूड़े गल जाते हैं, रक्त मिश्रित थूक आती है, यह रोग पित्त-कफ-रक्तजन्य है ॥२०॥

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च ॥२१॥
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते ॥२२॥
यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः।

उपकुश रोग में—मसूड़ों में जलन होती है, मसूड़े पक जाते हैं, इनसे दाँत निकल जाते हैं। दाँतमूलों को पकड़कर हिलाने दबाने से रक्त बहने लगता है, मंद वेदना होती है। रक्त के निकलने पर मसूड़े पुनः फूल जाते हैं, मुख में दुर्गन्ध आती है। यह रोग पित्त रक्तजन्य है ॥२१,२२॥

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान् ॥२३॥
भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः।

वैदर्भ रोग में—मसूड़ों को घिसने पर तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाता है। दाँत हिलने लगते हैं, यह रोग अभिघातजन्य है॥

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ॥२४॥
वर्धनः स मतो व्याधिर्जाते रुक् च प्रशाम्यति।

वर्धन (Extra-tooth)—वायु के कारण से तीव्र शूल युक्त अधिक दाँत उत्पन्न होता है। इस दाँत के उत्पन्न होने पर दर्द (व्याधि प्रभाव से) स्वयं शान्त हो जाती है ॥२४॥

हान्व्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्छोथो महारुजः ॥२५॥
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः।

अधिमांस—हनु के अन्तिम दंतमूल में तीव्र वेदनायुक्त महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस रोग में मुख से लाला बहती है, यह रोग कफजन्य है ॥२५॥

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥२६॥

पूर्वोक्त नाड़ीव्रण की भाँति पाँच नाड़ियाँ दन्तमूल में भी होती हैं। इनके लक्षण उसी प्रकार के हैं ॥२६॥

दन्तगतास्तु—दालनः, कृमिदन्तको, दन्तहर्षो, भञ्जनको, दन्तशर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनुमोक्षश्चेति ॥२७॥

दंतरोग—दालन, कृमिदंतक, दंतहर्ष, भञ्जनक, दन्तशर्करा, कपालिका, श्यावदंतक और हनुमोक्ष—ये आठ रोग हैं। इनमें—

दाल्यन्ते बहुधा दन्ता यस्मिंस्तीव्ररुगन्विताः।
दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः ॥२८॥

दालनरोग में—दंत अनेक स्थानों से फट जाते हैं, इनमें तीव्र वेदना होती है, यह रोग सदागति (वायु) के कारण उत्पन्न होता है, (असाध्य है) ॥२८॥

कृष्णश्छिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः कृमिदन्तकः ॥२९॥

कृमिदंत रोग में—दाँत के अन्दर काला रङ्ग आ जाता है, छेद बन जाता है, दाँत हिलता है, दाँत में से स्राव बहता है, शोथ होती है, वेदना तीव्र होती है, बिना कारण के ही वेदना होने लगती है, यह रोग वायुजन्य है ॥२९॥

शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च।
यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात् ॥३०॥

दंतहर्ष (Irriation of the tooth) रोग में दाँत शीत या उष्ण वस्तु के स्पर्श को सहन नहीं कर सकते। यह रोग वातजन्य है ॥३०॥

---

१. इसके लक्षण Pyrrhoie पाईरोया से मिलते हैं।

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् ।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥ ३१ ॥

भञ्जनक—रोग में मुख टेढ़ा हो जाता है, दाँत टूट जाते हैं, तीव्र वेदना होती है, यह रोग कफवातजन्य है ॥३१॥

शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै ।
सा दन्तानां गुणहरी विज्ञेया दन्त शर्करा ॥ ३२ ॥

दंतशर्करा—जिन दाँतों में शर्करा (बालू के सूक्ष्म कण) के समान मल जम जाता है, उसे दंतशर्करा कहते हैं। यह रोग दाँतों के शुक्लता आदि गुणों को नष्ट कर देता है ॥३२॥

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह ।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ ३३ ॥

कपालिका—रोग में दाँतों के वल्कल (त्वचा उपरि-भाग वल्कल के समान ऊपर का श्वेत वर्ण प्लास्टर) शर्करा के साथ विदीर्ण हो जाते हैं। यह रोग दाँतों को नष्ट करनेवाला (असाध्य) है ॥३३॥

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ॥३४॥

श्यावदंतक—रोग में दाँत रक्त मिश्रित पित्त से पूर्ण रूप में जल जाता है, दांत का रङ्ग काला या नीला हो जाता है, इसको श्याव-दंतक कहते हैं ॥३४॥

वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः ।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥ ३५ ॥

हनुमोक्ष—ऊँचे बोलने से, कठिन पदार्थों के भक्षण से, जृम्भा आदि कारणों से वायु कुपित होकर हनु सन्धि को शिथिल कर देती है। इस रोग में अर्दित के समान लक्षण (दाँतपीड़ा आदि) होते हैं। इसका नाम हनुमोक्ष है ॥३५॥

जिह्वागतास्तु—कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः, अलास, उपजिह्विका चेति ॥ ३६ ॥

जिह्वागत—कण्टक तीन प्रकार के, वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य, तीनों दोषों से। अलास और उपजिह्विका—ये जिह्वा के काँटों में नहीं होते, जीभ में होते हैं ॥३६॥

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता
भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।

वायु के कारण जिह्वा—ईषद् विदीर्ण, प्रसुप्त (रसज्ञान में असमर्थ) एवं शाकच्छद (खरपत्र शेगुन के पत्ते) के समान होती है।

पित्तेन पीता परिदह्यते च
चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ॥

पित्त के कारण जिह्वा—पीली और जलती प्रतीत होती है। जीभ लाल-लाल काँटों से भरी रहती है।

कफेन गुर्वी बहुला चिता च
मांसोद्गमैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥३७॥

कफ के कारण जिह्वा—भारी, स्थूल एवं सिम्बल के काँटों के समान मांसांकुरों से व्याप्त होती है ॥३७॥

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥ ३८ ॥

अलास—कफ-रक्त के समान मूर्त्ति रूप (कफ-रक्तजन्य) गम्भीर शोथ जीभ के नीचे उत्पन्न होकर जीभ को जड़ बना देती है (वायु के कारण)। बढ़ने पर जड़ में विशेष रूप से पक जाती है (पित्त के कारण)। इसलिये यह रोग सन्निपात-जन्य होने से असाध्य है[1] ॥३८॥

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वा-
मुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः ।
प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता
प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥ ३९ ॥

उपजिह्विका (Ranala)—कफ रक्त के कारण उत्पन्न जीभ के अग्रभाग के समान शोथ जिह्वा को ऊपर उठाकर उत्पन्न होती है। इसमें—लाला प्रसेक (स्राव) कण्डु, जलन होती है, इसका नाम उपजिह्विका है ॥३९॥

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरि, अध्रुषः, कच्छपः, अर्बुदं, मांससङ्घातः, तालुपुप्पुटः, तालुशोषः, तालुपाक इति ॥ ४० ॥

तालु जन्य रोग—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुष, मांस-कच्छप, अर्बुद, मांससंघात, तालुपुप्पुट, तालुशोष और तालुपाक ये नौ रोग हैं ॥४०॥

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो
दीर्घः शोफो ध्मातबस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत् संप्रदिष्टो
व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥ ४१ ॥

कण्ठशुण्डी (गलशुण्डी)—कफ-रक्त के कारण से उत्पन्न शोथ तालुमूल से आगे की ओर बढ़कर गलशुण्डी (Toncils) में पहुँच जाता है। यह शोथ वातपूर्ण बस्ति के समान एवं लम्बा हो जाता है। इस रोग में—तृष्णा, कास, श्वास उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वैद्य इसको 'कण्ठशुण्डी' के नाम से जानते हैं ॥४१॥

शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु ।

तुण्डिकेरी—पूर्वोक्त कफ-रक्त के कारण स्थूल, तोद (चुभने की वेदना) दाह एवं पकनेवाला शोथ उत्पन्न होता है। यह शोथ वनकार्पासी के समान होता है, इसको तुण्डिकेरी कहते हैं।

---

[1] कहा भी है—
प्रायस्तोयं तदा जिह्वा शोणितं चान्तरान्तरा ।
प्रचुरं स्रावयेत् सद्यः शिराच्छेदादलासके ॥

शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे
रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराढ्यः ॥४२॥

अध्रुष—रक्त के कारण तालु प्रदेश में लालवर्ण एवं जड़ (निश्चल) शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसको अध्रुष कहते हैं। इसमें वेदना तथा ज्वर रहता है ॥४२॥

कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा-
ऽरक्तो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात्।

मांसकच्छप—कफ के कारण कछुवे के समान मध्य में से उठा हुआ, वेदना रहित, पाण्डुरवर्ण का धीरे धीरे फैलनेवाला शोथ उत्पन्न होता है। इसको कच्छप कहते हैं।

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ ४३ ॥

अर्बुद—रक्त के कारण से तालु के मध्य में पद्मकर्णिका के समान आकार का शोथ उत्पन्न होता है। इसके लक्षण रक्तार्बुद के समान (पूर्वोक्त लक्षणों के समान) होते हैं ॥४३॥

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च
ताल्वन्तःस्थं मांससंघातमाहुः।

मांससंघात—तालू के अन्दर का मांस कफ के कारण दूषित हो जाता है, इसमें वेदना नहीं होती, इसको मांससंघात कहते हैं।

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्यान्-
मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥ ४४ ॥

तालुपुप्पुटक—मेदोमिश्रित कफ के कारण से तालु प्रदेश में वेदना रहित, स्थायी (स्थिर) एवं कोलमात्र (बेर के आकार का) शोथ उत्पन्न होता है, उसको तालुपुप्पुट कहते हैं ॥४४॥

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात् ॥

तालुशोष—इस रोग में अत्यन्त शोष (शुष्कता) होता है, तालु विशेष रूप में फट जाता है। श्वास उत्पन्न होता है, यह रोग वात पित्तजन्य है।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥ ४५ ॥

तालुपाक—जिस समय पित्त तालु में अतिभयानक पाक उत्पन्न करता है, उसको 'तालुपाक' कहते हैं ॥४५॥

कण्ठगतास्तु—रोहिण्यः पञ्च, कण्ठशालूकम्; अधिजिह्वो, वलयो, बलास, एकवृन्दो, वृन्दः; शतघ्नी, गिलायुः, गलविद्रधिः, गलौघः, स्वरघ्नो, मांसतानो, विदारी चेति ॥

कण्ठगत रोग—पाँच रोहिणी (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्तजन्य), कण्ठशालूक, अधिजिह्वा, वलय, बलास, एकवृन्द, वृन्द, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधि, गलौघ, स्वरघ्न, मांसतान और विदारी ये सत्रह रोग हैं ॥४६॥

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्
सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी ॥४७॥

रोहिणी—वायु एवं मूर्च्छित (प्रवृद्ध) पित्त और कफ पृथग् २ अथवा सन्निपात रूप से एवं रक्त गले में मांस को दूषित करके, गले को रोकनेवाले अङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं। इन अङ्कुरों को रोहिणी कहते हैं। यह रोग प्राणनाशक है ॥४७॥

जिह्वां समन्ताद्भृशवेदना ये
मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् ॥ ४८ ॥

वातजन्य रोहिणी—जो मांसांकुर जिह्वा के चारों ओर उत्पन्न हो जायें तथा इनमें तीव्र वेदना होती हो, इनके कारण गला रुक जाये, इनको वातजन्य रोहिणी कहते हैं। इसमें वातजन्य मन्यास्तम्भ आदि उपद्रव विशेष रूप से रहते हैं ॥४८॥

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा स्यात्।

पित्तजन्य रोहिणी में—अङ्कुर शीघ्र उत्पन्न होते हैं, शीघ्र ही विदग्ध होते हैं, शीघ्र ही पकते हैं। इनमें तीव्रज्वर उत्पन्न होता है, यह रोग पित्तजन्य है।

स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका
गुर्वी स्थिरा सा कफसंभवा वै ॥ ४९ ॥

कफजन्य रोहिणी में—अङ्कुर स्रोत (कण्ठस्रोत) को रोक लेते हैं, धीरे २ पकते हैं, गुर्वी (भारी) एवं स्थिर (कठिन) होते हैं ॥४९॥

गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या
त्रिदोषलिंगा त्रयसंभवा स्यात्।

सन्निपातजन्य रोहिणी—गम्भीर (अनुत्तान) पकती है, अप्रतिवारवीर्या (दुर्निवार शक्तिवाली) होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण रहते हैं।

स्फोटाचिता पित्तसमानलिंगा-
ऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम् ॥५०॥

रक्तजन्य रोहिणी—स्फोटों (छालों) से व्याप्त, पित्त के समान लक्षणों से युक्त एवं असाध्य होती है[१] ॥५०॥

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो
ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्य-
स्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ ५१ ॥

१ असाध्य निर्णय—

"वातात् पित्तात् कफात् त्रिभ्यो रक्ताद् रोहिण्य ईरिताः।
अन्या सद्यो मारयन्ति आद्यास्तिस्रः क्रियां विना ॥"

कण्ठशालूक—गले में कफ के कारण बेर के समान जो ग्रन्थि उत्पन्न होकर कण्टक की भाँति पीड़ाकारक होती है, स्पर्श में खर, स्थिर (निश्चल) होती है, यह रोग शस्त्र द्वारा साध्य है, इसको कण्ठशालूक कहते हैं ॥५१॥

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु
जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष
विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥५२॥

अधिजिह्वा—रक्तमिश्रित कफ के कारण जिह्वा के अग्रभाग के समान शोथ—जिह्वा मूल के ऊपर उत्पन्न हो जाता है। इसको 'अधिजिह्वा' कहते हैं। यदि यह पक जावे तो असाध्य समझना चाहिये ॥५२॥

बलास एवायतमुन्नतं च
शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्य
विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥५३॥

वलय—कफ अन्न मार्ग को रोककर आयत (लम्बा) और उन्नत (उठा हुआ) शोथ उत्पन्न करता है। यह रोग सर्वदा ही असाध्य है। इस वलय रोग को चिकित्सा कर्म में छोड़ देना चाहिये ॥५३॥

गले तु शोफं कुरुतः प्रवृद्धौ
श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेतदाहु-
र्बलाससंज्ञं निपुणा विकारम् ॥५४॥

बलास—प्रकुपित कफ और वायु—गले में शोफ उत्पन्न करते हैं, जिससे श्वास में कठिनता होती है, यह रोग मर्मच्छिद (प्राणनाशक) है, बुद्धिमानों का कहना है कि यह रोग अतिशय कष्टसाध्य है ॥५४॥

वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः
कण्ड्वन्वितोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥५५॥

एकवृन्द—बलास (कफ) और क्षतज (रक्त) के कारण से वृत्त (गोल), उन्नत (उठा हुआ), दाहयुक्त, कण्डूयुक्त, पाक रहित, कठोर एवं भारी जो शोथ उत्पन्न होता है, उसको 'एकवृन्द' कहते हैं ॥५५॥

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं
तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपा-
द्विद्यात् सतोदं पवनास्रजं तु ॥५६॥

वृंद—पित्त और रक्त के प्रकोप से ऊपर को उठा, गोलाकार, तीव्रदाह, तथा तीव्र ज्वर युक्त शोथ उत्पन्न होता है। यदि इसमें तोद (चुभने की वेदना) हो तो इसको वात-रक्तजन्य समझना चाहिये ॥५६॥

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषाज्-
ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या ॥५७॥

शतघ्नी—जो गाँठ कठोर, गले को रोकनेवाली, मांसांकुरों से बहुत अधिक व्याप्त होती है एवं त्रिदोषजन्य होने से तोद-दाह कण्डू नाना प्रकार की वेदनाकारी, तथा शतघ्नी (कण्टकों से व्याप्त—महान् शिला या लोहपिण्ड) के समान होती है, उसको शतघ्नी कहते हैं, यह असाध्य है ॥५७॥

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ॥५८॥

गिलायु—कफ-रक्त के कारण गले में आँवले के समान बड़ी, स्थिर, मन्दवेदनायुक्त ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि गले में भक्ष्य वस्तु (भोजन) अटक रहा है। यह रोग शस्त्रसाध्य है ॥५८॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः।
स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु
तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥५९॥

गलविद्रधि—जो शोफ सम्पूर्ण गले में व्याप्त हो, इस शोथ में वातादि सब दोषों की पीड़ायें (तोद-दाह-कण्डू आदि) होती हैं। यह गलविद्रधि रोग सन्निपातजन्य है, इसमें सन्निपातजन्य विद्रधि के समान ही लक्षण होते हैं ॥५९॥

शोफो महानन्नजलावरोधी
तीव्रज्वरो वातगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥६०॥

गलौघ—कफ और रक्त के कारण से गले में महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस शोथ के कारण—अन्न जल का मार्ग रुक जाता है, वायु की गति (उद्गार जृम्भा आदि) भी बन्द हो जाती है। रोगी को तीव्र ज्वर रहता है। इस रोग को 'गलौघ' कहते हैं ॥६०॥

योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं
भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।

---

२ "तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीति विनिर्दिशेत्।
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्॥
कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं संपद्यते सुखी॥" चरक०

कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥६१॥

स्वरघ्न—अनिलायन (वातस्थानों) में कफ भर जाने से रोगी अत्यन्त कठिनाई के साथ (अन्धकार आँखों के सामने आ जाता है) निरन्तर श्वास लेता है, स्वर भिन्न (टूट) हो जाता है, गला शुष्क और टूटता हुआ प्रतीत होता है। यह रोग वायु के कारण से उत्पन्न होता है ॥६१॥

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥६२॥

मांसतान—जो शोथ फैलानेवाला, कष्टदायक और धीरे धीरे बढ़कर क्रमशः गले को बन्द कर देता है, एवं नीचे की ओर लटकता है, इसको मांसतान कहते हैं, यह रोग सन्निपात-जन्य है, एवं प्राणनाशक है ॥६२॥

सदाहतोदं श्वयथुं सरक्त-
मन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं
पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥६३॥

विदारी—रोग में उत्पन्न शोथ—लालवर्ण एवं दाह तथा तोद युक्त होता है। यह शोथ गले में दुर्गन्धित एवं श्रृत (गले) मांस के कारण होता है। यह रोग पित्तजन्य है। मनुष्य जिस पार्श्व (करवट) से प्रायः सोता है, उसी पार्श्व की ओर मुख में उत्पन्न होता है। (अन्यत्र भी इसका होना संभव है) ॥

सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ताः ॥६४॥

सर्वसर रोग (सम्पूर्ण मुख में होनेवाले रोग)—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य ये चार हैं[1] ॥६४॥

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ता-
दस्याचितं सर्वसरः स वातात्

वातजन्य सर्वसर में—सम्पूर्ण मुख चारों ओर से तोदयुक्त छालों से भरा रहता है।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-
र्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ॥६५॥

पित्तजन्य सर्वसर में—मुख लालवर्ण, दाहयुक्त, सूक्ष्म एवं पीले छालों से भरा रहता है।

कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णै-
र्यस्याचितं चापि स वै कफेन।

कफजन्य सर्वसर में—मुख कण्डू-युक्त-मन्दवेदनावाले—त्वचा के समान वर्ण छालों से भरा रहता है।

रक्तेन पित्तोदित एक एव
कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः ॥६६॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
द्वितीयं निदानस्थानम् ॥२॥

कई आचार्य जो रक्तजन्य सर्वसर को मानते हैं, वह पित्त-जन्य सर्वसर ही है (पित्तजन्य मुखपाक ही है)। इस प्रकार से तीन ही सर्वसर हैं, और कुल पैंसठ मुख रोग हैं[1] ॥६६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मुखरोगनिदानं
नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

---

१ पीछे सर्वसर रोग तीन कहे हैं। इसलिये रक्तजन्य सर्वसर रोग को जो आचार्य मानते हैं उनके लिये यहाँ कहा है। जैसा कि आगे स्वयं स्पष्ट कर देंगे इसीलिये संख्या में भेद नहीं।

१ रक्तजन्य सर्वसर के लक्षण—
"मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषौ तिक्तवक्त्रता।
क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणा दुःखास्तु रक्तजे॥"

अथ शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।[1]

वक्तव्य—शारीरज्ञान में अंगप्रत्यंगविज्ञान (शरीरविचय) गर्भावक्रान्ति, शरीर-कार्य विज्ञान आदि अनेक विषयों का समावेश होता है। इसी से चरक में कहा है—

"शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा।
सर्वभावैर्यतस्तस्मात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥"

वि० मन्तव्य—शारीर—शरीरं अधिकृत्य कृतं शारीरं—शरीर की रचना का वर्णन है जिसमें। इस स्थान में—सब प्राणियों की उत्पत्ति का चिन्तन–विचार किया गया है। शरीर के विज्ञान के लिये १० अध्यायों का वर्णन किया गया है (सू० अ० ३)। भूत शब्द का अर्थ-भूतिः अस्ति अस्य—जिसमें ऐश्वर्य-सामर्थ्य हो, या भाव्यते स्म इति-या भवति प्राप्नोति-जो प्राप्त करता है, आहार आदि का ग्रहण करता है, जन्तु-प्राणीमात्र, परन्तु इस प्रकरण में मानव प्राणी का ध्यान रखकर विचार किया गया है। प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न २ दर्शनों, पुराणों, विचारकों के भिन्न २ प्रकार के विचार हैं परन्तु आयुर्वेद का विचार यहाँ लिखा गया है। यह आयुर्वेद का अपना "दर्शन" है। इसमें यदि किसी दर्शन से विरोध प्रतीत हो तो उस दर्शन के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो॥

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥३॥

सब प्राणियों का कारण अव्यक्त (अगोचर-मूलप्रकृति) है। यह अव्यक्त स्वयं अकारण (कारण रहित) है, सत्व-रज और तम इसका स्वरूप है, आठ रूपोंवाला है (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंचतन्मात्रा, अथवा—मन, बुद्धि, अहंकार और महाभूत या धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य)। इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का कारण है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जल-जन्तु एवं पद्मादि-स्थावर जङ्गम रूप पदार्थों का आश्रय होता है, उसी प्रकार से यह अव्यक्त एक होते हुए भी अनेक क्षेत्रज्ञ (जीवात्माओं) का अधिष्ठान है[1]।

वि० मन्तव्य—अव्यक्त–न व्यज्यते स्म या न व्यज्यते कार्यं यस्मिन् अर्थात् जो व्यक्त-स्फुट विशिष्ट लक्षण युक्त नहीं है या जिसमें कार्य–व्यक्त नहीं रहता। यह सब भूतों का कारण है परन्तु इसका कोई कारण नहीं है यह स्वयंसिद्ध–अनादि है। सत्त्व–अस्तित्व, रजस्-राग-आकर्षण, तमस्–विकर्षण ही उसका लक्षण है। इसमें से समस्त जगत् उत्पन्न होता है। इसमें अनेक-असंख्य आत्माएँ विद्यमान हैं कहीं अन्यत्र से नहीं आतीं जैसे समुद्र–समुद्र के जल में सब शंख, शुक्ति, शैवाल, मगर, मत्स्य आदि विद्यमान रहते हैं उचित परिस्थिति- कार्य कारण की उचित स्थिति होने पर व्यक्त–उत्पन्न हो जाते हैं। स्मरणीय—कार्योत्पत्ति के पूर्व–कारण अव्यक्त होता है उसमें कार्य के आकार-प्रकार व्यक्त नहीं होते जैसे बीज (कारण) में वृक्ष (कार्य) के शुक्र शोणित में प्राणों के और समुद्र जल में मत्स्य आदि के कारण जो अव्यक्त कहलाता है उसमें ही चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मा का अधिष्ठान होता है, वही अव्यक्त को साथ लेकर प्राणी रूप में परिणत हो जाता है। प्राणी का ही नाम "भूत" है, यही सब इस अध्याय में वर्णित विषय है ॥३॥

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं,

---

१ क्योंकि कहा भी है—
"भूतेभ्यो हि परं यस्मात् नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥"

१ क्षेत्रज्ञ का लक्षण—
(१) "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥"
गीता० अ० १२।
(२) सांख्यकारिका में कहा भी है—'मूलप्रकृतिरविकृतिः।'

रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥४॥

इस अव्यक्त से अव्यक्त के लक्षणोंवाला (सत्त्व-रज तमरूप) महान् (महत् तत्त्व या बुद्धि तत्त्व) उत्पन्न होता है[1]। इस सत्त्व-रज-तम लक्षणोंवाले महत् तत्त्व से सत्त्व-रज-तम लक्षणों से युक्त अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार (अभिमान) तीन प्रकार का है। यथा—वैकारिक-सात्विक, तैजस-राजस, भूतादि तामस। इनमें वैकारिक (सात्विक) अहंकार से, तैजस (राजस) अहंकार की सहायता द्वारा, इन्हीं लक्षणोंवाली (सात्विक एवं राजस) ग्यारह इन्द्रियाँ [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन (सात्विक), पाँच कर्मेन्द्रिय, (राजस)] उत्पन्न होती हैं। यथा—श्रोत्र (कान), त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण (नासिका), वाक् (वाणी), हस्त (हाथ), उपस्थ (शिश्न-भग), पायु (गुदा), पाद (पाँव) और मन, ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। ये पहली पाँच इन्द्रियाँ बुद्धि (ज्ञान)-इन्द्रियाँ हैं, शेष पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन, ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार का है, चूँकि दोनों के साथ प्रवृत्त होता है। भूतादि (तामसिक) अहंकार से भी तैजस (राजस) अहंकार की सहायता द्वारा, इन लक्षणोंवाली पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। यथा—शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। इन तन्मात्राओं के विशेष (भेदक) गुण—क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इन विभेदक गुणों से क्रमशः व्योम (आकाश), अनिल (वायु), अनल (अग्नि), जल और पृथिवी—ये भूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से चौबीस तत्त्वों की (अव्यक्त, महान्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत) व्याख्या कर दी है[2]।

वि० मन्तव्य—यह भूत-प्राणी की उत्पत्ति का वर्णन है—जब उक्त अव्यक्त में विद्यमान आत्मा जीव-चेतयिता-पुरुष-चेतना धातु—शरीरी नामधेय—उचित परिस्थिति पाकर चेतना-गति-हरकत उत्पन्न करता है—उत्पन्न होने लगता है तब—महान्—बोध—ज्ञान उत्पन्न होता है उससे या उसके पश्चात् अहंकार, अहंकार से या उसके पश्चात्—श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ या इन्द्रियों के अधिष्ठान—आदि २—उत्पन्न होने लगते हैं और काल परिणाम से शरीर एवं आत्मा का यौगिक प्राणी जन्तु उत्पन्न हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से—उत्पत्ति का प्रारम्भ होते ही समस्त शरीर का सूक्ष्म ढाँचा बन जाता है केवल उसका व्यक्ति भाव काल परिणाम से होता है। समय पाकर बीज ही वृक्ष, शुक्र शोणित ही प्राणी तथा समुद्र जल ही मत्स्य आदि का रूप = आकार धारण कर लेता है ॥४॥

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः, कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥५॥

इन चौबीस तत्त्वों में बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः वचन (बोलना-वाणी का), आदान (ग्रहण करना हाथ का), आनन्द (उपस्थेन्द्रिय का), विसर्ग (पायु का) और विहरण (चलना पाँव का) कार्य है ॥५॥

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडशविकाराः ॥६॥

अव्यक्त, महान् (बुद्धि), अहंकार और पञ्चतन्मात्र ये आठ प्रकृतियाँ हैं, शेष सोलह (ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चभूत) विकार हैं—(किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न नहीं करते[1])।

वि० मन्तव्य—अव्यक्त तो प्रकृति (कारण) है ही परन्तु महान् आदि भी प्रकृति हैं परन्तु—ये विकृति विकार-कार्य भी हैं क्योंकि ये उत्पत्ति काल में उत्पन्न होते हैं। और—सोलह तत्व—विकार-कार्य ही हैं इनसे

---

१ महान का रूप—

"यदेतत् विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्।
महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते ॥"

बुद्धितत्त्वं—सत्त्वसमुद्रेकात् निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छाया-संक्रान्तिप्राप्तचैतन्यं पुरुषवन्नानात्मकाध्यवसेयविषयं निश्चिताशंकरणमित्यर्थः।

चरक में भी कहा है—

"शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥" इत्यादि॥

२ कहा भी है—

"सात्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकारिकादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसाभावात् ॥" सां० का०
"तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता।
तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषस्ततो हि वै ॥" वि० पु०

इनमें भूत परस्पर अनुप्रविष्ट हैं। यथा—"पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः।" इससे "शब्दतन्मात्रात्—शब्दगुणं व्योम; शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्रात्—वायुः, शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्रात्-शब्द-स्पर्श-रूप-गुण-तेजः।"

इसी प्रकार से आगे विस्तार के लिये डल्हणाचार्य की टीका देखिये।

१ "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
—— षोडशस्तु विकारः........॥"

प्रकृति से अभिप्राय—तत्त्वान्तर को उत्पन्न करने से है। इसलिये बुद्धि, अहंकार, विकृति-प्रकृति दोनों हैं।

नवीन वस्तु की—या विलक्षण वस्तु-तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती केवल इनका संयोग तथा वृद्धि ही होती है। दृश्यमान शरीर इन्हीं २४ तत्त्वों से निर्मित रहता है। इसमें पुरुष—अर्थात् चेतना धातु पचीसवाँ तत्व है—चेतना धातु अपि एकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः—अर्थात् अकेली चेतना धातु (आत्मा) का नाम भी पुरुष है और "खाऽऽदयः चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः" (च० शा० अ० १) अर्थात् आकाश आदि पञ्च तत्त्व तथा चेतना के संयोग (प्राणी मात्र) का नाम भी आयुर्वेद दर्शन में पुरुष है ॥६॥

स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं, स्वयमध्यात्मम्, अधिदैवतम्—अथ बुद्धेर्ब्रह्मा, अहंकारस्येश्वरः मनसश्चंद्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥७॥

इन चौबीस तत्त्वों के अपने अपने विषय आधिभौतिक हैं, (भूतों के अधीन हैं)। स्वयं आध्यात्मिक हैं। अधिदैवत यथा—(जो जो देवता, विष्णु के अंश से उत्पन्न हुआ, वह वह उस तत्त्व का अधिष्ठाता है) बुद्धि का ब्रह्मा, अहंकार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशा, त्वचा का वायु, चक्षु का सूर्य, रसना का जल, घ्राण का पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पाँव का विष्णु, पायु का मित्र और उपस्थ का प्रजापति अधिष्ठाता है[१]।

वि० मन्तव्य—इनके विषयों—गुणों का अधिष्ठानभूत है प्राणी है और इन सब का अधिष्ठान—आत्मा है, और इनके अधिकारी या अधिष्ठानभूत दैवत—शक्तिदाता या प्रेरक हैं—ब्रह्मा आदि। यह विषय एक दार्शनिक विषय है इसे समझ लेना या मान लेना दार्शनिक दृष्टि से उचित है ॥७॥

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥८॥

इन प्रस्तुत सम्पूर्ण चौबीस तत्त्वों का वर्ग अचेतन (जड़) है। पुरुष (चेतन जीवात्मा) पचीसवाँ तत्त्व है। कार्य (शरीर) और कारण (इन्द्रियाँ) इनके साथ संयुक्त होकर पुरुष—चेतयिता (चैतन्य का आश्रय) हो जाता है। जिस प्रकार से जड़ क्षीर (दूध) वत्स (बछड़े) की वृद्धि के लिये स्वयं झरता है, उसी प्रकार से स्वयं अचेतन (जड़भूत) प्रधान (प्रकृति) भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार से पंगु तथा अन्धे पुरुष के समान इनका संयोग है[१]।

वि० मन्तव्य—यह सम्पूर्ण शरीर वस्तुतः अचेतन—जड़ है परन्तु लोहादि निर्मित यन्त्र (इञ्जन) के समान (गतिशील होने पर भी) जड़ नहीं है। पुरुष के संयोग से—कार्य (१६ विकार) एवं कारण (अष्टधा प्रकृति) मय शरीर–समस्त शरीर चेतन रहता है यहाँ तक कि वत्स को देखकर गौ का, सन्तान को देखकर माता का दूध भी गतिशील चेतन के समान चलनेवाला हो जाता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग की क्रिया का कहना ही क्या। तात्पर्य यह है प्राणी का शरीर जड़ होने पर भी चेतना के संयोग से क्रियाशील बना रहता है उसके हृदय आदि यन्त्र विधिवत् चलते रहते हैं और कुछ यन्त्र (यथा मैथुनोपयोगी अवयव और माता के दुग्धनिर्माता अवयव) समय समय पर क्रियाशील हो जाते हैं ॥८॥

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति, एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ॥९॥

इसके आगे प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य की व्याख्या करते हैं। यथा—(प्रथम साधर्म्य)—दोनों ही अनादि (आदि कारण से शून्य), दोनों ही अनन्त (अविनाशी), दोनों ही अलिङ्ग (आकार रहित), दोनों ही नित्य, दोनों ही अपर (परश्रेष्ठ–दोनों से कोई अधिक श्रेष्ठ नहीं, इसीलिये ऊपर है), और दोनों ही सर्वगत (व्यापक सम्पूर्ण मूर्त संयोगी) हैं। वैधर्म्य—इनमें प्रकृति अचेतन (जड़) एक है, त्रिगुण (सुख, दुःख, मोहात्मक या सत्त्व-रज-तमोगुण रूप), बीजधर्मिणी (बीज के धर्मवाली, उत्पादक शक्ति युक्त), प्रसवधर्मिणी (सगर्भावस्था में—कार्यावस्था में परिणामिनी), अमध्यस्थधर्मिणी (सुख, दुःख, भोगवती) है। पुरुष (जीवात्मा) अनेक हैं, चेतन हैं, निर्गुण हैं, बीज धर्म रहित, प्रसवधर्म से शून्य, मध्यस्थधर्म (सुख दुःख से) रहित हैं[२]।

---

१ (१) उपनिषद् में भी कहा है—
'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्।'
(२) "वागध्यात्ममिति प्राहुः ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥"
इसी प्रकार से बुद्धिरध्यात्मं, बोद्धव्यम् अधिभूतं, ब्रह्मा अधिदैवतम्—इत्यादि।

१ कहा भी है—
"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद् अव्यक्तम् ॥"
२ कहा भी है—
(१) तस्मात् न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते।

वि० मन्तव्य—साधर्म्य—समानधर्मता—समानता अर्थात् उक्त कुछ बातों में प्रकृति एवं पुरुष समान हैं। वैधर्म्य—विपरीत धर्मता—असमानधर्मता—असमानता अर्थात् उक्त कुछ बातों में प्रकृति एवं पुरुष समान नहीं हैं। बीजधर्मिणी—जैसे बीज में वृक्ष सूक्ष्मरूप से विद्यमान होता है और आगे चलकर इतना बड़ा रूप (शरीर) धारण कर लेता है वैसे प्रकृति से ही सब मूर्तिमान्—रूप उत्पन्न होते हैं। प्रसवधर्मिणी—प्रकृति में से ही सब पदार्थों का प्रसवजन्य-प्रादुर्भाव होता है। अमध्यस्थ धर्मिणी—सुख दुःख आदि ज्ञान—गुण से रहित। जड़ होने से ज्ञान शून्य। और पुरुष—अबीजधर्माणः—प्रकृति के समान बीज के धर्मवाले नहीं, चेतना धातु में से कुछ विलक्षण वस्तु उत्पन्न नहीं होती। अप्रसवधर्माणः—प्रकृति के समान उसमें से किसी पदार्थ का प्रसव नहीं होता। मध्यस्थधर्माणः—सुख दुःख आदि के ज्ञान से युक्त—ज्ञानी—ज्ञानाधिकरणं आत्मा—अनुभवी ॥९॥

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति, तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥१०॥

कारण के अनुसार ही कार्य होता है, श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र बनता है, इस न्याय से ये सब भूत भौतिक सम्पूर्ण कार्य, सत्त्व, रज-तमो रूप (सुख दुःख मोहात्मक) हैं। चूँकि उसी के समान आकार होने से तथा बुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण तन्मय होने से पुरुष भी सत्त्व, रज तमोमय होते हैं, ऐसा कई आचार्य मानते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कारण के अनुरूप-अनुकूल-समान रूप—मूर्तिवाला कार्य होता है यह कुछ विद्वानों का मत है सबका नहीं क्योंकि यह न्याय (सिद्धान्त)—अतिव्याप्ति रहित या निर्दोष नहीं है कारण के विरूप भी कार्य होते हैं यथा हरिद्रा-चूर्ण संयोग में लालिमा आदि आदि। इस सिद्धान्त को मानने-वाले निर्गुण पुरुष (आत्मा) को सगुण—सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों से युक्त होते देखे जाते हैं और वैसे भी वह पुरुष-सत्त्वादि गुणमय बना रहता है ॥१०॥

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥११॥

वैद्यक शास्त्र में तो उदार बुद्धिवाले (दूरदर्शी, संकुचित विचार न रखनेवाले) लोकस्वभाव (अर्थात् तत्तद्द्रव्य से प्रति-बद्ध सहजधर्म या गुण), ईश्वर, काल, यदृच्छा (अनेक प्रकार की अचानक घटनाओं को उत्पन्न करनेवाली शक्ति) नियति (धर्माधर्म जनित फल) तथा परिणाम इनको ही प्रकृति (उपा-दान कारण) मानते हैं। परन्तु वास्तव में कुछ तो कारण नहीं बन सकते और कुछ निमित्त कारण हैं[1]।

नापि संसरति कश्चित्।
संसरति-बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥
तस्मात् च विपर्य्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यमाध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥"
(२) "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावल्लिंगम् ॥"

१ "तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृताः विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥"

जिस प्रकार से कि एक ही स्त्री रूप, यौवन, कुलशील से युक्त होने पर स्वामी को सुखी करती है, सपत्नियों को दुःखी करती है, अन्य पुरुषों को मोहित करती है, इसी प्रकार से यह प्रकृति भी तीनों गुणवाली है। इसी प्रकार से स्फटिक मणि के पास रखा जासुदी का फूल स्फटिकमणि में चमकता है, बच्चा मणि में से फूल लेना चाहता है, इसी प्रकार से पुरुष के अत्यन्त समीप में आई प्रकृति में पुरुष के गुण चमकने लगते हैं—इसीलिये योगसूत्र में कहा है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।" जिस प्रकार से मैले दर्पण में मनुष्य अपना मुख देखकर चिन्ता करने लग जाता है, उसी प्रकार से सुख आदि का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ने पर अपने को सुखी अनुभव करता है। इसीलिये कहा है—

"तस्मिंश्चिद् दर्पणस्फोटसमस्तावस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥"

१ कुछ आचार्य इसका अर्थ इस प्रकार से करते हैं—

वैद्यक शास्त्र में विपुल बुद्धिवाले विद्वान् स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम इन छै को कारण मानते हैं। यथा—

स्वभाव—काँटों में तीक्ष्णता, मृग-पक्षियों के चित्र विचित्र रङ्ग, मरिच में कटुता स्वभाव से ही है।

ईश्वर—मनुष्य जड़ है, आत्मा-सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग-नरक में जाता है।

काल—काल ही सृष्टि की स्थिति प्रलय का कारण है—'कालः कलयतामहम् ॥'

यदृच्छा—जो स्वयं उत्पन्न हो जाता है—यथा तृण और अरणि के संयोग से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार संसार स्वयं बन जाता है।

नियति—धर्म-अधर्म ही सब की उत्पत्ति में कारण है।

परिणाम—प्रधान (प्रकृति) ही महद्-अहंकार आदि रूप में बदलकर सब को उत्पन्न करता है। आयुर्वेद शास्त्र में इन छै के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

वि० मन्तव्य—पृथुदर्शी एकग्रही-एकान्त ग्रहण करनेवाले या आग्रही नहीं होते अतः वे कोई एक ही प्रकृति (कारण) नहीं मानते अपितु अनेक कार्यों के अनेक कारण मानते हैं और यह उचित भी है। यदृच्छा—जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न हो जाता है वही उसका कारण मान लिया जाता है, दूसरे शब्दों में-अलक्षित कारण से कार्य की उत्पत्ति "यदृच्छा" कही जाती है। देखिये चि० अ० १८ श्लो० ४१=यद्यपि अर्बुद पकता नहीं है परन्तु कभी २ अदृष्ट कारण से पक भी जाता है ॥११॥

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥१२॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ।१३।

वास्तव में भूत (पञ्चमहाभूत) तन्मय (प्रकृतिमय) हैं। कार्य और कारण में भेद न होने से एवं प्रकृति के सत्व, रज, तम गुणोंवाले हैं—चूँकि कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं। इन महाभूतों से तल्लक्षण (भूतों के लक्षणों से युक्त)। सम्पूर्ण भूतग्राम (स्थावरजङ्गमात्मक) उत्पन्न हुए। इस भूतग्राम का सदा से ही चिकित्सा के लिए उपयोग किया जा रहा है। क्योंकि चिकित्साशास्त्र में भूतों से पर (श्रेष्ठ, क्षेत्रज्ञ, अव्यक्त आदि) का (जीवात्मा का) चिकित्सोपकरण रूप में विचार ही नहीं किया जाता है[1]।

वि० मन्तव्य—प्रकृति पुरुष (जड़ चेतन) मय भूतः-प्राणी हैं अतः वे भी प्रकृति पुरुष के गुणों से युक्त हैं और उन भूतों से-तल्लक्षण-भूतों के लक्षणोंवाला (वस्तुतः प्रकृति पुरुष के लक्षणोंवाला) समस्त भूत समूह (प्राणि जगत्) प्रादुर्भूत हुआ था और होता है-होता रहेगा। और चिकित्सा शास्त्र में इसी भूत समूह का उपयोग होता है अर्थात् चिकित्सा के उपकरण भी और उपकार्य भी यही भूत हैं और भूतों (प्राणियों) से परे-आगे-ऊपर-चिकित्सा शास्त्र में चिन्ता-विचार ही नहीं किया जाता या किया गया है—रोगी भी भूत है और वनस्पति, वानस्पत्य वीरुध् तथा ओषधी भी भूत है, और खनिज पदार्थ भी भूत परन्तु अन्य भूत से मिलकर क्रियाशील होते हैं अन्यथा नहीं। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः १-संस्वेदज, २-जरायुज, ३-अण्डज, ४ उद्भिज संज्ञः सू० सू० अ० १। अर्थात् स्वेद-प्राणी का और भूमि आदि का स्वेद, इससे प्रादुर्भूत-जूएँ, मच्छर आदि, जरायु-जेरखेड़ी में प्रादुर्भूत- मानव, गौ, घोड़ा आदि, अण्ड से प्रादुर्भूत-पक्षी, सर्प आदि और उद्भिज- बीज, पौदा, घास आदि से प्रादुर्भूत वृक्ष, पौदा, घास आदि। बस यही जगत्, संसार या सृष्टि है—गच्छति इति जगत्, संसरति इति संसारः (गम्लृ)-गतौ सृ-गतौ धातुः-जो गति करता है—ज्ञान, गति (चलना) तथा प्राप्ति करता है, प्राणि मात्र में यह तीनों गुण हैं, स्थावर प्राणी में गति-स्थानान्तर प्राप्ति भले ही न हो, पर वह भी—ज्ञान एवं प्राप्ति—आदान अवश्य करता है। इसी जगत् या संसार का विचार आयुर्वेद में किया गया है, आयुर्वेद दर्शन इसी को देखता है मानता है और समझता है ॥१३॥

यतोऽभिहितं—"तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः" (सू० अ० १); भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥१४॥

क्योंकि पहले कहा है कि—'पुरुष' के ग्रहण से ही पुरुष से उत्पन्न होनेवाले शुक्र शोणित आदि द्रव्यसमूहों (जिनका कारण पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत हैं) का भी ग्रहण हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र में इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषय शब्दादि भी भौतिक ही कहकर वर्णन किये जाते हैं[2]।

स्वभाव—
(१) अङ्ग-प्रत्यङ्ग-निर्वृत्ति-स्वभावादेव जायते।
(२) धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः॥
(३) स्वभावाल्लघवो मुद्गाः तथा लावकपिञ्जलः॥

ईश्वर—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। काल—'महाभूतविशेषास्तु शीतोष्णद्वयभेदतः। काल इत्यध्यवस्यन्ति''''॥"

यदृच्छा—यदृच्छाचोपगतानि पाकं, पाकक्रमेणोपचरेद् विधिज्ञः।

नियति (धर्माधर्म)—
(१) "ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम्।
(२) कर्मजा व्याधयः केचित्।

परिणाम—
(१) जाठराग्नेस्तु संयोगात् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥
(२) ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्ति।
(३) सम्यक्परिणतस्याहारस्य सारो रसः।
(४) बालानां वयःपरिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति।

ऊपर अर्थ कविराज हाराणचन्द्र के अनुसार दिया है।

---

१ यथा—लोको हि द्विविधः-स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्॥

२ कहा भी है—
खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्।
सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्॥

आयुर्वेद शास्त्र का इन्द्रियों के विषय में सांख्यशास्त्र से जो भेद है—उसको स्पष्ट करते हैं—सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से, भूतादि (तामसिक) अहंकार से पञ्चतन्मात्र की उत्पत्ति मानकर इनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी है। परन्तु आयुर्वेद में—

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में (यहाँ) श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भौतिक मानी जाती हैं और उनके शब्द आदि विषय भौतिक माने जाते हैं क्योंकि—॥१४॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

मनुष्य इंद्रियों द्वारा निश्चित इन्द्रिय के अर्थ (विषय) का ही ग्रहण करता है ! क्योंकि—इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय के कारण समान हैं। इसलिये अन्य विषय को इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है ॥१५॥

मनुष्य श्रोत्र द्वारा शब्द को ही सुनता है, गन्ध को नहीं ग्रहण कर सकता। चूँकि श्रोत्र तथा शब्द कारण समान हैं (आकाश ही दोनों की योनि है)। इसलिये आकाश गुण शब्द को ग्रहण करने के लिये आकाश इन्द्रिय चाहिये। इसलिये अनुमान द्वारा कह सकते हैं—

"घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गंधस्यैव व्यञ्जकत्वात्। कुंकुमगंधाऽभिव्यञ्जकघृतादिवत् ॥"

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति, आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं, त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' (सू० अ० १) इति, स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥१६॥

आयुर्वेद शास्त्र में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा पुरुष) को सर्वगत नहीं मानते अपितु नित्य कहते हैं और असर्वगत क्षेत्रज्ञों में नित्य कहते हैं। अणु आत्मा को प्रतिपादन करने के लिये पुरुष की नित्यता को बतानेवाले कारणों को कहते हैं[१]।

आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से धर्म और अधर्म के कारण ही असर्वगत (अणु) और नित्य क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा-आत्मा) तिर्यग्योनि-देवयोनि और मनुष्ययोनि में विहार करता फिरता है। इन आत्माओं को हम अनुमान द्वारा ही जान सकते हैं। ये आत्मायें अतिसूक्ष्म, चेतन, नित्य हैं। तथा शुक्र एवं शोणित के संयोग होने पर ही (जिस प्रकार कि सूर्यकांतमणि के लैन्स द्वारा घास के जलने पर ही सूर्य की किरणों को अनुमान द्वारा ही जानते हैं) स्पष्ट होती हैं। इसलिये कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग का नाम 'पुरुष' है और यही कर्मफल भोगी पुरुष चिकित्सा का अधिकरण है[१] ॥१६॥

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥१७॥

इस कर्मफल भोगी शरीर—आत्मा एवं मन का संयोग होने पर जो गुण उत्पन्न होते हैं—वे कहते हैं, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन का संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय (निश्चयात्मक बुद्धि) और विषय का ज्ञान (इन्द्रिय द्वारा) ये गुण हैं। ये सोलह गुण हैं, इन्हीं को 'कला' शब्द से उपनिषदों में कहा है। ये गुण आत्मा में रहते हैं—इसलिये गुणी को आत्मा कहते हैं ॥१७॥

सात्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च; राजसास्तु-दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च; तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥१८॥

मन के सात्विक आदि गुणों को कहते हैं—

आनृशंस्य (क्रूर कर्म का न करना, दया), संविभागरुचिता (बाँटकर खाने की इच्छा), तितिक्षा (द्वन्द्व सहिष्णुता) सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि (तत्काल विषय सूझना), मेधा (ग्रन्थावधारण शक्ति), धृति (धैर्य), स्मृति, अनभिषंग (अनासक्ति-निष्कामता) ये सात्विक गुण हैं।

दुःख की अधिकता, अटनशीलता (घूमने-फिरने की प्रवृत्ति), अधीरता, अहङ्कार, आनृतिकत्व (मिथ्यावचनशीलता) अकारुण्य (निर्दयता), दम्भ (छल-कपट), मान, हर्ष, काम और क्रोध ये राजस गुण हैं।

शब्दो विहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्त्तितः।
रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः॥

१ आत्मा को विभु माननेवाले यथा—
"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चनन्त्याय कल्पते।
विशुद्धे अन्तःकरणे आत्मानो विभुत्वं दर्शयति ॥" सत्-कारण रहित वस्तु नित्य है। भोज ने भी कहा है—
"शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतिः।
देहाद्देहान्तरं याति क्रमिवत् शाश्वतोऽव्ययः।
नित्य इत्युच्यते सद्भिः सन्न कारणवान् यतः ॥"

१ चरकसंहिता में कहा है—
"सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥"

विषादित्व (अप्रसन्नता), नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धि का कुन्द होना, अज्ञान, दुर्मेधा (दुष्ट बुद्धि), अकर्मशीलता (काम न करना आलस्य), निद्रालुत्व (निद्राधिक्य) ये तामसगुण हैं ॥ १८ ॥

आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च, तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमषस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च, आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च, पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥ १९ ॥

महाभूतों के गुणों को कहते हैं–शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), सम्पूर्णछिद्रता (अवकाश) तथा शिरा-स्नायु आदि का परस्पर पृथक् होना आकाश का गुण है। स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), नमन-उन्नमन आदि सम्पूर्ण चेष्टायें तथा सम्पूर्ण शरीर में स्पन्दन (गति का होना) एवं लघुता (हल्कापन) वायु का गुण है। रूप—रूपेन्द्रिय (आँख), वर्ण (गौरादि), संताप, भ्राजिष्णुता (दीप्तता) पक्ति (आहार की परिणति), अमर्ष (क्रोध), तीक्ष्णता (आशुक्रिया) और शौर्य (शूरता) अग्नि के गुण हैं। रस, रसनेन्द्रिय (जिह्वा), सम्पूर्ण दोष-धातु समूहों में द्रवत्व, भारीपन, शीतलता, स्नेह और रेतः (वीर्य) ये जल के धर्म हैं। गंध, गन्धेन्द्रिय (नासिका), सम्पूर्ण पदार्थों में काठिन्य, भारीपन पृथ्वी के धर्म हैं ॥ १६ ॥

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति।

इनमें आकाश सत्त्व प्रधान, वायु रज प्रधान, अग्नि सत्त्व एवं रज प्रधान, जल सत्त्व एवं तम प्रधान और पृथ्वी तम प्रधान है ॥ २० ॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ २१ ॥

दो श्लोक कहे भी हैं—ये पञ्चभूत परस्पर एक दूसरे में अनुप्रविष्ट (घुसे) हुए हैं। अर्थात् एक के धर्म दूसरे में भी आ जाते हैं[१]। यथा—आकाश का गुण शब्द वायु में, वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप गुण अगले भूतों में पहुँच जाता है। परन्तु अपने-अपने द्रव्य में ही इनके अपने विशेष गुण का प्रकाशन होता है ॥ २१ ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रतः ॥ २२ ॥

इस अध्याय में स्वतन्त्र (अपने सिद्धान्त से) और परतन्त्र (सांख्य-सिद्धान्त से) दृष्टि से आठ प्रकृतियाँ, और सोलह विकार तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का वर्णन संक्षेप में कर दिया है ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शुक्र और शोणित के संयोग से क्षेत्रज्ञ आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, यह प्रथम कहा है, इसलिये शुक्र और शोणित के स्वरूप को बताने के लिये इस अध्याय का अवतरण करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—इस शास्त्र में मानव प्राणी के शरीर की रचना तथा क्रिया का वर्णन है अतः उसीके शुक्र एवं शोणित का वर्णन इस अध्याय में किया गया है ॥ १,२ ॥

वात पित्त श्लेष्म-कुणप-ग्रन्थि-पूतिपूय-क्षीण-मूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥ ३ ॥

सब से प्रथम रोग की परीक्षा करनी चाहिये, इसके लिये दूषित शुक्र को कहते हैं—

वात, पित्त, कफ से दूषित, रक्त से दूषित (रक्त मिश्रित या रक्तिमा युक्त) कुणप (मुर्दे की गन्धवाला अथवा जिसमें शुक्रकीट मृत हो गये हों), ग्रथित (गाँठवाला), पूति (दुर्गन्ध युक्त), पूय (मवाद-पस युक्त), क्षीण (जिनका वीर्य क्षीण हो गया है), जिनके वीर्य में मल मूत्र की गन्ध आती है,

---

१ (१) अथवा सम्पूर्ण भूत परस्पर सब भूतों में प्रविष्ट हैं। अर्थात्-आकाश में—शब्द गुण के साथ पृथ्वी-जल-तेज और वायु के भी गुण प्रविष्ट हैं। परन्तु अणुमात्र में हैं, इसलिये स्पष्ट नहीं होते, जहाँ पर इनकी अधिकता रहती है, वहीं पर स्पष्ट होते हैं। गौतम ऋषि ने भी कहा है—'विष्टं ह्यपरं परेण'—एक भूत दूसरे अगले भूत में प्रविष्ट हुआ है।

(२) वायु का स्पर्श—अनुष्णशीत है। अग्नि के साथ मिलकर उष्ण स्पर्श, जल के साथ मिलकर शीत स्पर्श देती है।

जल में भी आकाश विद्यमान है, व्यापक होने से, जल में वायु भी विद्यमान है, बुलबुले उठने से, जल में अग्नि भी विद्यमान है, क्योंकि अग्नि वहाँ से उत्पन्न होती है (अद्भ्योऽग्निः), भूमि भी अणुरूप से जल में व्याप्त है। इस प्रकार से सब भूत परस्पर प्रविष्ट हैं।

ऐसे पुरुष संतानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते[१] ॥ ३ ॥

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः, मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्या इति ॥ ४ ॥

वायु के कारण शुक्र के दूषित होने पर वीर्य में लाल-काला वर्ण तथा वातजन्य-तोद, भेद आदि वेदनायें होती हैं। पित्त के कारण शुक्र के दूषित होने पर, पीला नीला वर्ण तथा ओष-चोष आदि वेदनायें होती हैं। कफ के कारण शुक्र के दूषित होने पर श्वेत वर्ण तथा कण्डू आदि वेदनायें होती हैं। रक्त के कारण दूषित शुक्र में मुर्दे के समान गन्ध तथा मात्रा में अधिक एवं रक्तवर्ण और ओष-चोष आदि वेदनायें होती हैं। कफ और वायु से दूषित वीर्य ग्रन्थि रूप (बहुत गांठवाला) हो जाता है। पित्त और कफ के कारण दूषित वीर्य दुर्गन्ध युक्त तथा मवाद मिश्रित होता है। पित्त और वायु के कारण से वीर्य क्षीण हो जाता है, क्षीण वीर्य के लक्षण प्रथम कह चुके हैं। सन्निपात के कारण वीर्य में मूत्र और मल की गन्ध आने लगती है[२]।

१ मल और मूत्र के वीर्य में आने से भगन्दर रोग होते हैं। जैसे कहा भी है—

"वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च।
भगन्दराः स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥"

२ चरकसंहिता में दोषों से दूषित वीर्य के लक्षण निम्न कहे हैं—

"फेनिलं तनु रूक्षञ्च कृच्छ्रेणाल्पञ्च मारुतात्।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते ॥
सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धिता।
दहल्लिंगं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गन्तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥" चरक०

शुक्रक्षय के लक्षण—शुक्रक्षये मेढ्रवृषणयोर्वेदनाऽशक्तिर्मैथुने, चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनञ्च॥ सु०सू०अ० १५।

शुक्राभाव (Aspermia), शुक्र का कम होना (Oligospermia), शुक्र का पतला होना (Hydrospermia), शुक्र में रक्त मिला होना (Hoemospermia), शुक्रकीट का निर्जीव होना (Necro zoospermia), शुक्रकीटों का कम होना (Oligo zoospermia), शुक्रकीटों का न होना (Azoospermia), शुक्र में पीलापन (Pyo-spermia) कहते हैं। विस्तार के लिये वैद्य जयदेव का सुश्रुत शारीर देखिये।

इनमें कुणप-ग्रन्थि-पूति-पूय-क्षीण-वीर्यवाले व्यक्ति कष्टसाध्य हैं। मूत्र-मलमिश्रित वीर्यवाले व्यक्ति असाध्य हैं। शेष, वात, पित्त, कफ रक्त से दूषित वीर्यवाले व्यक्ति साध्य हैं।

वि० मन्तव्य—वात, पित्त तथा कफ से दूषित शुक्र के स्खलन के समय उक्त वेदनायें होती हैं ॥ ४ ॥

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम्। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं, साध्यमन्यच्चेति ॥ ५ ॥

आर्त्तव भी वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों से, रक्त से, द्वन्द्वों से (वात, पित्त, वातकफ, पित्तकफ) और सन्निपात रूप से दूषित होने पर प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है। इस आर्त्तव में भी दोषों के अनुसार वर्ण और वेदनायें समझनी चाहिये।

इनमें भी कुणप, ग्रन्थि, पूति, पूय, क्षीण मूत्र, मल सदृश आर्त्तव असाध्य हैं और शेष साध्य हैं।

वि० मन्तव्य—वातादि से दूषित आर्त्तव में मासिक स्राव या प्रदर हो जाने पर उक्त वेदनायें होती हैं। इनमें भी कुणप, ग्रन्थि, पूति, पूय तथा क्षीण आर्त्तव कष्टसाध्य होते हैं और मूत्र पुरीषगन्धी असाध्य होते हैं। इस प्रकार आर्त्तव (शोणित) भी प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है ॥ ५ ॥

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः ॥ ६ ॥

कहा भी है—इनमें से आदि के (वात, पित्त, कफ) तीन शुक्रदोषों की स्नेहन-स्वेदन द्वारा (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, उत्तरबस्ति) तथा विशेष चिकित्सा-द्वारा और रसायन औषधियों से तथा उत्तरबस्ति द्वारा (दोषों के अनुसार) चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

पाययेत् तं नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ॥ ७ ॥
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम्।
ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं पालाशे वाऽपि भस्मनि ॥ ८ ॥
परूषकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम्।
प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥ ९ ॥
विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः।
स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम् ॥१०॥
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना।

कुणपगन्धी शुक्रदोष में वैद्य को चाहिये कि रोगी को धाय के फूल खदिर (खैर की छाल) अनार (की छाल) तथा अर्जुन की छाल से साधित घृत अथवा सालसारादिगण के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत रोगी को पिलावें। ग्रन्थिभूत (गांठदार) वीर्यदोष में

शठी (कचूर) द्वारा सिद्ध अथवा पलाशभस्म (पलाश की राख या पलाशक्षारजल) में साधित घृत पिलाना चाहिये। पूय-नामक वीर्यदोष में परुषकादि या वटादिगण द्वारा साधित घृत रोगी को पिलावे। क्षीणवीर्य की अवस्था में दोषादिविज्ञानीय में कहे स्वयोनिवर्धक द्रव्यों का उपयोग तथा क्षीणबलीय नामक अध्याय में कही विधि को बरतना चाहिये। मल मूत्र गंधि शुक्र-दोष में चित्रक, खस और हींग से साधित घी का प्रयोग करना चाहिये। शुक्रदोष से पीड़ित व्यक्ति को प्रथम स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन आदि कर्म करने के पश्चात् उत्तर-बस्ति का यथाविधि प्रयोग करना चाहिये[1] ॥ ७-१० ॥

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ॥११॥
शुक्रमिच्छन्ति, केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा।
विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ॥ १२ ॥

शुद्ध शुक्र की परीक्षा—

शुद्ध वीर्य—स्फटिक मणि के समान श्वेत (जरा-सी नीली झांई लिये), द्रव (तरल) स्निग्ध (चिकनाहट युक्त), मधुर (रस में) और मधु के समान गन्धवाला होता है। कई आचार्यों की मान्यता है कि शुद्ध वीर्य तिल तैल और मधु के समान वर्ण में तथा घट्ट होता है, ऐसा वीर्य प्रजा-उत्पादन में समर्थ है[1] ॥ ११,१२ ॥

क्षीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु।
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च ॥
ग्रन्थिभूते पिवेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च।
दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे ॥ १४ ॥
पिवेद्भद्रश्रयः क्वाथं चन्दनक्वाथमेव च।
शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम् ॥ १५ ॥
योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु।
अन्नं शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥ १६ ॥

आर्त्तवशुद्धि के लिये उत्तरबस्ति पर्यन्त शुक्रदोषों में कही चिकित्सा करनी चाहिये। वात, पित्त, कफ और रक्तजन्य आर्त्तव दोषों के लिये स्नेहन आदि कर्मों के साथ साथ योनि में कल्क, पिचु, पथ्य आचमन (योनिप्रक्षालन—वातादिदोष-हर, क्वाथ्य द्रव्यों से बने) का प्रयोग करना चाहिये। आर्त्तव के ग्रन्थि-युक्त होने पर पाठा, त्र्यूषण (त्रिकटु) और वृक्षक (इन्द्रजौ) इनका क्वाथ पीना चाहिये। यदि आर्त्तव दुर्गन्धित पूय के समान अथवा मज्जा के तुल्य हो तो भद्रश्रिय (हरि-चन्दन-व्यवहार में देवदारु) और चन्दन (श्वेत चन्दन) इनका क्वाथ पिलाना चाहिये[2]। वातादि एकदोषजनित आर्त्तव की शुद्धि के लिये शुक्रदोषनाशक पूर्वोक्त स्नेह स्वेदादि कर्म तथा योगों (रसायन, वाजीकरण, मूत्रदोषनाशकप्रयोग)—दोषों के अनुसार—प्रयोग करना चाहिये। आर्त्तवपीड़ा में—भोजन

---

१ (१) घृतसाधन का नियम—
यत्रादिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेहसंविधौ।
तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना ॥
क्वाथ्य से आठगुणा जल, शेष चतुर्थांश, घृत क्वाथ से चतु-र्थांश, कल्क घृत से चतुर्थांश है।

(२) चरक में—
वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः।
अभयामलकीयञ्च पैत्ते शस्तं विरेचनम् ॥
मागध्यमृतलौहानां त्रिफलाया रसायनम्।
कफोद्भवं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥
वाजीकरणीययोगैस्तैरुपयुक्तैः शुभैः हितम्।
रक्तपित्तहरैः योगैः योनिव्यापदिकैस्तथा ॥
दुष्टं तावत् यदा शुक्रं तदा तत् समुपाचरेत्।
घृतं यज्जावनायोक्तं च्यवनप्राश एव च ॥
गिरोजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषान् व्यपोहति ॥
तंत्रान्तरीय प्रयोग—अमृतसारलौह, अमृतप्राशघृत, गोधूमा-दिघृत देने चाहिये।

(३) धातकीघृत—आदि तीनों घी क्वाथ एवं कल्क में सिद्ध होंगे। मात्रा आधा तोला।

(४) सालसारादि, वटादि और परूषकादिगण के लिये सूत्र-स्थान देखिये।

(५) पलाशघृत—पलाशभस्म एक आढक, पानी छै आढ़क में सात बार छानकर एक आढ़क, पानी में एक प्रस्थ घी पकाना चाहिये।

रक्तगुल्म में पलाशघृत की विधि—पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा।

(६) उत्तरबस्ति के लिये चरकसिद्धिस्थान या संग्रह देखिये।

१ (१) चरक ने शुद्ध शुक्र के लक्षण निम्न कहे हैं—स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।

(२) स्फटिक मणि के समान श्वेत वर्ण शुक्र श्वेतगौर वर्ण संतान को, तैल वर्ण शुक्र कृष्ण वर्ण और मधु वर्ण शुक्र श्यामवर्ण संतान को उत्पन्न करता है। दिवार पर फेंका शुक्र नीचे नहीं बहता।

(३) वैद्य जयदेव ने 'मधुर' शब्द का अर्थ—Natural in Recation किया है। यथा—The semial fluid is viscie, Natural or Alkaline inrecation है। इसकी गन्ध खास होती है, जो किसी से नहीं मिलती। शुद्ध वीर्य का दाग साधारणतः धोने पर साफ नहीं होता।

२ आचमन—उत्तरबस्ति तथा योनिप्रक्षालन के लिये त्रिफ-लाक्वाथ बरतना चाहिये।

के लिये शालि साठी (हेमन्त धान्य), जौ, मद्य, तथा पित्त-वर्धक मांस हितकारी है॥ १३-१६ ॥

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ १७ ॥

शुद्ध आर्त्तव की परीक्षा—जो आर्त्तव खरगोश के रक्त के समान रङ्ग में तथा घनता में होता है, अथवा लाख के पानी के समान होता है, वस्त्र पर शुष्क हुआ आर्त्तव धोने से कपड़े पर धब्बा नहीं छोड़ता, वह रज गर्भ धारण करने के योग्य होता है[१] ॥ १७ ॥

तदेवाति प्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि ।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥ १८ ॥
असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा ॥ १९ ॥
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ।

यही आर्त्तव जब ऋतुकाल में भी अधिक मात्रा में आता है, अथवा अधिक दिनों तक चालू रहता है, या ऋतुकाल के दिनों के अतिरिक्त अन्य समय में भी आता है, और इस रक्त का रङ्ग आर्त्तव से भिन्न हो तो इसको असृग्दर (रक्तप्रदर) जानना चाहिये[२] ।

सब प्रकार के असृग्दर में—अङ्गों में टूटने की पीड़ा, गर्भाशय के समीप के अङ्गों में पीड़ा होती है । और यदि रक्त-प्रदर अधिक मात्रा में हो तो दुबलता, भ्रम (चक्कर आना), मूर्च्छा (बेहोशी), तम (आँखों के सामने अन्धकार), प्यास, दाह, प्रलाप पाण्डुता (शरीर का वर्ण पीला पड़ना), तन्द्रा एवं वातजन्य (आक्षेपकादि) रोग होते हैं ॥ १८,१९ ॥

१ चरक में—
"गुंजाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम् ।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमेव तत् ॥
मासान्निष्पिच्छदाहार्तिपञ्चरात्रानुबन्धि च ।
नैवातिबहुनात्यल्पं तदार्त्तवं शुद्धमादिशेत् ॥"

आर्त्तव का परिमाण साधारणतः ५ से १० औंस है, परन्तु अनिश्चित है ।

आर्त्तव की चारों स्थितियाँ, आर्त्तव के विषय में निम्न पुस्तकें देखिये—

धात्रीशिक्षा, सुश्रुत-शारीर जयदेव कृत पृष्ठ २५, Midwifery by Johnstone और हमारे शरीर की रचना ।

२ जीवरक्त और आर्त्तवरक्त में परीक्षा—
तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुक्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुक्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रभावानां कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं चेत् पित्तं, शुद्धं तु शोणितम् ॥
आजकल—मैनोरेजिया और मेटोरेजिया कहते हैं ।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक् ॥ २० ॥
रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ।

तरुणी (सोलह वर्षवाली), पथ्य सेवन करनेवाली, अल्प उपद्रवों से युक्त (निरन्तर स्राव का बहना-दुर्बलता आदि) रोगिणी में रक्तपित्त (तथा रक्तार्श एवं रक्तातिसार) की विधि से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २० ॥

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः ॥ २१ ॥
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः ।
पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने ॥ २२ ॥
क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ।
तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥ २३ ॥

वातादि दोषों के कारण आर्त्तव—वहाँ (गर्भाशय) की रक्तवाहिनियों के अवरोध हो जाने पर स्त्रियों में आर्त्तव की प्रवृत्ति नहीं होती । इसके लिये—मछलियाँ, कुलत्थी, अम्लरस, तिल, माष, सुरा हितकारी है । पीने के लिये मूत्र (गायों का मूत्र तीक्ष्ण होने से), उदश्वित् (अर्द्धोदक मिला तक्र), दधि, और शुक्त देना चाहिये । क्षीणार्त्तव के लक्षण[१] और चिकित्सा प्रथम दोषादिविज्ञानीय अध्याय में कह दी है । इसके साथ २ नष्टार्त्तव की भी चिकित्सा मिला लेनी चाहिये ॥ २१-२३ ॥

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च ॥ २४ ॥

इस प्रकार से दोष रहित वीर्यवान् पुरुष और शुद्ध आर्त्तव-वाली स्त्री ही उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥२४॥

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत् । किं कारणं ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद्दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखो, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् । दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत् । ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासः समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत् । तत् कस्य हेतोः ? ॥ २५ ॥

अष्टांग मैथुन से रहित ब्रह्मचारिणी स्त्री को चाहिये कि ऋतुकाल[२] के प्रथम दिन से ही दिन में सोना,

१ क्षीणार्त्तव के लक्षण—
"आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च ।
तत्र संशोधनाग्नेयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः ।" सु० सू०

२ ऋतुकाल —"ऋतुस्तु दृष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति, षोडशरात्रमित्यन्ये । शुद्धयोनिगर्भाशय आर्त्तवायाःमासमपि केचित् तद्वद् दृष्टार्त्तवाऽप्यस्तीत्यपरे ॥ अष्टांगसंग्रह ॥

आँखों में अञ्जन, रोना, स्नान, अनुलेपन (चन्दन आदि का शरीर पर लगाना), अभ्यंग, नखों का काटना, दौड़ना, ऊँचे हंसना, बहुत बोलना, ऊँचे शब्दों का सुनना, अवलेखन (कङ्घी से सिर साफ करना), वायु का सीधा झोंका, परिश्रम करना छोड़ देवे, क्योंकि—दिन में सोने से शिशु निद्रालु होता है, अञ्जन करने से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टिवाला, स्नान और अनुलेपन से दुःखशील, तैल की मालिश से कुष्ठी, नखों के काटने से दूषित नखवाला, भागने से चञ्चल, हँसने से श्यावदन्तक, श्यामवर्ण ओठ, तालु, जिह्वावाला, बहुत बोलने से प्रलापी (बकवादी), ऊँचे शब्द सुनने से बहरा, सिर खुजाने से गंजा, वायु और परिश्रम के सेवन करने से उन्मत्त (पागल) होता है, इसलिये इन बातों का त्याग करना चाहिये।

कुशा को विछाकर उसके ऊपर सोनेवाली, हाथ—मिट्टी के पात्र अथवा पत्ते पर हविष्य-(घी मिश्रित शालि-धान्य या दूध में संस्कृत गेहूँ आदि का) अन्न का भोजन करनेवाली स्त्री तीन दिन पति से अपनी रक्षा करे—अलग रहे। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हुई स्त्री उत्तम वस्त्र तथा सुन्दर आभूषण धारण करके, मङ्गल पाठ स्वस्तिवाचन करने के पश्चात् पति का दर्शन करे[1] ॥२५॥

यह सब किस लिये?

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥२६॥
ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं ह्येतमारभेत विचक्षणः ॥२७॥

ऋतुस्नात स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का दर्शन सबसे प्रथम करती है, उसी प्रकार के पुत्र को उत्पन्न करती है। इसलिये सबसे प्रथम पति का दर्शन करना चाहिये। इसके पश्चात् वैदिक कर्म को जाननेवाला याज्ञिक-पुत्रेष्टि विधि को (चरकोक्त-तन्त्राचार्यों द्वारा) आरम्भ करे। इस कर्म के उपरान्त बुद्धिमान् पति वक्ष्यमाण कार्य को करे ॥२६,२७॥

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामभिरभिविश्वास्य, विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२८॥

जो पुरुष एक मास तक ब्रह्मचारी रह चुका हो, वह घृत द्वारा स्निग्ध होकर पुत्रीय कर्म के पश्चात् सायंकाल घी और दूध से शालि चावलों को खाये। इसी प्रकार से एक मास तक ब्रह्मचर्य्य धारण की हुई स्त्री तैल से स्निग्ध होकर सायंकाल तैल, उड़द का भोजन करे। रात्रि में इस स्त्री को सामादि वचनों से शान्त करके पति स्त्री से सहवास करे। इस प्रकार से यदि पुत्र की कामना हो तो चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, दशमी और बारहवीं (आर्तवस्राव से) रात्रि में सहवास करनां चाहिये[1] ॥

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥२९॥

अतः परं-पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः, त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः ॥३०॥

इसमें भी उत्तरोत्तर तिथियों में आयु, आरोग्य, प्रजा, सौभाग्य, ऐश्वर्य, बल की वृद्धि होती है। इसके आगे पांचवीं, सप्तमी, नवमी और एकादशी रात्रि में पुत्री की कामनावाले पति पत्नी के सहवास के लिये उत्तम है। इनमें भी उत्तरोत्तर रात्रियाँ श्रेष्ठ हैं। शेष त्रयोदशी आदि रात्रियाँ निन्दित हैं[2] ॥

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमु-

---

बिना ऋतुदर्शन हुए भी गर्भ रह जाता है।

१ कहा भी है—

"नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णे शोणिते।
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा॥"

१ गर्भाधान के विषय में बहुत से भेद एवं नियम हैं। सधारणतः ऋतुकाल के समाप्त होने पर गर्भधारण करने की जो शक्ति गर्भाशय में रहती है, वह पीछे उतनी नहीं रहती। इसी कारण से १०-१५ दिन बाद किया गर्भाधान इतना विश्वास का नहीं होता, जितना पहिला। दूसरी बात-प्रथम दिनों में गर्भाधान करने से शिशु उतना पुष्ट नहीं होता, जितना कि पिछले दिनों में गर्भाधान करने से होता है। इसलिये पिछली उत्तरोत्तर तिथियों को आचार्य ने श्रेष्ठ बताया है।

(१) हमारे शास्त्र में गर्भाधान का समय रात्रि का माना है। उस समय भी दिये का मन्द प्रकाश रखना कहा है। जिससे कि आँख की कनीनिका ठीक रहती है। परन्तु डाक्टर कोवन आदि दिन का समय मानते हैं। यह हमारी दृष्टि में सहमत नहीं। साथ ही स्मृति का कथन है—'प्राणा एव प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।'

(२) सहवास से पूर्व स्त्री की अनुकूलता प्राप्त करनी आवश्यक है।

२ पुत्र और पुत्री के लिये यह साधारण नियम है। चूंकि युग्म तिथियों में स्त्री का रक्त घटा होता है और पुरुष का वीर्य चन्द्रमा के कारण बढ़ा होता है। अयुग्म तिथियों में इसके विपरीत होता है। इसका उदाहरण समुद्र का ज्वारभाटा है।

च्यते, द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा, तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति, चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेतद्द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपेयात् ॥३१॥

ऋतुमती स्त्री के साथ प्रथम दिन सहवास करने से मनुष्य की आयु कम होती है[1] और जो गर्भ रहता है वह प्रसवकाल में मर जाता है। ऋतुकाल के दूसरे दिन जो गर्भ रहता है, वह सूतिका घर में (दस दिन के भीतर ही) मर जाता है। ऋतु के तीसरे दिन जो गर्भ रहता है, वह असम्पूर्ण अंगों वाला और अल्पायु होता है। चौथे दिन जो गर्भ रहता है, वह सम्पूर्ण अंगों वाला और दीर्घायु होता है। बहते हुए रक्त में प्रविष्ट हुआ बीज गुणकारी नहीं होता। जिस प्रकार कि—बहती हुई नदी की धारा के विपरीत फेंकी हुई तैरनेवाली वस्तु वापस आ जाती है, उपर को नहीं जाती, उसी प्रकार से शुक्रकीट भी आर्त्तव के प्रवाह के साथ गर्भाशय से बाहर आ जाती है, गर्भाशय में नहीं पहुँचता। इसलिये ऋतु के तीन दिनों मे नियम पालन करनेवाली स्त्री से पृथक् रहना चाहिये। इसके पश्चात् (गर्भ न रहने पर) एक मास के उपरान्त सहवास करना चाहिये। जल्दी जल्दी सहवास करने से गर्भ स्थिर हुआ भी गिर जाता है।

वि० मन्तव्य—कभी २ या किसी २ स्त्री को बहुत थोड़ा या थोड़े समय के लिये आर्त्तवस्राव होता है इस दशा में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिन में भी गर्भाधान हो जाता है। और बहते हुए आर्त्तवस्राव में तो सहवास करने पर आर्त्तव के साथ ही शुक्र भी बह जाता है इसलिये तीन दिन तो सहवास करना ही नहीं चाहिये। आयुर्वेद में गर्भाधान के लिये ही सहवास का विधान है वासनापूर्ति के लिये नहीं ॥३१॥

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत् ॥३२॥

गर्भस्थिति होने पर वैद्य को चाहिये कि (स्त्री पुरुष के विभेदक लक्षणों के प्रकट होने से पूर्व अर्थात् दो मास से पूर्व ही) लक्ष्मणा, वटशुङ्ग (वटप्ररोह), सहदेवा, (वला भेद), अथवा विश्वदेवा (गांगेरुकी-गंगेरन) इनमें से किसी एक को दूध के साथ पीसकर पुत्र की कामना करनेवाली स्त्री के दक्षिणनासापुट में, तीन चार बूँदें डाल दे। कन्या की कामना करनेवाली स्त्री के वाम नासापुट में तीन-चार बूंदें डाल देनी चाहिये। स्त्री को चाहिये कि इनको थूके नहीं[1] ॥३२॥

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकम्।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥३३॥

जिस प्रकार ऋतुकाल, क्षेत्र (खेत), अम्बु (जल), और बीज के संयोग से अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार से विधिपूर्वक ऋतुकाल, क्षेत्र, (गर्भाशय), अम्बु (शोणित) और बीज (शुक्र) के परस्पर मिलने से निश्चित रूप में गर्भ रहता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३३॥

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः।
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणे हिताः ॥३४॥

इस प्रकार से रूपवान्, तेजस्वी, महान् पराक्रमी, दीर्घायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। ये सत्पुत्र ऋण से माता पिता को छुड़ाते हैं, तथा माता-पिता के लिये हितकारी होते हैं ॥३४॥

तत्र तेजोधातुर्वर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। 'यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवति' इत्येके भाषन्ते। तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥३५॥

इन पाँचों भूतों में तेज धातु, वह सब प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति में कारण है। यह तेज धातु जब

---

[1] ऋतुमती का लक्षण—"गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्न-शुक्र-शोणितगर्भाशयामृतुमतीं व्याचक्षते ॥ चरक० ॥

[1] (१) गर्भावस्था में स्त्री—पुरुष के लिंगों का निर्माण एक या १½ मास के पश्चात् होता है। इसलिये इस समय से पूर्व ही पुंसवन कर्म करना चाहिये। यथा चरक में कहा है—

"तस्मादापन्नगर्भायाः स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावात् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्।"

(२) लक्ष्मणा आदि का नस्य गर्भस्थान के लिये भी दिया जाता है। गर्भ रहने पर पुंसवन कार्य के लिये तीन मास तक प्रतिदिन या समय समय पर देते रहना चाहिये। यथा—

"पूर्वमौषधसहस्राभिहुतं कृत्वा मांगल्यदेशे गोः क्षीरेण पेषयित्वा तस्मात् त्रीन् बिन्दून् दक्षिणे नासापुटे दद्यात्। न निष्ठीवेत्तान् कण्ठप्राप्तान् सा पञ्च दिनानि पयसोदनमश्नीयात् तदूर्ध्वं ग्राम्यधर्मसेवनम्।

"पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छिता सदा।
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥"

गर्भोत्पत्ति (गर्भाधान काल) में जलीय धातु प्रधान होता है, तब गर्भ को गौर वर्ण करता है। जब तेज धातु पृथिवी धातु बहुल होता है, तब कृष्णवर्ण होता है। और जब पृथिवी, आकाश धातु प्रधान रहता है, तब कृष्णवर्ण रहता है। जब जल और आकाश धातु की बहुलता रहती है, तब गौर श्याम-वर्ण रहता है। कई आचार्यों का मत है, कि गर्भिणी स्त्री जिस वर्ण के आहार का अधिक मात्रा में सेवन करती है, उसी वर्ण की संतान उत्पन्न होती है[1]।

यदि चौथे मास में तेज दृष्टि भाग (चक्षु इन्द्रिय के आश्रय स्थान) में नहीं पहुँचता, तो शिशु जन्म से ही अन्धा रहता है। तेज धातु रक्त के साथ मिल जाये तो लाल आँखोंवाला, पित्त से मिल जाय तो पीली आँखोंवाला, कफ से मिल जाय तो श्वेत आँखोंवाला और वायु से मिल आय तो विकृत आँखों वाला शिशु उत्पन्न होता है[2] ॥३५॥

भवति चात्र—

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते।
विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥३६॥

कहा भी है—जिस प्रकार से जमा हुआ घृत अग्नि के पास रखने से पिघल जाता है, इसी प्रकार से पुरुषों के साथ सहवास करने पर इन्द्रियद्वयसंघर्षण द्वारा उत्पन्न उष्णिमा द्वारा विलीन आर्त्तव-स्त्रियों में प्रवर्तित होता है। इस क्रिया से मार्ग के शुद्ध होने पर शुक्रकीट और डिम्ब सुगमता से मिल जाते हैं।

वि० मन्तव्य—पुमान् समागम के बिना भी आर्त्तव की प्रवृत्ति होती रहती है परन्तु शुक्र संयोग के बिना गर्भाधान नहीं होता[3] ॥३६॥

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३७॥

शुक्र और शोणित (शुक्रकीट और डिम्ब) के अन्तःवायु (व्यान) द्वारा दो भाग होने पर दो जीव गर्भाशय में उत्पन्न होते हैं। इनको यम कहते हैं। ये अधर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। अथवा वायु के कारण दो शुक्रकीट और दो डिम्ब मिलकर यमसंतान को उत्पन्न करते हैं।

वि० मन्तव्य—दो से अधिक गर्भ भी उत्पन्न हो जाते हैं। यमगर्भ—परस्पर उदर अथवा पीठ पर से जुड़े भी रहते हैं। दो से अधिक गर्भ प्रायः जन्मते ही मर जाते हैं अथवा उनमें से कोई १-२ जीवित भी रहते हैं, जुड़े हुए भी जीवित रहते हैं। और किसी २ गर्भ के अधिक अंग भी होते हैं यथा—दो से अधिक ३-४ बाहु या टाँगें तथा १ से अधिक २ शिर आदि, किसी का गुद मार्ग ही नहीं होता अथवा अन्य कोई अवयव ही नहीं रहता ये भी प्रायः जन्मते ही मर जाते हैं। यम को जोड़ले जोड़े, यमक (ल) कहते हैं। कभी २ एक बालक और एक बालिका भी जन्मते हैं। जन्म में एक क्षण से लेकर कई दिन का अन्तर रहता है, यमलों के जरायु-नाल ही पृथक् २ होते हैं, इनमें कोई जीवित तो कोई मृत भी जन्मता है ॥३७॥

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥३८॥

माता-पिता के अत्यल्प बीज (शुक्र-शोणित) होने से 'आसेक्य' नामक नपुंसक संतान उत्पन्न होती है। इस आसेक्य पुरुष में शिश्न की उत्तेजना शुक्र को खाकर उत्पन्न होती है। अर्थात् यह आसेक्य पुरुष अपने मुख में अन्य पुरुष से मैथुन करवाकर क्षरित शुक्र को खाकर ही उत्तेजना प्राप्त करता है। इसका दूसरा नाम 'मुखयोनि' है।

वि० मन्तव्य—आसेक्यः—आसेचयितुं—शुक्रजनकद्रव्यैः तर्पयितुं योग्यः अर्थात् शुक्रजनक मकरध्वज (शिवशुक्र) तथा अश्वगन्धा आदि के सेवन द्वारा जो ध्वजोच्छ्राय (लिंग हर्ष) को प्राप्त करता है वह आसेक्य है ॥३८॥

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥३९॥

जो पुरुष दुर्गन्धित योनि में उत्पन्न होता है, उसका नाम 'सौगन्धिक' है। यह पुरुष योनि और शिश्न की गन्ध को सूँघकर बल प्राप्त करता है। इसका दूसरा नाम 'नासायोनि' है।

वि० मन्तव्य—साँड, कुत्ते आदि के समान ॥३९॥

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते।
कुम्भीकः स तु विज्ञेयः ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥४०॥

---

[1] वर्ण की उत्पत्ति के विषय में चरक में लिखा है कि—जिस जिस वर्ण तथा पराक्रम को संतान गर्भवती स्त्री उत्पन्न करना चाहे, उन उन जनपदों का मन से ध्यान करे। इसी के लिये सुन्दर हरिचन्दन से अंकित श्वेत बैल को देखना बताया है। देखिये चरक शारीर आठवाँ अध्याय।

[2] चरक में इस बात को बहुत ही खूबी से कहा है, यथा—"यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तस्य तस्यावयवस्य विकृतिर्जायते—नोपजायते चानुपतापाद् तस्माद् उभयोरुत्पत्तिः॥ चरक० शा० ४।

[3] जिस प्रकार कि लोहे के साथ चुम्बक की प्रीति है, पारे की मसूड़ों के तन्तुओं से, संखिये की आमाशय से, इसी प्रकार शुक्रकीट को डिम्ब से लगाव है। यही कारण है कि शुक्रकीट जहाँ भी होगा वहीं से डिम्ब उसे खींच लेगा।

जो पुरुष अब्रह्मचर्य्य के कारण स्त्रियों में उनकी गुदा में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है, उसे कुम्भीक जानना चाहिये। अथवा जो मनुष्य अपनी गुदा में मैथुन करवाकर शिश्न की उत्तेजना को प्राप्त करके—फिर स्त्रियों में प्रवृत्त होता है, इसका नाम 'कुम्भीक' है बिना अप्राकृतिक मैथुन के इसको शक्ति नहीं मिलती[1]। इसी का नाम गुदयोनि है।

वि० मन्तव्य—कुम्भीक को यह व्यसन होता है। इसका एक दूसरा भी रूप है यथा—बीजात् समांशात् उपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः (च० शा० अ० २)-अर्थात् माता-पिता के शोणित एवं शुक्र के समानांश होने तथा उपतप्त (विकृत) होने से जो सन्तान होती है वह स्त्रीलिंग (योनि-भग) तथा पुंलिंग (शिश्न) वाली तथा द्विविध-दोनों प्रकार के रेतस् वाली होती है इसको कभी पुमान् के साथ और कभी स्त्री के साथ सहवास की इच्छा होती है। इसको योनि भी होती है और शिश्न भी होता है। कुम्भीक इस इच्छा को अन्य पुमान् से स्वगुद में रति कराकर पूर्ण करता है इस क्रिया में कुम्भीक का शुक्र भी स्खलित हो जाता है ॥४०॥

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते।
ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयः षण्ढकं शृणु पञ्चमम् ॥४१॥

इसके आगे ईर्ष्यक को सुनो। जो पुरुष दूसरों के मैथुन को देखकर मैथुन में प्रवृत्त होता है, इसको ईर्ष्यक कहते हैं। बिना मैथुन देखे इसमें उत्तेजना नहीं होती[2]।

वि० मन्तव्य—यह सन्तान उनको उत्पन्न होती है जो नर नारी परस्पर की ईर्ष्या (असहिष्णुता-मनमुटाव) से अभिभूत होने पर फलतः मन्द हर्ष (मैथुनाभिलाष) से युक्त होकर गर्भाधान करते हैं ॥४१॥

आगे पाँचवें षण्ढक नपुंसक को सुनो।

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्ढसंज्ञितः ॥४२॥

जो पुरुष मोह (अज्ञान या स्वरस के लोभ) वश ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ स्त्री की भाँति (नीचे पुरुष और स्त्री ऊपर होकर) प्रवृत्त होता है, इससे जो पुत्र होता है, उसकी चेष्टा और आकार स्त्री के समान रहते हैं। इस अवस्था में पुरुष विपरीत बन्धन द्वारा क्रिया में प्रवृत्त होता है[3]।

वि० मन्तव्य—षण्ढ (हिजड़ा) को न योनि होती है और न शिश्न ही होता है परन्तु मैथुनाभिलाष तो होती है, फलतः वह स्वमूत्रमार्ग पर अथवा स्वगुद में अन्य पुमान् से....यह प्रायः स्त्री की वेषभूषा में रहता है। कोई ऐसे भी होते हैं जिनके शिश्न होता है या बहुत छोटा एवं दुर्बल होता है। स्तन नहीं बढ़ते ॥४२॥

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि।
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४३॥

यदि ऋतुकाल में स्त्री पुरुष की भाँति (पुरुष को नीचे रखकर) मैथुन करती है, उससे यदि कन्या उत्पन्न होती है, तो उसकी चेष्टायें पुरुष के समान होती हैं[1]।

वि० मन्तव्य—यह भी षण्ढ के समान होती है किसी २ को योनि भी होती है परन्तु अपूर्ण। यह प्रायः नर के समान वेषभूषा में रहती है। इसके स्तन भी कुछ या अपूर्ण बढ़ते हैं। इन दोनों प्रकार के षण्ढों को थोड़ी दाढ़ी एवं मोछ भी होती है किसी को नहीं भी। इनको नपुंसक या तृतीय प्रकृति कहा जाता है और चरक शा० स्था० अ० २ में—इन दोनों को नर षण्ढ एवं नारी षण्ढ कहा गया है। इनका उत्पादक बीज (शुक्र शोणित) मन्द शक्ति एवं अल्प होता है फलतः ये भी बलहीन एवं हर्षहीन होते हैं। यदि गर्भाशय में ही गर्भ के शुक्रस्रोत को वायु नष्ट कर डालता है तो "पवनेन्द्रिय" यदि शुक्रस्रोत के मुख अवरुद्ध हो जाते हैं तो "संस्कारवाही" माता के व्यवाय का प्रतिघात तथा पिता का शुक्र दुर्बल होने से "वक्री" वायु एवं पित्त की विकृति से—वृषण का नाश हो जाने से "वत्तिकषण्ढक" नामक गर्भ विकृतियाँ हो जाती हैं। च० शा० अ० २ देखिये। इनके अतिरिक्त—वन्ध्या, पूतिप्रजा तथा वान्ता नामक तीन स्त्रीव्यापद् और वन्ध्य, पूतिप्रज तथा तृणपुत्रिक (तृणपुत्तलिक या तृणपूलिक) नामक तीन पुरुष व्यापद् होती हैं ये दोष भी माता-पिता के शोणित शुक्र के विकार से गर्भोत्पत्ति काल में ही उत्पन्न हो जाते हैं। विवरण देखिये च० शा० अ० ४ में। ये सब अपूर्ण स्त्री पुरुष हैं अर्थात् न पूर्ण स्त्री और न पूर्ण पुरुष होते हैं ॥४३॥

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा।
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ढसंज्ञितः ॥४४॥

इनमें आसेक्य, सुगन्धि, कुम्भीक और ईर्ष्यक ये चार नपुंसक होते हुए भी शुक्रवाले (प्रजोत्पादन में समर्थ) हैं। षण्ढ नपुंसक शुक्र रहित (प्रजोत्पादन में असमर्थ) है ॥४४॥

---

१ कुम्भिल की उत्पत्ति—
"अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेदृतौ।
अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भिलस्तदा ॥"

२ ईर्ष्यक का लक्षण—
"इर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यार्थिनयस्यापि वदन्ति हेतुम् ॥"

३ षण्ढस्तु स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतस्वमेढ्रस्योर्ध्वप्रदेशे अपरपुरुषात् वीर्यच्युतिं कारयति।

१ स्त्रीरूपापि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनिघर्षणं करोति ॥

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः ।
हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ।४५।

शुक्रभक्षण आदि विरुद्ध अथवा विशेष स्वभाव द्वारा शुक्रवाही शिरायें हर्ष के कारण फूल जाती हैं, इसीलिये ध्वज (शिश्न) की उत्तेजना होती है। बिना उपर्युक्त कारणों के उत्पादक केन्द्र-मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड के केन्द्र उत्तेजित नहीं होते ॥४५॥

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥४६॥

सहवास के समय स्त्री और पुरुष की चेष्टायें, आहार, और आचार जैसे होते हैं, इनकी संतान में भी वैसा ही आहार आचार एवं चेष्टा रहती हैं।

वि० मन्तव्य—इसका विशद वर्णन-च० शा० अ० ८ में देखिये। और गर्भाधान के पूर्व माता पिता के आहार, आचार तथा चेष्टा का भला बुरा प्रभाव गर्भ पर पड़ता है॥

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन।
मुञ्चतः शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४७॥

जिस समय सम्भोग की इच्छावाली दो स्त्रियाँ काम से अभिभूत होकर परस्पर मिलती हैं, उस समय परस्पर शुक्र के मिलने से जो मांसपिण्ड बनता है, वह अस्थि रहित या कोमलास्थिवाला होता है[१]।

वि० मन्तव्य—वात्स्यायन काम सूत्र में इसे 'विसृष्टि सुख' कहा है, केवल शुक्र क्षरण-शुक्र विसर्जन का सुख पाने की इच्छा में दो नारियाँ तथा दो पुमान् परस्पर सहवास करते हैं। शुक्र धातु ही नारी तथा नर को मैथुन के लिये बाध्य करता हैं और उसके क्षरण में आनन्द का अनुभव होता है अतएव उपस्थ (योनि एवं शिश्न) का विषय-आनन्द (सु० शा० अ० १-६) माना है। नारी का शुक्र भी पुमान् के शुक्र का सा लसीला, श्वेत एवं विशिष्ट गन्धवाला होता है। यह भग की भित्तियों से स्रवता है। इससे गर्भाधान हो जाता है भले ही वह पैत्रिक गुणों से हीन होता है। वृषस्यन्ती कामुकी-कामातुरा का नाम है जो अपने शुक्र का विसर्जनमात्र करना चाहती है किसी भी प्रकार से ॥४७॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत् ।
आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥४८॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥४९॥

जो ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है, तो वायु आर्त्तव को प्राप्त करके कुक्षि में गर्भ रूप कर देती है। यह रुद्ध आर्त्तव गुल्म रूप में प्रतिमास बढ़कर गर्भ के लक्षणों को (जी मचलाना, आर्त्तव का न आना आदि) उत्पन्न कर देता है। यह गर्भ कलल के रूप में बदल जाता है, इसमें पिता के गुण (केश, नख, अस्थि, नहीं होते)[१]।

वि० मन्तव्य—पुमान् के समान स्त्री को भी स्वप्न दोष होता है और उसके शुक्र का क्षरण भी होता है इस शुक्र को कभी २ वायु लेकर गर्भाशय में पहुँचा देता है और तत्रस्थ आर्त्तव के साथ मिला देता है फलतः उक्त प्रकार का गर्भ हो जाता है ॥४८,४९॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये ।
गर्भास्त्वेते स्त्रियश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम् ॥५०॥

स्त्रियों के जो गर्भ सांप-बिच्छू, पेठे के समान विकृत आकृतियों वाले होते हैं, ये सब पापजन्य हैं[२] ॥५०॥

---

१ वास्तव में यह बात संगत नहीं—चूंकि स्त्रियों का शुक्र निरर्थक है—

"योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे ।
गर्भस्य तन्न किंचित्तु करोतीति न चिन्त्यति ॥'

१ रक्तगुल्म के लक्षण देखिये—चरक में इसके ही लक्षण मिलते हैं। इसी प्रकार चरक के शारीर में भी 'ओजोऽशनाना-मित्यादि' श्लोक देखना।....लेखक की धात्रीशिक्षा में गर्भ के लक्षण देखिये। जो स्त्रियाँ गर्भ के लिये अतिशय उत्कण्ठित रहती हैं, उनमें स्वयं आर्त्तव अवरुद्ध होकर गर्भ के लक्षण उत्पन्न कर देता है। परन्तु क्लोरोफार्म सुँघाकर उदर की परीक्षा करें, तो कोई लक्षण स्पष्ट नहीं होते।

२ आजकल साधारण तौर से विकृत भ्रूणों के निम्न रूप हैं। यथा—

(क) Hemitaria इसमें बौना, दैत्य शरीर, अत्यन्त छोटा सिर, दो गर्भाशय आदि होतें हैं।
(ख) Heterotaxia इसमें अवयव अपने स्थान पर नहीं होते।
(ग) Thratism बनावट की विकृति—
(१) Ectromelic monstor हाथ-पैर पूरी आकृति के नहीं होते।
(२) Symelic monstor—निचले अवयव मिले होते हैं।
(३) Celosomatic monstor—मध्य भाग बाहर को निकला होता है।
(४) Exencephalic-monstor—मस्तिष्क की बनावट ठीक नहीं होती।
(५) Pseudencephalic monstor—बृहत्मस्तिष्क नहीं होता।
(६) Anencephalic monstor—सम्पूर्ण मस्तिष्क नहीं होता।

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते ।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिण एव वा ॥५०॥

गर्भावस्था में गर्भ के अन्दर वायु का प्रकोप होने से अथवा गर्भवती स्त्री की श्रद्धा का खण्डन होने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (विकृत हाथोंवाला) पंगु (लङ्गड़ा), अथवा मूक (गूङ्गा) और मिन्मिन अस्पष्ट बोलनेवाला होता है ॥५१॥

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः ।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात् ॥५२॥

माता-पिता के नास्तिक होने से, अथवा पूर्वकृत अशुभ कर्मों से, अथवा वातादि दोषों के प्रकोप के कारण गर्भ विकृत हो जाता है ।

वि० मन्तव्य—नास्तिक्यात्—आयुर्वेदीय उपदेशों के अनुसार आचरण न करने से ॥५२॥

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च ।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५३॥

मल के अत्यन्त अल्प होने से, वायु और पक्वाशय का परस्पर संयोग न होने के कारण गर्भ-वायु, मूत्र और मल का त्याग नहीं करता[1] ।

वि० मन्तव्य—गर्भ का पोषण माता के आहार रस के द्वारा होता है अतः मलाशय में पुरीष का सञ्चय होता ही नहीं । मलाशय में वायु की गति भी नहीं होती अतः पुरीष का या तद्गत वायु का निःसरण भी नहीं होता, और अतएव मूत्र का निर्माण भी नहीं होता और न त्याग ही । तात्पर्य यह है भ्रूण के उक्त अवयव क्रियाशील ही नहीं होते, होने का आवश्यकता भी नहीं होती ॥५३॥

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते ।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥५४॥

जरायु द्वारा गर्भ का मुख बन्द होने से तथा गले में कफ रुका होने से, दोषजनक वायु का मार्ग रुका रहने से गर्भस्थ बालक रोता नहीं है ।

वि० मन्तव्य—भ्रूण के फुप्फुस भी क्रियाशील नहीं होते फलतः न श्वास लेता है, न बोलता एवं रोता है ॥५४॥

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽभिगच्छति ।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसंभवान् ॥५५॥

गर्भ के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्न आदि सब कार्य माता के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वर पर निर्भर रहते हैं । अर्थात् बच्चे का जीवन तथा मानसिक संकल्प आदि सब कुछ माता के साथ सम्बद्ध हैं । उनका प्रभाव बच्चे पर पड़ा रहता है ।

वि० मन्तव्य—जीवन के लिये अत्यावश्यक श्वास उच्छ्वास एवं जागरण स्वप्न आदि की प्राप्ति—गर्भ माता के ही श्वास आदि से कर लेता है ॥५५॥

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥५६॥

शरीर-अवयव-चरणादि की रचना-विशेष दूध के दाँतों का गिरना तथा नये स्थायी दाँतों का उत्पन्न होना, हथेली या पाँव के तलुवे में बालों का उत्पन्न न होना, ये सब कार्य स्वभाव से ही होते हैं[1] ।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेददर्शन में—स्वभाव को भी कारण माना है (शा० अ० १ सू० ११) ॥५६॥

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः ।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५७॥

जिन लोगों ने पूर्व जन्म में निरन्तर शास्त्राभ्यास के द्वारा अन्तःकरण को पवित्र कर लिया होता है, वे इस जन्म में सत्वबहुल होते हैं, इन पुरुषों को अपनी पूर्व जाति का स्मरण रहता है[2] ।

---

(७) Cyclocephalic monstor—नाक नहीं होती ।
(८) Octocephalic monstor—कान मिलकर एक हो जाते हैं ।
(९) Omphalositic monstor—हृदय नहीं होता ।
(१०) Double monstor—दो भ्रूण जुड़े होते हैं । इसके निम्न भेद हैं—
(i) Sternopagus—उरोऽस्थि मिली रहती है ।
(ii) Ischiopagus—श्रोणि प्रदेश पर जुड़े होते हैं ।
(iii) Cephalopagas—सिर जुड़े होते हैं ।
(iv) XiphoPagns—उरोऽस्थि का अधोभाग जुड़ा होता है । Syncephalic—शिर का कुछ भाग जुड़ा होता है । Monocephalic—सिर एक ही होता है । Synosomatie—शरीर एक देश से मिले होते हैं । monosomatic शरीर एक होता है । Double Parusitic monstor—एक भ्रूण दूसरे भ्रूण के बीच में होता है ।

१ गर्भ का पोषण माता के रक्त और अपरा से होता है, अतः शरीर की शुद्धि भी इन्हीं से हो जाती है । इसलिये पक्वाशय-बस्ति आदि अवयव कार्य नहीं करते ।

१ चरक में इसका उत्तर दूसरी प्रकार से दिया है—अर्थात्—जिस प्रकार मोम आदि के साँचे में स्वर्ण रजत आदि डालने पर साँचे के आकार के हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य की योनि में बीज के पड़ने से वह भी उस आकार में ढल जाता है ।

१ देखिये भगवद्गीता में 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव....' इत्यादि श्लोक ।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में—चेतनाधातु को नित्य माना है अर्थात् वह अनेक बार जन्म ग्रहण करता है अतः पूर्वजन्म की स्मृति भी कभी-कभी बनी रहती है ॥५७॥

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥५८॥

जिन कर्मों की प्रेरणा से मनुष्य इस शरीर को धारण करता है, तथा पूर्वजन्म में जिन गुणों का अभ्यास किया हुआ होता है, उन्हीं कर्मों तथा गुणों को इस जन्म में पाता है ।

वि० मन्तव्य—वर्तमान जन्म में उन गुणों–दुर्गुणों को शीघ्र ग्रहण करता है जो पूर्वजन्म में अभ्यस्त होते हैं ॥५८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो गर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पिछले अध्याय में कहा है कि चार वस्तुओं के संयोग से गर्भ रहता है, इसलिये इसको स्पष्ट करने के लिये गर्भावक्रान्ति (गर्भ का अवतरण) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात् (परस्परानुग्रहात्) परस्परानुप्रवेशाच्च ॥३॥

शुक्र सौम्य (सोमगुण-भूयिष्ठ) है और आर्त्तव-आग्नेय (अग्निगुणबहुल) है । इन दोनों अग्नि और जल के अतिरिक्त पृथिवी आदि शेष भूतों का भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सम्पर्क है । क्योंकि—पृथिवी आदि भूत परस्पर- एक दूसरे का उपकार करते हैं, एक दूसरे के अनुग्राहक हैं, एक दूसरे में घुसे हुए हैं, इसलिये इन तीन कारणों के कारण इनका इनमें प्रवेश है[1] ।

वि० मन्तव्य—शुक्र एवं शोणित दोनों पञ्च महाभूतात्मक होते हैं । परस्पराऽनुग्रहात्—परस्पर–एक दूसरे से अनुगृहीत-आकृष्ट होने से । शुक्र, शोणित एवं जीव के संयुक्त–मिश्रित पदार्थ का नाम "बीज" है । इसी बीज से शरीर का निर्माण होता है ॥३॥

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥४॥

स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज (उष्णिमा) को उत्पन्न करती है । यह तेज वायु के साथ मिलकर शुक्र को क्षरित करता है । क्षरित शुक्र (शरीर के सब अवयवों के प्रतिनिधियों को साथ में लेकर) योनि में पहुँचता है । वहाँ आर्त्तव के साथ मिल जाता है । इसके पश्चात् आग्नेय तथा सोमगुण के सम्बन्ध से बनता गर्भ गर्भाशय में पहुँचता है । इसके साथ में क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाचक शब्दों से कहा जानेवाला अक्षय, अव्यय (निर्विकार) अचिन्त्य, रूप (आत्मा) भूतात्मा तथा सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ, या लिंग शरीर के साथ अपने कर्मों के अनुसार सत्त्व, रज, तम, तथा दैव, आसुर, पशु भावों से युक्त हुआ वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर स्थिति करता है[1] ।

वि० मन्तव्य—क्षेत्रज्ञ शरीर भर को जाननेवाला, वेदयिता–सुख दुःख का अनुभव करनेवाला (कुछ दर्शनों के अनुसार मन को अनुभव करानेवाला), स्प्रष्टा–स्पर्श का अनुभव करनेवाला, घ्राता--सूँघनेवाला, द्रष्टा–देखनेवाला, श्रोता–सुननेवाला, रसयिता--रस का ज्ञान करनेवाला, पुरुष—पुरि-शरीरे शेते–शरीर में शयन करनेवाला या पूरुषः—शरीर का पूरण-आप्यायन करनेवाला, स्रष्टा--रचना सृष्टि करनेवाला अपने शरीर की रचना करनेवाला या अगली सन्तान की सृष्टि करनेवाला, गन्ता-चलनेवाला, साक्षी--ज्ञाता, धाता—धारण पोषण का कारण, वक्ता--बोलनेवाला, अक्षय--न घटनेवाला, अव्यय--विकृति-रूपान्तर को प्राप्त न होनेवाला, अचिन्त्य--मनस् द्वारा जिसका चिन्तन नहीं हो सकता । भूतात्मा–मनस् । अक्ष–इन्द्रियाँ । गर्भाशयं अनुप्रविश्य अवतिष्ठते–गर्भाशय में जाकर उसमें चिपक जाता है और वहाँ चिपकता है जहाँ से रजस् की प्रवृत्ति होने में क्षत हुआ रहता है ॥४॥

---

१ विस्तार के लिये देखिये प्रश्नोपनिषद् में–"भगवन् कुतेमाः प्रजायन्ते । सहोवाच—प्रजापतिर्हि प्रजाकामो स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्च । इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यन्ते । रयिरेव चन्द्रमाः प्राण एव सूर्यः ।" इत्यादि ।

१ शुक्र सम्पूर्ण सिर से नख तक के अवयवों का सार है । इसमें सब शरीर के प्रतिनिधि मिले रहते हैं । इस शुक्र के साथ ही आत्मा भी अवतरण करता है । आत्मा के साथ पूर्वजन्म-कृत कर्म भी शरीर में अवतरित होते हैं । इस शुक्र को नियमित करने वाले सुषुम्ना और मस्तिष्क केन्द्र हैं । शुक्र के साथ पौरुषग्रन्थि तथा अन्य ग्रन्थियों के भी स्राव मिले रहते हैं । यह शुक्र डिम्ब से मिलकर गर्भ को बनाता है ।

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ॥५॥

शुक्र की प्रबलता—अधिकता होने से पुरुष, आर्त्तव की प्रबलता–अधिकता होने से स्त्री, और दोनों की समानता रहने से नपुंसक संतान उत्पन्न होती है।

वि० मन्तव्य—यह एक मत है इस विषय में अन्य मत-विचार भी हैं। यथा—श्लो० १२ देखिये ॥५॥

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥६॥

रजोदर्शन के पश्चात् ऋतुकाल बारह दिन तक रहता है। कई आचार्यों का मत है कि रजोदर्शन न होने पर भी ऋतुकाल होता है। गर्भस्थिति की योग्यता की परीक्षा के लिये ऋतुधर्म को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। मासिक धर्म के बिना भी ऋतुधर्म रह जाता है, क्योंकि—

वि० मन्तव्य—किसी २–लाखों में किसी एक स्त्री को रजोदर्शन होता ही नहीं परन्तु गर्भाधान होता है। ७-८ वें श्लोक में इसी के लक्षण लिखे हैं। यद्यपि ये सब लक्षण दृष्टाऽर्त्तवा के भी देखे जाते हैं। ऋतु—गर्भाधान का समय—उत्तम समय। कभी २ इस समय के पश्चात् भी गर्भाधान हो जाता है। परन्तु वह–उत्तम गर्भ नहीं होता है ॥६॥

भवन्ति चात्र—

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ॥७॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम्।
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥८॥

कहा भी है—

ऋतुमती के लक्षण—जिस स्त्री का मुख पुष्ट तथा प्रसन्न हो, आत्मा (शरीर) मुख और दाँत (मसूड़े), विशेष रूप में क्लिन्न हो जायें, जो पुरुष की इच्छा करती हो, प्रिय वचन बोलती हो, कुक्षि, आँख और बाल शिथिल हों, जिसकी भुजायें, कुच, श्रोणि, नाभि, ऊरु, जघन और नितम्ब में स्फुरण होता हो, जिसको हर्ष एवं उत्सुकता रहती हो, उसे ऋतुमती समझना चाहिये ॥७,८॥

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं तथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥९॥

दिन के व्यतीत होने पर सायंकाल में जिस प्रकार कमल फूल बन्द हो जाता है, उसी प्रकार से ऋतुकाल व्यतीत होने पर स्त्री की योनि का मुख बन्द हो जाता है। योनि का मुख बन्द होने से वीर्य गर्भाशय तक नहीं पहुँचता।

वि० मन्तव्य—परन्तु शुक्र इतना सूक्ष्म होता है कि कभी२ गर्भाशय में प्रविष्ट हो ही जाता है और हो सकता है ऋतुकाल के पश्चात् भी किसी गर्भाशय का मुख खुला रह जाता हो। यह सत्य है कि—अधिकांश गर्भाधान ऋतुकाल में ही होते हैं। योनि शब्द गर्भाशय का भी नाम है और व्यवहार में भग का भी। ऋतुकाल व्यतीत होने पर गर्भाशय का मुख संकुचित हो जाता है, योनि-भग या अपत्य पथ का मुख बन्द नहीं हो जाता। पाठक ध्यान दें ॥९॥

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विवर्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥१०॥

एक मास तक परिपक्व होता हुआ आर्त्तव (डिम्ब) समय पर वायु द्वारा धमनियों में से होकर योनिमुख की ओर लाया जाता है। इसी समय गर्भाशय की धमनियों से भी रक्त बाहर आता है। यह रक्त किंचित् कृष्ण तथा विकृत गन्धवाला होता है[1] ॥१०॥

तद्वर्षाद्द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥११॥

यह रक्त बारह साल की आयु से प्रारम्भ होता है और वृद्धावस्था के कारण शरीर का परिपाक होने पर पचास वर्ष की आयु में नष्ट हो जाता है। यह समय रजोनिवृत्ति का है ॥११॥

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला।
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥१२॥

ऋतुकाल के युग्म (समसंख्यक) दिनों में मैथुन करने से पुत्र उत्पन्न होता है और अयुग्म दिनों में संयोग करने से कन्या उत्पन्न होती है। इसलिये संतान की इच्छावाले पुरुष को चाहिये कि वह पवित्र होकर पुष्पकाल (ऋतुसमय) में सहवास करे[2] ॥१२॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि–श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ॥१३॥

जिस स्त्री ने अभी गर्भ ग्रहण किया हो उसके लक्षण निम्न हैं– श्रम (थकावट), ग्लानि (दिल का मचलाना), प्यास, टांगों

---

१ मासिक धर्म में जो रक्त आता है, उसका स्वरूप मसूड़ों से बहनेवाले रक्त से मिलता है। इसमें योनि, गर्भाशय के एपीथिलियम होते हैं। यह रक्त जमता नहीं, इसका रङ्ग काला होता है। यह आर्त्तव कभी चालीस वर्ष से पूर्व बन्द हो जाता है, और कभी ५० के बाद भी चालू रहता है।

२ विदेह ने भी कहा है—"युग्मेषु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् पुमांसं सा प्रसूयते। अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद् बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते॥" इसी प्रकार भोज ने भी कहा है।

में शिथिलता, शुक्र और शोणित का रुक जाना, और योनि का स्फुरण (Pulsation) आदि लक्षण होते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—शुक्र एवं शोणित का अवबन्ध—बद्धमिलित—मिश्रित हो जाना—मिल जाना फलतः बाहर न निकलना—जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन मैथुन के पश्चात् शुक्र बाहर नहीं निकलता अपितु गर्भाशय में ही रह जाता है अन्य दिनों में निकल जाता है। गर्भाधान होते ही योनि—गर्भाशय में स्फुरण होने लगता है। बहुशः प्रसूता तत्काल उसका अनुभव कर लेती है। यह वही स्फुरण है जिसे वेद में "सोऽस्फुरत्" वह स्फुरित होने लगा। यही स्फुरण जीवन भर रहता है। इसी से शरीर की-गर्भ की—वृद्धि होने लगती है ॥१३॥

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥१४॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥१५॥

गर्भिणी के लक्षण—

स्तनमुखों का काला होना, लोमहर्ष, आँखों की पलकों का विशेष रूप से बन्द होना, बिना इच्छा के वमन होना, शुभ, गन्धों से उद्विग्नता (घबराहट) होना, मुख से लाला बहना और अंगों में शिथिलता होना गर्भिणी के लक्षण हैं[2]।

वि० मन्तव्य—स्तनों के मुखों में दूसरे तीसरे मास में कृष्णता व्यक्त हो जाती है। छर्दि—किसी २ को, कभी २, किसी २ गर्भाधान में प्रथम दिन से प्रसव पर्यन्त होती है और किसी को एक दो, दस बीस बार। मासिक रजः स्राव भी बन्द हो जाता है परन्तु किसी २—लाखों में एक को प्रसव पर्यन्त नियमित रूप से होता रहता है और गर्भ को कोई हानि भी नहीं पहुँचती। उदर धीरे २ बढ़ने लगता है ज्यों २ गर्भ बढ़ता है त्यों त्यों। इसी प्रकार स्तन भी बढ़ने लगते हैं। किसी २ के पाँव में शोफ तथा विदाह भी होता है ॥१४,१५॥

तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ॥१६॥

जिस समय से ही गर्भस्थिति के लक्षण स्पष्ट हो जायें, उसी समय से अर्थात् प्रथम मास से ही व्यायाम, व्यवाय (मैथुन) अपतर्पण (शरीर को तृप्त-पुष्ट न करनेवाला आहार-विहार), अतिकर्षण (कृश करनेवाला), दिन में सोना, रात्रि में जागना, शोक, सवारी (घोड़े आदि) पर चढ़ना, भय, उत्कट आसन (उकड़ू बैठना), इनको एकदम से त्याग कर देना चाहिये। असमय में स्नेहादि क्रिया, रक्तमोक्षण तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को नहीं रोकना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—व्यवाय आदि के सेवन से—गर्भ-गर्भाशय में ही मर जा सकता है, उसका स्राव अथवा पात अथवा शोष हो सकता है। अधिक जानने के लिये देखिये च० चि० अ० ८-२२। और देखिये इसी स्थान का १० वाँ अध्याय ॥१६॥

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥१७॥

वात आदि दोषों तथा आघात के कारण गर्भिणी का जो भाग या अंग पीड़ित होता है, गर्भस्थ शिशु के भी वही अंग तथा भाग पीड़ित होते हैं ॥१७॥

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते; द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते, यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निवर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति; चतुर्थे सर्वांगप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते। दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥१८॥

शुक्र और आर्त्तव का संयोग होने के पीछे प्रथम मास में कलल (बुद्बुदाकार) रूप गर्भ होता है। दूसरे मास में शीत (कफ) और उष्म (पित्त) एवं अनिल (वायु) द्वारा पंचमहाभूतों के संघात का परिपाक होने पर गर्भ घन (ठोस) हो जाता है। यदि यह घन पिण्डाकार (गोल) हो तो पुरुष, यदि पेशी के आकार में (लम्बा-चार कोनों वाला) हो तो स्त्री, यदि अर्बुद (सिम्बल के फूल—Tumour) के आकार में हो तो नपुंसक समझना चाहिये। तीसरे महीने में दो हाथ दो पाँव और शिर को बतानेवाली पिण्डकायें (निशान) बन जाते हैं, शेष अंगों प्रत्यङ्गों का विभाग अतिसूक्ष्म रहता है। चौथे मास में सब अङ्गों-प्रत्यङ्गों की बनावट अधिक स्पष्ट हो जाती है। गर्भ के हृदय के स्पष्ट होने (हृदय की धड़कन के स्पष्ट सुनाई देने) से

१ चरक ने भी कहा है—"तृप्तिश्च बीजग्रहणञ्च योन्यां गर्भस्य सद्योनुगतस्य बिम्बम्"।

२ चरक ने भी कहा है—'आर्त्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषः छर्दिररोचकोऽम्लकामता च' इत्यादि।

१ विस्तार के लिये लेखक की धात्रीशिक्षा पुस्तक देखिये।

चेतना (आत्मा-चेतना) धातु स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि-चेतना का स्थान हृदय ही है। इसलिए चतुर्थ मास में गर्भ इन्द्रियों के विषयों में चाह (इच्छा) करने लगता है। अतः स्त्री को दो हृदयवाली होने से—"दौहृदिनी" कहते हैं। दौहृद (गर्भवती) की इच्छा का प्रतिघात होने से संतान कुबड़ी, कुत्सित हाथों वाली, एक टांग से लंगड़ी, जड़, नाटी, विकृत आँखोंवाली, अथवा अन्धी उत्पन्न होती है। इसलिये गर्भिणी जिस जिस वस्तु की इच्छा करे वह-वह इसको देनी चाहिये। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से संतान वीर्यशाली और चिरायु होती है[1]।

वि० मन्तव्य—यदि दुर्भाग्य से दूसरे मास में गर्भस्राव हो जाता है तो पिण्ड, पेशी अथवा अर्बुद जैसा गर्भ गिरता है और यदि मृत गर्भिणी का शवच्छेदन किया जाय तो देखा जा सकता है और गर्भिणी अत्यन्त कृश हो तो चतुर दाई स्पर्श द्वारा अनुमान लगा सकती है अथवा "एक्सरे" द्वारा देखा जा सकता है। इसके पश्चात् भी गर्भस्राव-पात होने पर गर्भ के आकारों का ज्ञान होता है। चौथे मास से गर्भ हिलता-डुलता भी प्रतीत होने लगता है। दापयेत्—दिलावे—अर्थात् गृह-चिकित्सक घरवालों से कह सुनकर अवश्य दिलावे। चतुर्थ मास में गर्भवती को विशेष प्रकार की उत्कट इच्छा-अभिलाषा हुआ करती हैं इनको घर की बड़ी बूढ़ियाँ समझ लेती हैं कि यह दौहृद है—गर्भ एवं गर्भिणी की सम्मिलित इच्छा है। दौहृद = दो हृदयों का भाव। दौहृद को "दोहद" कहते हैं॥

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्॥१९॥
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥२०॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना।
प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये॥२१॥

कहा भी है—

गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के जिस जिस विषय का भोग करना चाहती हो, वैद्य को चाहिये कि गर्भहानि के भय से उन-उन पदार्थों को लाकर गर्भिणी को देवे। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से गुणशाली पुत्र उत्पन्न होता है। और स्त्री की इच्छा के पूर्ण न होने से गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) ही विकार आ जाता है। गर्भवती स्त्री की जिन जिन विषयों में पूर्ति नहीं होती, पुत्र की उन्हीं २ इन्द्रियों में पीड़ा होती है। वही वही इन्द्रिय बच्चे की खराब रहती है॥१९-२१॥

राजसंदर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥२२॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात्।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते॥२३॥
आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम्।
दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते॥२४॥
गोधामांसाशने पुत्रं सुषुप्सुं धारणात्मकम्।
गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा॥२५॥
माहिषे दौहृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्।
वराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं संजनयेत् सुतम्॥२६॥
मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम्।
सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात्॥२७॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौहृदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति॥२८॥

जिस गर्भवती स्त्री को राजा के दर्शन की इच्छा होती है, वह धनवान् और भाग्यशाली कुमार को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को दुकूलपट्ट (क्षौमवस्त्र), तथा कौशेय (रेशमी) वस्त्र एवं आभूषण आदि की चाह होती है, वह अलंकार प्रिय एवं सुन्दर पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को तपस्वियों के निवास स्थान में रहने की इच्छा होती है वह धर्मात्मा एवं संयमी पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को देवताओं की प्रतिमा को देखने की इच्छा होती है, वह पार्षद (सभा में प्रशस्त पुरुष-सभ्य) के समान पुत्र को उत्पन्न करती है[1]। जिस स्त्री को हिंसक पशुओं को देखने की इच्छा होती है वह हिंसाशील पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को गोह का मांस खाने की इच्छा होती है वह सोने की इच्छावाले एवं दौड़नेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है[2]। जिस स्त्री को गोमांस की इच्छा होती है वह बलवान् एवं सब क्लेशों को सहनेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को भैंस के मांस में अभिरुचि होती है वह शूरवीर, लाल आँखोंवाले तथा बालों-वाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को वराह (सुअर) मांस की इच्छा होती है वह सोनेवाले एवं शूरवीर पुत्र को

---

१ रघुवंश के तीसरे सर्ग में सुदक्षिणा की चाह को पूर्ण करने का वर्णन कालिदास ने किया है। इसी प्रकार गर्भवती सीता को वन की शोभा देखने के लिये रामचन्द्र जी ने भेजा था।

१ पार्षद का अर्थ हाराणचन्द्र जी ने—रुद्र के अनुचर, किया है। कहा भी है—"रुद्रैर्बलाढ्यैर्वृषभाधिरूढैः सपार्षदैरम्बरमापुपूरे"।

२ कहीं पर 'धारणात्मकम्' यह पाठ है—हाथ में पकड़कर न छोड़नेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है।

उत्पन्न करती है। जिस स्त्री की मृग मांस में रुचि होती है वह विक्रांत (उद्योगी), जंघाल (जोर से दौड़नेवाला) तथा सदा वन में घूमनेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है। सृमर (मृग भेद या चंवर) मांस की इच्छावाली स्त्री चंचल मनवाली संतान को, तीतर के मांस की इच्छावाली स्त्री डरपोक संतान को उत्पन्न करती है इनसे अनुक्त = न कहे पदार्थों में गर्भवती स्त्री जिस जिस प्रकार की कामना करती है, वह उन्हीं पदार्थों के समान शरीर-आचार और स्वभाववाली संतान को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—विक्रान्त—लम्बी डग भरनेवाला या छलांग मारनेवाला, जङ्घाल—लम्बी टाँगोंवाला ॥२२-२८॥

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्।
यथा तथा दैवयोगाद्दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥२९॥

पूर्वजन्म के कर्मों के कारण से ही बालक का भविष्य(जन्म अगला शरीर) बनता है। इसी प्रकार दैवयोग (प्राक्तन कर्मों के कारण) से ही हृदय में दोहद (इच्छा) उत्पन्न होती है॥२९॥

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्, नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥३०॥

पांचवें मास में मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है (क्रियाशील हो जाता है)। छठे मास में बुद्धि और सातवें मास में सब अंग-प्रत्यंग का विभाजन अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है। इस मास में यदि बालक उत्पन्न हो जाये तो वह जीता नहीं क्योंकि इसके ओज को निर्ऋति (राक्षस) छीन लेते हैं, अतः मांस और चावलों की बलि निर्ऋति के लिये देनी चाहिये[1]। आठवें मास के बाद नवम-दशम-ग्यारह और बारहवें किसी एक मास में प्रसव हो जाता है। इसके आगे गर्भ की विकृति समझनी चाहिये[2]।

वि० मन्तव्य—ज्यों ही आठवें मास में प्रसव होने लगे त्योंही मांसोदन की बलि दे देना चाहिये। कौमारभृत्य का कथन है अष्टम मास में जन्म लेनेवाले के ओज को राक्षस खा जाते हैं शेष देखिये उ० तं० अ० ३७। चरक का कथन है कि—अष्टम मास में गर्भ माता से और माता गर्भ से—रसवाहिनियों द्वारा बार-बार ओजस् को परस्पर आदान-प्रदान करते रहते हैं, फलतः ओजस् के अनवस्थित रहने के कारण उस मास में गर्भ का जन्म व्यापत्तिमान् होता है। च० शा० अ० ४। सातवें मास में जन्मा जीवित रहता है भले ही कुछ दुर्बल एवं कृश रहता है। १२ मास के पश्चात् भी उपविष्टक एवं नागोदर नामक गर्भ गर्भाशय में पड़े रहते हैं, चिकित्सा करने अथवा स्वतः पोषण प्राप्त होने पर—कई वर्ष पश्चात् जन्मते हैं। देखिये च० शा० अ० २ तथा अ० ८ ॥३०॥

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥३१॥

माता की रसवहा नाड़ी में गर्भ की नाभिनाड़ी बँधी होती है। यह गर्भनाभि-नाड़ी माता के आहार-रस-वीर्य को बालक में पहुँचाती है। इस नाड़ी द्वारा उपस्नेहन-पोषण मिलने के कारण गर्भ बढ़ता है। योनि में शुक्रसिंचनरूपी गर्भाधान क्रिया से प्रारम्भ करके जब तक संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में—तिर्यग् रूप में व्याप्त रसवहा धमनियों द्वारा ही उपस्नेहन होने से गर्भ जीवित रहता है[1]।

वि० मन्तव्य—रसवहा—रसमय रक्तवहा नाड़ी-नाली सिरा—जो गर्भाशय का तर्पण करती है और जो "त एव रक्तं अभिवहतः विसृजतः च नारीणां आर्त्तवसंज्ञम्" सु० शा० अ० ९-७ में वर्णित हैं यह वाम दक्षिण भाग में दो हैं। जो गर्भ के पूर्व तथा पश्चात् आर्त्तव का वहन एवं विसर्जन करती हैं वे ही गर्भाधान हो जाने पर—गर्भ का पोषण करती हैं। भोज के शब्दों में-गर्भ उन रसमय रक्त के स्रोतों को रोक देता है-फलतः मासिक रजःस्राव नहीं होता परन्तु उस रसमय रक्त से—जरायु का

---

१ ओज-जब माता में पहुँचा हो तब यदि शिशु का प्रसव होता है तो मरा होता है। यदि ओज शिशु में हो, तब प्रसव होता है तो वह निर्बल होने के कारण अधिक समय नहीं जीता। इसलिये यह कहा है कि—

"अष्टमे मासि जातस्य हरन्त्योजो निशाचराः।"

२ गर्भावस्था के विस्तृत लक्षणों के लिये—धात्रीशिक्षा, सुश्रुत-शारीर (जयदेव) देखिये।

१ उपस्नेहन का अर्थ—"यथा पूर्णं सरः सलिलोपस्नेहः चत्वरे जाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोति। तथा च भोजः—गर्भो रुणद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै। रक्ताज्जरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका ॥ सा नाडी गर्भमाप्नोति तथा गर्भस्य वर्त्तनम् ॥ यद्यदश्नाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्। तस्मादन्नाद्रसीभूतं वीर्यं द्वेधा प्रवर्तते। भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते ॥ गर्भः पुष्यति भागेन वर्धसे च यथाक्रमम् ॥ गर्भकुल्येव केदारं नाड़ी प्रीणाति तर्पिता ॥ उपासन्नं निष्यन्देन स्नेहयतीत्युपस्नेहः।

तथा गर्भनाल का निर्माण होता है और गर्भ का वर्त्तन-वृत्ति-भरण-पोषण होता है। गर्भिणी जो २ आहार खाती है उसका रस नामक वीर्य (सार) दो भागों में विभक्त हो जाता है १—से उक्त कार्य होता है और २—से स्तनों में स्तन्य की वृद्धि होने लगती है स्तन पुष्ट होने लगते हैं। गर्भ भी गर्भिणी का एक अवयव ही होता है।

रसवहा गर्भाशय का तर्पण करती है और गर्भाशय के भीतर चिपका हुआ गर्भ भी तृप्त होता रहता है आगे चलकर गर्भनाल बनने लगती है और गर्भनाल के अग्रभाग से बद्ध होने से गर्भाशय की दीवार से दूर होता जाता है और गर्भाशय में गर्भोदक भी उत्पन्न होने लगता है, अब गर्भ को गर्भनाल द्वारा जो गर्भ की नाभि में संसक्त रहती है और उधर गर्भाशय की दीवार में संसक्त रहती है—रसरूप पोषण पदार्थ मिलता रहता है और उसका वर्त्तन–भरण-पोषण होता रहता है। गर्भ को पृथक् भूख प्यास नहीं लगती माता (गर्भिणी) का ही आश्रय लेकर जीवित रहता है निर्वाह करता रहता है ॥३१॥

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीत्याह शौनकः शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणां, हृदयमिति कृतवीर्यो, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः पाणिपादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य, मध्यशरीरमिति सुभूतिगौतमः, तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसंभवस्य। तत्तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिः, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च, तद्यथा-चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात् तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात् तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति, एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ॥३२॥

शौनक ऋषि का विचार है कि गर्भ का सबसे प्रथम शिर बनता है, क्योंकि सब इन्द्रियों में शिर ही मूल है। कृतवीर्य ऋषि का विचार है कि सबसे प्रथम हृदय बनता है, क्योंकि यह बुद्धि और मन का स्थान है। पाराशर्य ऋषि का कथन है कि नाभि सबसे प्रथम बनती है, चूँकि सब प्राणी इसी से बढ़ते हैं (यही केंद्र है)। मार्कण्डेय ऋषि का कथन है कि हाथ पाँव सबसे प्रथम बनते हैं, चूँकि गर्भ की सब चेष्टायें इन्हीं के वश में हैं। सुभूति गौतम का मत है कि मध्य शरीर सबसे प्रथम बनता है, चूँकि सम्पूर्ण शरीर का आश्रय यही है।

भगवान् धन्वन्तरि का कथन है कि ये सब विचार ठीक नहीं हैं, गर्भ के सब अंग-प्रत्यंग एक साथ बनते हैं, परन्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण पता नहीं लगता। जिस प्रकार बांस के अंकुर तथा आम के फल में होता है। यथा—आम्र फल के पक जाने पर केशर, मांस (गुदा), अस्थि (गुठली), मज्जा (गिरी) पृथक् पृथक् दीखने लगते हैं, यह सब कालवश से हो जाता है, परन्तु यही वस्तुयें कच्चे फल में उपलब्ध नहीं होतीं—क्योंकि ये सूक्ष्म होती हैं। समय पर ये सूक्ष्म केशरादि स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार से वंशांकुर को भी समझना चाहिये। इसी तरह गर्भ की तरुणावस्था में सब अङ्ग-प्रत्यंग होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण ही उपलब्ध नहीं होते। यही अङ्ग-प्रत्यंग समय आने पर स्पष्ट हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—चेतनामय शुक्र शोणित का मिश्रण-बीज उक्त सब ऋषियों के मत में शिर आदि अवयवों का उपादान होता है और अपने २ मत की पुष्टि में सबने हेतु भी दिये हैं और यह सब मत उनके दृढ मत हैं अतः भगवान् धन्वन्तरि ने उनका स्मरण किया है और सबल खण्डन भी नहीं किया है केवल "तत् तु न सम्यक्" अर्थात् वह बहुत ठीक नहीं कहकर अपने मत का प्रतिपादन किया है। उन मतों की अपेक्षा धन्वन्तरि का मत अधिक युक्तिसंगत है इसी का समर्थन श्री पुनर्वसु ने भी (च० शा० अ० ६ में) किया है। बीज में समस्त शिर आदि अवयव सूक्ष्म रूप से विद्यमान होते हैं जो काल पाकर कुछ गर्भाशय में और कुछ जन्म के पश्चात् व्यक्त होते हैं यथा जन्म से ७-१२ मास में २४ दाँत उत्पन्न होते हैं और उनके गिर जाने पर पुनः ३२ दन्त उगते हैं, यौवन में दाढ़ी मोछ आदि व्यक्त होते हैं ॥३२॥

तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मजसत्त्वजसात्म्यजानि शारीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तशिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि ॥३३॥

अब गर्भ के पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्वज, सात्म्यज-शरीर लक्षणों की व्याख्या करते हैं। गर्भ के केश, श्मश्रु, लोम, नख, अस्थि, दांत, शिरा, स्नायु, धमनी और वीर्य आदि स्थिर वस्तुयें पिता के अंश से उत्पन्न होती हैं। मांस, रक्त, मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, आँतें, गुदा आदि कोमल वस्तुयें माता से उत्पन्न होती हैं। शरीर का उपचय (गठन), बल, वर्ण, स्थिति, हानि रसजन्य हैं। इन्द्रियाँ,

ज्ञान-विज्ञान, आयु, सुख, दुःख आदि आत्माजन्य हैं। सत्व-जन्य वस्तुओं की आगे व्याख्या करेंगे। वीर्य, आरोग्यता, बल, वर्ण, मेधा यह सात्म्यजन्य हैं॥ ३३॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिण-कुक्षिमहत्त्वं च पूर्णं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति, स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयमवनतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितं लक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति॥ ३४॥

जिस स्त्री के दक्षिण स्तन में सब से प्रथम दूध का दर्शन होता है, दक्षिण कुक्षि भारी रहती है, प्रथम दक्षिण टांग में उत्कर्ष (रोमांच) आता है, प्रायः करके पुंल्लिग नामवाले पदार्थों की चाह करती है, स्वप्नावस्था में पद्म, उत्पल, कुमुद, आम्रातक (अम्बाड़ा) आदि पुल्लिङ्ग वस्तुओं को प्राप्त करती है. जिसका मुखवर्ण स्वच्छ प्रसन्न हो, वह पुत्र को उत्पन्न करेगी ऐसा समझना चाहिये। इसके विपरीत, लक्षणोंवाली स्त्री कन्या को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री के दोनों पार्श्व उठे होते हैं, पेट आगे को निकला होता है पूर्वोक्त नपुंसक गर्भ के लक्षण उपस्थित हों, वह नपुंसक सन्तान उत्पन्न करती है। जिस स्त्री का पेट बीच से दबा एवं द्रोणी (गून) के समान होता है वह जोड़िये बच्चों को उत्पन्न करती हैं[1]।

वि० मन्तव्य—दक्षिणं सक्थि उत्कर्षति—चलते समय या पलंग आदि पर चढ़ते समय प्रथम दाहिना पाँव उठाती है। चौथे पाँचवें आदि मासों में स्तनों से श्वेत द्रव-सा बहने लगता है उसी को स्तन्य कहा गया है। पुत्र गर्भवती का गर्भ-गर्भाशय के दक्षिण पार्श्व से संसक्त होता है। द्रोणीभूतं-द्रोणी-गून या गोणी का नाम है जो वस्तु भर कर गधे-खचर आदि पर लादी जाती है वह दो भागों में भरी रहती है। उदर जितना बड़ा होता है वस्तुतः उतना बड़ा गर्भ नहीं होता उसमें (गर्भाशयमें) गर्भोदक भरा रहता है जिसमें जरायु में लिपटा गर्भ तैरता रहता है। प्रसव के समय प्रथम यही निकलता है और फिर गर्भ, कभी-कभी गर्भ जरायु को साथ लिये भी निकलता है किन्तु प्रायः वह भीतर ही रह जाता है जैसे पके आम को जोर से दबाने पर छिलका हाथ में ही रह जाता है, यह प्रसव के पश्चात् स्वयं गिर जाती है परन्तु कभी कभी गिराने का प्रयत्न भी करना पड़ता है इसी में नाल भी लगी रहती है जो खिंचकर गर्भ के साथ बाहर आ जाती है और उधर जरायु से भी लगी रहती है। गर्भोदक १-२ सेर होता है। नाल की लम्बाई १-१॥ हाथ होती है। कभी कभी जरायु इतनी नहीं फटती जिसमें से गर्भ बाहर आ सके इस दशा में उसे अधिक फाड़ना पड़ता है। प्रसव के समय की वेदना का नाम "आवी" है उस समय गर्भाशय में ऐंठन या सिकुड़न होने लगती है इसी ऐंठन का नाम आवी है, अकाल में आवी होने से गर्भस्राव अथवा गर्भपात हो जाता है॥ ३४॥

भवन्ति चात्र—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥ ३५॥

कहा भी है—जो माता-पिता, देवता, ब्राह्मण की पूजा (सत्कार) करने में तत्पर रहते हैं, शौच (पवित्रता) तथा आचार का पालन करते हैं, वे महागुणशाली पुत्रों को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत आचरणवाले माता पिता निर्गुण संतान उत्पन्न करते हैं।

वि० मन्तव्य—माता के उक्त पवित्र आचरण का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है॥ ३५॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः।
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः॥ ३६॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निर्माण स्वभाव से ही होता है परन्तु अङ्गप्रत्यङ्गों के निर्माण में जो गुण या अवगुण होते हैं, वे गर्भ के धर्म-अधर्म के कारण से होते हैं।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में स्वभाव को भी कारण माना है (दे० शा० अ० १-११)॥ ३६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो गर्भव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

पूर्व अध्याय में वर्णित गर्भ की रचना को विस्तार में कहने के अभिप्राय से गर्भव्याकरण नाम अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

---

१ चरक में भी कहा है—
(१) सव्यांगचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते॥
पुत्रं त्वतो लिंगविपर्य्ययेण व्यामिश्रलिंगां प्रकृतिं तृतीयाम्॥
(२) रोमराजी भवेन्निम्ना यस्याः सा सूयते यमौ।

वि० मन्तव्य—आकरणं-आकारः-आकृतिः, विशिष्टानां विविधानां वा आकरणं=व्याकरणम् तच्च अस्ति अस्मिन् इति तत्। अर्थात् इस अध्याय में—शरीर के विशिष्ट या विविध अवयवों के आकारों-आकृतियों का वर्णन किया गया है ॥१-२॥

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥ ३ ॥

अग्नि (पित्त के पाँचों भेद), सोम (कफ, रस, शुक्र द्रव भाग), वायु, सत्त्व, रज, तम, पाँचों इन्द्रियाँ और भूतात्मा (जीव) ये प्राण हैं। शरीर का प्राणन इनके कारण ही होता है ॥ ३ ॥

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्वान् वर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठानाः द्वितीया लोहिता नाम, षोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, द्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नामाष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पंचमी वेदिनी नाम पंचभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना, सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा; भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना। यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु च, यतो वक्ष्यत्युदरेषु—'व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्' (चि०अ०१४) इति ॥४॥

भूतात्मा से अधिष्ठित शुक्र शोणित के परिपाक होने से सात त्वचायें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार दूध के परिपाक करने पर मलाई जमती है। इनमें सब से प्रथम त्वचा का नाम अवभासिनी है। यह प्रथम त्वचा—गौरादि सब वर्णों को तथा पाँचों प्रकार की छाया (कान्ति—आसन्ना लक्ष्यते छाया) को प्रकाशित करती है। इस त्वचा की मोटाई जौ के अठारहवें भाग के बराबर है। इसी त्वचा में सिध्म तथा पद्मकण्टक रोग होते हैं। दूसरी त्वचा (स्तर) का नाम 'लोहिता' है। यह व्रीहि के सोलहवें भाग के बराबर मोटी है। इस त्वचा में तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग आदि रोग होते हैं। तीसरी त्वचा का नाम 'श्वेता' है। इसकी मोटाई व्रीहि का बारहवाँ भाग है। चर्मदल, अजगल्ली, मशक आदि रोग इसमें होते हैं। चौथी त्वचा का नाम 'ताम्रा' है, यह व्रीहि का आठवाँ भाग मोटी है। इसमें नाना प्रकार के किलास और कुष्ठ (त्वचा के रोग) होते हैं। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है, यह व्रीहि का पाँचवाँ भाग मोटी है। इसमें कुष्ठ-वीसर्प रोग होते हैं। छठी रोहिणी नामक है, यह व्रीहि के बराबर मोटी है। इसमें ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड रोग होते हैं। सातवीं त्वचा का नाम मांसधरा है। यह दो जौ के बराबर मोटी है। इसमें भगन्दर, विद्रधि, अर्श रोग होते हैं। यहाँ पर जो मोटाई का प्रमाण कहा है, वह उदर आदि मध्य शरीर तथा मांसलस्थानों से समझना चाहिये। ललाट, सूक्ष्म अंगुलि आदियों में नहीं। चूँकि आगे उदर रोग में कहेंगे कि व्रीहिमुख शस्त्र द्वारा अंगुष्ठोदर के बराबर गहरा वेधन करना चाहिए[1]।

वि० मन्तव्य—त्वचा—त्वच् संवरणे धातु (तु० प०) से त्वचा शब्द का निर्माण होता है—जो शरीर का संवरण (सम्यक् प्रकार से ढकना) करती है, इसका पर्याय है असृग्धरा जो रक्त को बहने से रोकती है। यह शीतोष्ण (सरदी गर्मी) से बचाती है जैसे वस्त्र। "तनु विस्तारे" से भी त्वचा शब्द बनाया जा सकता है अर्थ है जो शरीर पर फैली हुई है। इसमें रोमकूप रहते है उनकी जड़ वेदिनी त्वचा तक होती है। इसमें से स्वेद निकलता है। त्वचा के सात स्तर हैं—१—अवभासिनी—अवभासयति-प्रकाशयति वर्णं इति। गौर श्यामादि वर्ण इसी में रहते हैं। २—लोहिता-लाल, ३—श्वेता—श्वेत, ४—ताम्रा—ताम्र की सी लाल, ५—वेदिनी—वेदयति स्पर्श-स्पर्शज्ञान इसी से होता है, कण्टक जब चारों त्वचाओं को पार कर जाता है तब अनुभव होता है, शीत-उष्ण आदि का अनुभव भी इसी से होता है अतः इसका नाम वेदिनी-विदित अवगत करानेवाली। ६—रोहिणी—इस पर रोह-प्ररोह होते हैं—रोहाः सन्ति अस्यां इति रोहिणी। ७—मांसधरा—जो मांस को धारण करती है उससे सम्बद्ध है उस पर लिपटी है यह त्वचा का भीतरी अन्तिम स्तर है। शुक्र शोणित के मिश्रण पर सर्व प्रथम जो आवरण बनता है उसे

---

१ चरक में छै ही त्वचा कहीं हैं। यथा—उदकधरा, असृग्धरा, सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना, दद्रु-कुष्ठसम्भवाधिष्ठाना, अलजी-विद्रधिसम्भवाधिष्ठाना, यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति।

कविराज गणनाथ सेन जी ने स्थूल दृष्टि से दीखनेवाली त्वचा के दो ही स्तर माने हैं। (१) एक उपरि त्वचा (Epidermis) और दूसरी अन्तः त्वचा (DerMis)। परन्तु यदि अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो प्रथम त्वचा पांच स्तरों में तथा अन्तः त्वचा दो भागों में विभक्त दीखती है। इस प्रकार से ये सात स्तरें मिलकर त्वचा को बनाती हैं।

(२) छाया और प्रभा में भेद है। यथा—आसन्ना लक्ष्यते छाया, प्रभा दूरप्रकाशिनी।

इधर उधर बह जाने से रोकता है वह त्वचा ही है। वही काल पाकर उक्त रूप धारण कर लेती है। इन स्तरों की मोटाई का उल्लेख पूर्ण स्वस्थ के लिये है ॥४॥

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः ॥५॥

धातुओं (रस-रक्तादि तथा कफ, पित्त, मलादि) के आशयों में सीमा (मर्यादाभूत) कलायें (Membrans) भी सात हैं।

वि० मन्तव्य—धातु-पदार्थ तथा धातु के आशय के अन्तर मध्य की मर्यादा "कला" कहलाती है। जैसे कटोरा में कागज धरकर कोई वस्तु धरी जाती है वैसे ही आशय में कला रहती है, मांसधरा कला मांस पेशियों पर लिपटी रहती है ॥५॥

भवतश्चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुर्मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥६॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥७॥

कहा भी है—जिस प्रकार वृक्ष के काष्ठ को काटने से सार दीखने लगता है (रस बहने लगता है), उसी प्रकार मांस के काटने पर धातु (रस-रक्तादि) दीखने लगते हैं। जो स्नायुओं द्वारा भली प्रकार से ढँपे होते हैं, जरायु (उल्बा झिल्ली) से सम्यक् प्रकार से व्याप्त होते हैं, तथा कफ से घिरे रहते हैं, उनको कला कहते हैं[१]।

वि० मन्तव्य—हमारे विचार में छठे श्लोक का उत्तरार्ध "तथा कलासु धातुर्हि छिद्यमानासु दृश्यते" होना चाहिये अर्थात् वैसे ही कला के कट-फट जाने पर धातु—उसके भीतर का पदार्थ दिखाई पड़ता है—आशय के कट जाने पर भी यदि उसके भीतर की कला न कटे तो उसके भीतर का पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता। और छठे श्लोक के आगे—'धात्वाशयान्तरेऽन्नस्य यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति। देहोष्मणा विपक्वस्तु सा कला इत्यभिधीयते ॥' पाठ होना चाहिये। अर्थात् धातु एवं आशय के मध्य में जो क्लेद—पिच्छिल द्रव रहता है वह शरीर की उष्मा से परिपक्व होकर—कागज का सा होकर "कला" कहलाता है। यह माड़ी एवं मोम से पालिश किये रेशमी कपड़ा की सी होती है। कपड़ा के धागे स्नायु, माँड़ी जरायु तथा मोम श्लेष्मा कहा जा सकता है ॥६,७॥

१. वृद्ध वाग्भट्ट ने कहा है—"यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथा स्वमूष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्म जरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषाल्पत्वात् कलासंज्ञः।"

तासां प्रथमा मांसधरा यस्या मांसे शिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥८॥

सात कलाओं में प्रथम कला का नाम 'मांसधरा' है। इसमें से होकर ही शिरा, धमनी, स्नायु और स्रोत—इनकी शाखायें मांस में पहुँचती हैं।

वि० मन्तव्य—यह मांसपेशियों पर लिपटी रहती है। इसीके कारण मांस मांसपेशियों में विभक्त रहता है ॥८॥

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥९॥

कहा भी है—जिस प्रकार से बिस और मृणाल कीचड़-भूमि तथा पानी में रहकर चारों ओर बढ़ते हैं, इसी प्रकार से मांस में शिरा आदि (Blood vessels) चारों ओर फैलते हैं ॥९॥

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति ॥१०॥

दूसरी कला का नाम 'रक्तधरा' है, यह कला मांस के अन्दर रहती है। इसमें रक्त का संवहन होता है। यह कला विशेषकर शिराओं में, यकृत् और प्लीहा में रहती है ॥१०॥

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥११॥

कहा भी है—दूधवाले वृक्षों पर चोट लगने से जैसे उनमें से दूध बहने लगता है, इसी प्रकार मांस पर आघात होने से रक्त शीघ्र बहने लगता है ॥११॥

तृतीया मेदोधरा, मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमणवस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥१२॥

तीसरी कला का नाम 'मेदोधरा' है। सब प्राणियों के उदर में तथा सूक्ष्म अस्थियों में मेद, तथा बड़ी अस्थियों में मज्जा रहती है। यह कला मेद और मज्जा को धारण करती है[१] ॥१२॥

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१३॥

विशेषकर स्थूलास्थियों के मध्य में मज्जा रहती है, छोटी अस्थियों में रक्तयुक्त मेद रहता है। शुद्ध मांस के स्नेह को वसा कहते हैं ॥१३॥

१. कविराज गणनाथ सेनजी ने इनमें, निम्न भेद किये हैं। यथा—'मेदो नाम सान्द्रसर्पिस्तुल्यः स्नेहधातुः शरीरस्य। वसा तु—मांसान्तरानुप्रविष्टः स्नेहः। मज्जा—अस्थिमध्यगतः स्नेहः। स द्विविधो पीतो रक्तश्च ॥' प्रत्यक्ष० शा० पृ० १०।

चतुर्थी श्लेष्मधरा सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥१४॥

चौथी कला का नाम 'श्लेष्मधरा' है। यह कला प्राणियों की सब सन्धियों में रहती है ॥१४॥

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥१५॥

जैसे चक्र के अक्ष (धुरी) के स्नेह आदि से चिकना होने पर पहिया आराम से घूमता है, इसी प्रकार श्लेष्मा से युक्त सन्धियाँ भी अपना काम भली प्रकार से करती हैं ॥१५॥

पञ्चमी पुरीषधरा नाम, याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था ॥१६॥

पाँचवीं कला का नाम 'पुरीषधरा' है। कोष्ठ के अन्दर पक्वाशय में स्थित हुई अन्न को मलरूप में विभक्त करती है ॥

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता ॥
उण्डु (न्दु) कस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥१७॥

'मलधरा' कलाकोष्ठ में यकृत् से आरम्भ होकर सब आँतों में व्याप्त होती हुई उण्डूक (caccum) स्थित मल को पृथक् करती है। मल का विभाग अग्नि तथा वायु के कारण से होता है[1]। उण्डूक तक मल के साथ अन्न का कुछ भाग मिला रहता है। परन्तु उण्डूक में पहुँचने पर सार भाग आँतों से खींचा जाता है, केवल पानी का भाग ही रहता है और कुछ नमक रहता है। बृहदंत्र का भाग इनको मल से पृथक् कर लेता है, इस प्रकार से मल ही बाहर होता है ॥१७॥

षष्ठी पित्तधरा, या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥१८॥

छठी कला का नाम 'पित्तधरा' है। यह कला चारों प्रकार के खाये अन्न-पान को आमाशय से निकालकर पक्वाशय में जाने के लिये धारण करती है, इसी को ग्रहणी कहते हैं[2] ॥१८॥

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥१९॥

कहा भी है—अशित (खाया हुआ) पीत खादित और लीढ चार प्रकार का भोजन कोष्ठ में पहुँचकर पित्त की उष्णिमा से सुखाया जाकर यथासमय में सुखपूर्वक पचता है।

वि० मन्तव्य—जीर्यति—पच जाता है अर्थात् सार एवं किट्ट रूप में विभक्त हो जाता है, ग्रहणी में ही आहार का सार-रस गृहीत होकर शरीर पोषणार्थ पृथक् हो जाता है ॥१९॥

सप्तमी शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥

सातवीं 'शुक्रधरा' नाम कला है। यह कला सब प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है ॥२०॥

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥२१॥

जिस प्रकार कि दूध में घी गन्ने में रस गूढ़ छिपा हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यों के शरीर में शुक्र को समझना चाहिये। (शुक्र शरीर के प्रत्येक कण कण में व्याप्त है) ॥२१॥

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूलस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥२२॥

बस्तिद्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण पार्श्व में—मूत्रस्रोत के मार्ग से ही पुरुषों में शुक्र प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य—सप्तमी शुक्रधरा द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्त्तयति ॥ वृद्धवाग्भट्ट। द्व्यङ्गुले दक्षिणे इत्यादि–इत्यत्र द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे इत्येव साधीयान् पाठः—अन्यथा प्रत्यक्षविरोधः (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात पृ० ७२)।

वि० मन्तव्य—शुक्रवहे द्वे स्रोतसी सु० शा० अ० ६। शुक्रवाही दो स्रोतस् हैं। ये बस्ति—मूत्राशय द्वार के दो अंगुल नीचे पुमान् के मूत्रमार्ग में खुलते हैं। अतः "दक्षिणे वामे" यह पाठ साधीयान् है। और नारी के भग की दीवारों में अनेकमुखी होकर व्याप्त रहते हैं। मैथुन आदि के समय शुक्र समस्त शरीर से आकर इन्हीं स्रोतों में से होकर बाहर आता है, शुक्र को सर्वदा बहने से रोकनेवाली "शुक्रधरा" कला है। शेष देखिये—सु० नि० अ० १० श्लोक० १८–२२ ॥२२॥

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्तते ॥२३॥

शुक्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। प्रसन्न मन के कारण, स्त्रियों में सम्भोग करने पर, हर्ष के कारण वह शुक्र प्रवृत्त होता है।

---

१. "तथा च—अग्निकृतो यथा—विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि। मारुतकृतो यथा—सोऽन्नं पचति तज्जांशविशेषान् विविनक्ति।" कोष्ठ का लक्षण—

"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥" पाचन के लिये 'हमारे शरीर की रचना' देखिये।

२. पित्तधरा—"षष्ठी पित्तधरा नाम। पक्वाशयामाशयमध्यस्था, सा ह्यन्तरग्न्यधिष्ठानतमा आमपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधम् अन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति। पक्वं च विमुञ्चति। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः ॥" अष्टांगसंग्रहः।

वक्तव्य—संकल्पो वृष्याणाम् श्रेष्ठतमः, चरक। हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥ अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते॥ तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टा-संकल्प-पीडनात्। शुक्रं प्रच्यवते स्थानाजलमार्द्रात् पटादिव॥ चरक० चि० अ० २॥ २३॥

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते, शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीतोन्नतपयोधरा भवन्ति॥ २४॥

स्त्री के गर्भवती होने पर गर्भ के कारण आर्त्तववह स्रोत बन्द हो जाते हैं। इसलिये गर्भवती स्त्री में आर्त्तव का दर्शन नहीं होता। यह आर्त्तव नीचे रुक जाने से ऊपर की ओर आकर और अन्य आर्त्तव उपचित-सञ्चित होते २ बढ़ते जाने पर, 'अपरा' शब्द से कहा जाता है। शेष बचा आर्त्तव ऊपर आकर स्तनों में पहुँचता है। इसलिये गर्भवती के स्तन मोटे और भारी तथा उन्नत हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य–आर्त्तव–मासिक रजस् ही रुककर सञ्चित होता हुआ "अपरा" जरायु तथा नाल का रूप धारण कर लेता है और उसका कुछ भाग स्तनों को पुष्ट करने लगता है॥

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः, शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः॥ २५॥

गर्भ के यकृत्-प्लीहा रक्तजन्य हैं। फेफड़े रक्त की झाग से बनते हैं उण्डूक रक्तके किट्ट से बनता है।

वि० मन्तव्य—गर्भ यकृत् एवं प्लीहा का निर्माण रक्त से होता है और रक्त का निर्माण भी ये ही करते हैं। 'स खलु आप्यो रसो यकृत् प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति' (सु० सू० अ० १४)। जन्म से २-३ मास तक तत्पश्चात् बालक ज्यों २ बड़ा होता है यकृत् पर्शुकाओं से बाहर उदर में स्पर्शोपलभ्य रहता है यकृत् पर्शुकाओं के पञ्जर के अन्दर हो जाता है, फिर कभी ज्वर आदि कारणों से बढ़कर उदर में स्पर्शोपलभ्य हो जाता है, प्लीहा की दशा भी ऐसी ही रहती है। ज्वर आदि से वह भी बढ़ जाती है। फुप्फुस या फुस्फुस—रक्त की फेन से निर्मित होता है, और स्वरूपतः भी फेन-झाग के गुप्फे जैसा ही होता है, यह उदान–प्राण मिश्रित—श्वास उच्छ्वास का साधन है, "उदानवायोः आधारः फुप्फुसं प्रोच्यते बुधैः।" कण्ठ से श्वास मार्ग का प्रारम्भ होता है और आगे जाकर वह दो भागों में विभक्त हो जाता है और दोनों फुप्फुसों में चला जाता है और आगे फुप्फुसों में जाकर फेन-सदृश असंख्य कोष्ठ प्रकोष्ठों में विभक्त होकर समस्त फुप्फुसों में व्याप्त हो जाता है। फलतः श्वास द्वारा गृहीत वायु फुप्फुस के कोने-कोने में जा सकता है। इन्हीं का नाम–फेफड़ा है, यह वायु के प्रवेश से कुछ फूलते और निकलने से कुछ संकुचित होते रहते हैं। फुप्फुसों को मर्म का वर्णन करते हुए श्री धन्वन्तरि ने—अध्याय ६ में स्तनमूल, स्तनरोहित, अपलाप नामक ३ अवयवों में विभक्त माना है और श्वास मार्ग के फुप्फुसों में जानेवाले दोनों मार्गों को अपस्तम्भ कहा है। देखिये शा० अ० ६-२५। फुस्फुसायते इति फुस्फुसः–श्वासक्रिया में फुस्फुसाते हैं–अतः फुस्फुस कहे जाते हैं। आशयों का वर्णन करते समय इनको वाताशय कहा गया है (सु० शा० अ० ५)। फुप्फुसों में सर्वदा वायु भरा रहता है, जितना श्वास में भीतर जाता है उतना उच्छ्वास में निकल जाता है। उण्डुक या उन्दुक—उन्दी-क्लेदने धातु (रुधादिगण) से उन्दुक शब्द बनता है। अर्थ है जो आर्द्र करता है या जिसके द्वारा आर्द्र किया जाता है—मलद्रव का जलांश यहीं से समस्त शरीर में पहुँचता है, जिससे शरीर आर्द्र बना रहता है। देखिये इसी अध्याय का श्लोक १७॥ २५॥

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति॥ २६॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः।
उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत्॥ २७॥
कफशोणितमांसानां साराज्जिह्वा प्रजायते।
यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत्॥ २८॥
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा।
मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्॥ २९॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः।
आशयाभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम्॥ ३०॥

रक्त और कफ का जो अति उत्तम भाग है, उसका पित्त से परिपाक होते समय वायु भी इसमें भाग लेता है। इससे गर्भ के अन्त्र, गुदा, बस्ति बनते हैं। उदर में पचते हुए कफ, रक्त और मांस के सार से जिह्वा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार धौंकने पर स्वर्ण का सार मात्र ही बचता है, जिस प्रकार यथायोग्य उष्णिमा से युक्त वायु स्रोतों को विभक्त करता है उसी प्रकार वायु मांस में प्रविष्ट होकर पेशियों को विभक्त करता है। शिरा मेद से स्नेह को लेकर स्नायुरूप बनती हैं। शिराओं का पाक मृदु रहता है, और स्नायुओं का इनसे खर (कठोर) रहता है। बारम्बार स्थिर रहने का अभ्यास करने से वायु आशयों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य–श्री पं० हरिप्रपन्न जी ने 'शिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्' के स्थान पर 'शिरा स्नायुत्वमप्यथ' पाठ बदला है। उनके

अर्थ में वायु अन्त्र से स्नेह को लेकर मेद को उदर में एकत्रित करती है। इस मेद के स्नेह के मृदुपाक होने से शिरायें और खर पाक होने से स्नायु उत्पन्न होते हैं। यही वायु मांसपेशियों में सब ओर निवास करके हृदय आदि आशयों को उत्पन्न करती है। (रसयोगसागर० पृ० ११३,११४)।

वि० मन्तव्य—अन्त्र—आमाशय एवं पक्वाशय के मध्यवर्त्ती नली का नाम अन्त्र है। इसकी लम्बाई साढ़े तीन व्याम होती है, १—व्याम=४ हाथ, ३॥ व्याम = १४ हाथ=२१–२२ फुट। नारियों में यह आधा व्याम छोटी होती है। अम् गतौ धातु (भ्वादि गणीय) से अन्त्र शब्द बनता है—अर्थात् जो गति करती है या जिसके द्वारा खाया हुआ आहार गति करता है। इसी गति के कारण—आहार-आमाशय से अन्त्र में, अन्त्र से मलाशय में और मलाशय से गुद द्वारा बाहर चला जाता है। बस्ति का वर्णन सु० नि० अ० ३ में देखिये। गुद का वर्णन अ० २ में देखिये। और शा० अ० ५–६ तथा शा० अ० ६—२५ देखिये। जिह्वा—रसनेन्द्रिय तथा वागिन्द्रिय का अधिष्ठान है। इसके द्वारा मधुर अम्ल आदि रसों का अनुभव होता है और बोला जाता है। यह कफ शोणित तथा मांस के सार से बनी है, यथा—जिह्वा अधिकतर मांस से बनी है, मांस के ऊपर श्लैष्मिक मोटी कला चढ़ी रहती है। यह कई मांस पेशियों द्वारा अधो हन्वस्थि से जुड़ी रहती है। यह संकोच से छोटी और प्रसार से बड़ी-चौड़ी हो जाती है। इस पर छोटे २ अङ्कुर होते हैं, इन्हीं से रस का ग्रहण—अनुभव होता है। यह कफ रसन नामक कफ है, जिससे आर्द्र रहने पर इसका अनुभव होता है 'रस्यते अनेन इति रसनः'। पेशी—शरीर पर जितना भी मांस है वह मांस पेशियों में विभक्त है और मांस पेशियों के आकार भिन्न २ होते हैं। उन पर मांसधरा कला लिपटी रहती है। देखिये मांसधरा कला अ० ५ का सू० ३७-४१। शिरा—इसके लिये देखिये सु० शा० अ० ७। और स्नायु के लिये देखिये—अ० ५। आशय—इसके लिये देखिये—शा० अ० ५–८। इसका अर्थ है—जिसमें कोई वस्तु आकर शयन करती है, कुछ समय के लिये रुकती है। गर्भ निर्माण के समय केवल वायु उन स्थानों में जहाँ आशय की आवश्यकता होती है आकर-रुककर आशय का निर्माण कर देता है। इस परिभाषा के अनुसार क्षुद्रान्त्र, शिरा तथा शुक्रवाही स्रोत आदि को आशय कहना उचित है कि अनुचित पाठक स्वयं विचार करें॥ २६-३०॥

रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ, मांसासृक्कफमेदःप्रसादाद् वृषणौ, शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः, तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च, तद्विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति॥ ३१॥

रक्त और मेद के सार से वृक्क बनते हैं। मांस-रक्त-कफ मेद के सार भाग से वृषण, रक्त-कफ के सार भाग से हृदय उत्पन्न होता है। क्योंकि प्राणवहा धमनियाँ इसी हृदय के आश्रित हैं। इस हृदय के नीचे वाम पार्श्व में प्लीहा और फेफड़े, दक्षिण पार्श्व में यकृत् और क्लोम है। यह हृदय विशेष रूप में चेतना का स्थान है। इसीलिये इस हृदय के तम से ढँप जाने पर सब प्राणी सोते हैं।

वि० मन्तव्य—वृक्क—गर्भ के वृक्क—रक्त एवं मेदस् के प्रसाद—स्वच्छ सार भाग से निर्मित होते हैं। अतएव वे-रक्त में से अनुपयोगी अंश को छानकर मूत्र का निर्माण करते और मेदस् की रक्षा करते हैं—बहने से रोकते हैं। ये दो होते हैं, जन्म हो जाने पर क्रियाशील होते हैं, उदर के भीतर-पिछली ओर पृष्ठवंश के दाहिनी एवं बाईं ओर रहते हैं, उनके सामने अन्त्र गेण्डली मारे पड़ी रहती है, ये दोनों ओर की बारहवीं पर्शुकाओं के नीचे फलतः सुरक्षित भी रहते हैं। इनकी आकृति लोबिये के बीज जैसी होती है, यौवन में—इनकी लम्बाई ४ इञ्च, चौड़ाई २½ इञ्च, मोटाई १ इञ्च (लगभग) होती है, भार २ छटाँक से कुछ कम, रङ्ग बैंगनी होता है। इसीसे मूत्रवाही स्रोतस्—(गवीनी) निकलकर मूत्राशय में पहुँचते हैं। वृषण—वर्षति शुक्रं—जो शुक्र को बरसाता है, इसका नाम मुष्क भी है, जो शरीर से शुक्र को चुराता है—चुपके से ले लेता है, अण्ड—अयति अस्मात् शुक्रम् इति जहाँ से शुक्र चलता है, अण्डकोष—अण्डों का कोश-थैला। यह वृषण दो हैं, गर्भ के अण्डकोश में नहीं उतरते, शिश्न मूल के दोनों ओर पड़े रहते हैं, जन्म के कई दिन पश्चात् कोश में आ जाते हैं। कोष एक सूक्ष्म झिल्ली द्वारा दो भागों में विभक्त रहता है, उनमें दोनों अण्ड (अण्डाकार ग्रन्थियाँ) शिराओं तथा लसीका वाहिनियों द्वारा अवलम्बित होकर लटके रहते हैं, इतना ही नहीं, उक्त शिरा तथा लसीका वाहिनी नालियों द्वारा उनका पोषण भी होता है और उनमें शुक्र का निर्माण भी, उनमें से दो नालियां आकर 'शुक्रवहे द्वे'—शुक्रवाही दोनों स्रोतों से सम्बद्ध रहती हैं, जिनके द्वारा शुक्र शुक्र-स्रोतों में पहुँचता है। इन सब अवयवों की क्रिया भी यौवन में पूर्णरूप से सम्पन्न होती है। गर्भनिर्माण काल में इनका निर्माण—मांस, रक्त, कफ एवं मेदस् से होता है। जैसे मुर्गी आदि के अण्डों में जीव रहता है वैसे ही इनमें भी जीव रहता है जो शुक्र के साथ आकर—शोणित से मिलकर—उत्क्षिप्त

परिस्थिति पाकर—अपना शरीर बना लेता है। अतएव पिता कहता है—आत्मा वै पुत्रनामासि–तू आत्मा ही पुत्र नाम हो और शुक्रं देहात् प्रसिच्यते–चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥ च० चि० अ० २-४६। अंगात् अंगात् सम्भवसि अर्थात्–जो शुक्र देह से पसीजता है–पसीज कर शुक्रवह स्रोतों द्वारा गर्भाशय में पहुँचता है। वह गतिशील-ज्ञान, गमन प्राप्तिशील विश्व-रूप–आत्मा का रूप—चक्षुर्ग्राह्य द्रव्य है। हे पुत्र! तू अंग अंग से उत्पन्न होता है। अतएव च–सु०शा०अ० २–श्लो० ३३ में--वृक्ष आदि के बीज को शुक्र की उपमा दी गई है और इसी अध्याय २ का ४७ श्लोक भी देखिये। हृदय—यह शरीरारम्भक रक्त एवं कफ के प्रसाद से निर्मित होता है। रक्तवाहिनी शिराओं में यहीं से ध्मान-धमनक्रिया का प्रारम्भ होता है, जिसको देखकर–उनको "धमनी" कहा जाता है, यह हृदय–अमर कोशोक्त–"हृदयं हृत्" है। इसका पाठ अमर कोश के द्वितीय काण्ड के मनुष्य वर्ग श्लो० ६४ में है। और "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन् मानसं मनः।" अ० को० प्र० काण्ड काल वर्ग में भी हृदय एवं हृत् शब्द का उल्लेख है। और उक्त दोनों शब्द—हृदय (हृत्पिण्ड) तथा (२४ तत्त्वों में १) के वाचक हैं और दोनों के लिये प्रयुक्त भी होते हैं, परन्तु प्रस्तुत हृदय या हृत् शब्द मनुष्यवर्गोक्त हृदय के वाचक हैं, मनस् के नहीं और यही हृत् शब्द लैटिन भाषा में परिवर्त्तित होकर "हार्ट" हो गया है। इसका अर्थ है—हरति रक्तं तथा ह्रियते रक्तं अनेन—जो रक्त को लेता है तथा जिसके द्वारा रक्त लिया जाता है—शरीर में प्राप्त किया जाता है, इस हृत् का यही काम है। ध्मानवाली शिराओं को प्राणवहा इस लिये कहा गया है कि हृत् (हार्ट) के अपने कार्य से वञ्चित (फेल) हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्क के फेल होने पर मृत्यु नहीं होती। मूर्च्छा में कई घण्टों तथा अभिन्यास में कई दिनों—सप्ताहों तक मानव जीवित रहता है, क्योंकि उनमें हृदय क्रियाशील रहता है। इस सचाई पर ध्यान देने से मस्तिष्क को भी प्रस्तुत हृत् समझना कथमपि उचित नहीं है। अलमतिविस्तरेण, प्रस्तुतमनुसरामः—हाँ, तो यह हृत् जो गर्भनिर्माण के समय रक्त एवं कफ से निर्मित होता है वह–वक्षस् के फुफ्फुसों के अन्तराल में स्थित है, इसकी आकृति अधोमुख पुण्डरीक(कमल) के सदृश है या मुट्ठी—अँगूठा ऊपर को निकालकर बाँधी गई मुट्ठी के सदृश है। बकरा के हृदय की बनावट भी मानव के हृदय जैसी होती है। इसमें चेतना का विशेष निवास है, अतः कहा जाता है कि जागने का हृदय विकसित होता हैं और सोने का निमीलित होता है (श्लो० ३२), क्योंकि जागते में चेतना क्रियाशील रहती है और सोते (गाढ निद्रा) में क्रियाशील नहीं रहती, हृदय को पुण्डरीक के सदृश कहा है, अतः विकसन (खिलना) तथा निमीलन (मिचना) कहा गया है। यह हृदय शिरामर्म है। (देखिये अ० ६ मर्माध्याय)। रक्त को ले जाने एवं लानेवाली शिराओं का संयोग स्थल है, या यों कहिये कि—शिरा ने "हृत्" का रूप बना लिया है या शिरा "हृत्" रूप में (आकृति में) परिणत हो गई है। और यह रक्ताशय भी हैं। देखिये अ० ५ का सू० ८। क्योंकि इसमें आकर रक्त एक क्षण के लिये ठहरता है—रुकता है रुककर फिर चल पड़ता है ॥३१॥

भवति चात्र--

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥३२॥

इसमें श्लोक भी है—हृदय कमल के समान (उलटे किये हुए कमल-अर्धविकसित) नीचे की ओर मुख किये हुये है। जागते समय यह विकसित (खिला) रहता है और सोने पर बन्द हो जाता है।

वक्तव्य—"प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनमागारं कर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ तस्योपघातान्मुर्छायं भेदान्मरणमृच्छति ॥" हृदय के अर्थ में विवाद है। हृदय से वर्तमान में 'हार्ट' जहाँ लेते हैं, वहाँ मस्तिष्क के वैन्ट्रीकल भी लेते हैं। इसके सिवाय हृदय-केन्द्र के लिये भी आयुर्वेद में आता है, यथा—गुल्म चिकित्सा में—"मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं नत्वत्र हृदयं स्पृशेत् ॥" वर्तमान हार्ट शब्द से कहे जानेवाले हृदय का आकार कमल के अर्धविकसित फूल को उल्टा करके जिससे नोक नीचे आ जाये, सरीखा कह सकते हैं। तम की प्रवृत्ति मस्तिष्क में है। जाग्रत अवस्था में मस्तिष्क क्रियाशील रहता है, और सोते समय अक्रियाशील रहता है। चेतना का विशेषकर हृदय स्थान है, क्योंकि—"वेदनानामधिष्ठानं मनो-देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्तर्मलद्रवगुणैर्विना" ॥३२॥

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा संभवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामानलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति॥३३॥

निद्रा विष्णु की माया की भाँति है, इसे पाप भी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही सब प्राणियों में होती है। जब संज्ञावह स्रोतों में तम की प्रधानतावाला कफ पहुँच जाता है तब तामसी निद्रा उत्पन्न होती है, इसमें प्राणी जागता नहीं, यह निद्रा

प्रलय काल में होती है। तम की प्रधानतावाले प्राणियों में दिन में और रात में नींद आती है। रजोगुण की अधिकतावालों को बिना कारण के नींद आती है—(किसी समय नींद आ जाती है)। सत्त्वगुण की प्रधानतावालों को आधी रात के समय आती है। क्षीण कफवाले, वात प्रधानतावाले, मानसिक और शारीरिक दुःख से पीड़ित व्यक्तियों को नींद नहीं भी आती। यह वैकारिकी (विकारजन्य) निद्रा है।

वक्तव्य—चरक में—"यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥" नींद सात प्रकार की है, यथा—"तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च, मनःशरीरश्रमसंभवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा॥" चरक० सू० अ० २१। तामसिक पशु-रात-दिन सोते रहते हैं, यथा भैंस या सिंह। राजस-व्यक्ति–किसी भी समय रात या दिन में नींद पूरी कर लेते हैं। सत्वप्रकृति आधी रात में सोते हैं। प्रातः काल-उषाकाल में सत्व गुण की अधिकता रहने से सब देशों के मनुष्य पूजा-पाठ में, मन्दिरों में जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। रात में–सायंकाल में तमोगुण की अधिकता होने से सब देशों में पापाचार के घर, मदिरालय खुलते हैं, लोग उनका उपभोग करते हैं। प्रातःकाल मद्यपान करता हुआ कोई विरला ही देखा जाता है। यह स्वभाव से है, सारे संसार के देशों में रिवाज है।

वि० मन्तव्य—निद्रा २ प्रकार की होती है १—वैष्णवी-विष्णु पालन (भरण-पोषण) के अधिष्ठाता हैं, (भारतीय भावना के अनुसार पालक हैं) और वह निद्रा—"रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्" जो रात्रि में स्वभाव से उत्पन्न होती है उसको भूतधात्री—भूत-प्राणी की धात्री--धाय दूध पिलानेवाली ·धारण पोषण करनेवाली निद्रा कही जाती है। और-२—पाप्मा-पाप है ·धर्म विरुद्ध है--अघ का मूल है--तमोभवामराहुअघस्य मूलं शेषाः पुनः व्याधिषु निर्दिशन्ति (च० सू० अ० २१) अर्थात् तमोगुण की अधिकता से जो निद्रा होती है वह अघ-पाप का मूल है तथा रोग रूप है।

अनवबोधिनी—जिसके आने पर पुनः जागरण नहीं होता, यह प्रलय काल-मृत्यु के समय आती है।

अनिमित्त–जब जागने का कोई निमित्त-कारण नहीं होता तभी आ जाती है। यह रजोगुणी--संसार के कामों में संलग्न प्राणी को आनेवाली निद्रा है, वह प्राणी जब कार्य में लीन रहता है तब नहीं आती, जब खाली होता है तब खट से आ जाती है॥३३॥

भवतश्चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥३४॥
निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥३५॥

इसमें श्लोक हैं—हे सुश्रुत! मनुष्यों की चेतना का स्थान हृदय कहा है। उस हृदय के तम से आक्रान्त होने पर मनुष्यों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण तम है, और जागरण में सत्त्व गुण कारण है। अथवा स्वभाव को ही श्रेष्ठ कारण कहा जाता है। अर्थात् स्वभाव से ही निद्रा आती है।

वि० मन्तव्य—तमोगुण से निद्रा आती है और कफ भी तमोगुणी है, अतः कफ से निद्रा आती है। तमोभवा, श्लेष्मसमुद्भवा च (च० सू० अ० २१)। यथा भोजन करते ही कफ बढ़ने पर निद्रा आ जाती है या जब जब कफ की वृद्धि होती है, यथा कफ ज्वर में तब तब निद्रा आ जाती है॥३४,३५॥

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान्॥३६॥

सोते हुए व्यक्ति का स्वामी भूतात्मा है। यह भूतात्मा रजोगुण युक्त मन के साथ मिलकर पूर्व शरीर में अनुभूत शुभ-अशुभ विषयों का ग्रहण करता है॥३६॥

करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते॥३७॥

तम के कारण इन्द्रियों में विकलता बढ़ जाने से न सोता हुआ भी भूतात्मा सोया हुआ कहा जाता है॥३७॥

वक्तव्य—भूतात्मा कभी सोता नहीं, केवल इन्द्रियों के तम के कारण विषयों का ग्रहण न करने से हम आत्मा को सोया हुआ कहते हैं। इसीलिये उपनिषद् में कहा है कि--यही आत्मा है कि जो सोते हुए भी जागता रहता है॥३७॥

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम, तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्यायशिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति, रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति॥३८॥

सब ऋतुओं में दिन के समय सोना निषिद्ध है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में (रातों के छोटी होने से) दिन में

सोना निषिद्ध नहीं है। अपवाद—प्रतिषेध में भी बालक, वृद्ध, स्त्री सेवन से कृश, उरःक्षत रोगी, क्षीण, मद्यपान करने वाले, वाहन (घोड़े आदि की सवारी), यान (रथ रेल आदि), मुसाफिरी या मेहनत के कारण थके, भोजन न करनेवाले, मेद-स्वेद-कफ-रक्त-रस से क्षीण हुए, अजीर्ण रोगियों के लिये मुहूर्त्त भर (थोड़ी देर) सोना विधेय है। जिन्होंने रात में जागरण किया हो, वे भी रात्रि जागरण से आधे समय तक दिन में सो सकते हैं। दिन में सोना एक विकार है। दिन में सोने से अधर्म होता है। सब दोषों का प्रकोप होता है। दोषों के प्रकोप से कास, श्वास, प्रतिश्याय, सिर में भारीपन, अङ्गों का टूटना, अरोचक, ज्वर, अग्नि दुर्बलता होती है। रात में भी जागने से वात-पित्तजन्य वही कास, श्वास आदि उपद्रव होते हैं[1]॥३८॥

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्॥ ३९॥
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम्॥४०॥

इसमें श्लोक भी हैं—इसलिये ज्ञानी मनुष्य रात में न जागे और दिन में न सोये, क्योंकि ये दोनों बातें दिन में सोना और रात में जागना दोष प्रकोपक हैं। इसलिये उचित प्रमाण में नींद ले। इस प्रकार करने से मनुष्य नीरोगी, प्रसन्न-चित्त, बल-वर्णयुक्त, पुरुषत्वयुक्त, न बहुत मोटा और न बहुत कृश, ऐश्वर्यशाली होता है, एक सौ वर्ष जीता है।

वक्तव्य—'निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥ अकालेऽतिप्रसंगाच्च न च निद्रा निषेविता। सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥ सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा। पुरुषं योगिनं सिद्धया सत्या बुद्धिरिवागता॥ रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा। अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्॥ देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः। स्वप्नाऽऽहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः॥" चरक सू० अ० २१॥

(निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा।)
दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते॥ ४१॥

(जिन लोगों ने रात में या दिन में सोने की आदत बना ली है) जो मनुष्य दिन या रात में सोने या जागने के आदी हो गये हैं उनको दिन में सोने या रात में जागने से (यथा सिनेमा देखने के शौकीन आदि) किसी प्रकार का दोष नहीं होता॥ ४१॥

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि।
संभवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति॥ ४२॥
निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्।
गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च॥ ४३॥
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः॥
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः॥ ४४॥
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च।
द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि॥ ४५॥
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च।
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान्॥४६॥

वायु के कारण, पित्त से, मन के संताप से, रसादि धातुओं की क्षीणता से, चोट आदि के लगने से नींद नहीं आती। विपरीत कारणों से नींद नहीं आती। विपरीत कारणों से नींद के न आने पर—शरीर पर तैल का अभ्यङ्ग, शिर पर तैल लगाना, अङ्गों पर उबटन करना, शरीर का संवाहन (दबाना, चापी करना) उत्तम है। शाली, गेहूँ, पिट्ठी से बने भोजन, गुड़ आदि से बनाये पदार्थ, मधुर एवं स्निग्ध भोजनों को दूध, मांस रस आदि के साथ खाना उत्तम है। बिलेशय चूहे आदि और विष्किर (मुर्गे आदि) के मांस रस के साथ भोजन करे। रात में द्राक्षा, मिश्री, ईख आदि द्रव्यों का उपयोग करे। शय्या, आसन, सवारी—कोमल और मन को प्रिय बनाये। निद्रा नाश में दूसरे अन्य उपाय भी बुद्धिमान् करे।

वक्तव्य—"अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः। शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम्॥ मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च। चक्षुषस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च। स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः। आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः॥" चरक सू० अ० २१॥ ४२-४६॥

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च।
लंघनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च॥ ४७॥

निद्रा के अतियोग में वमन और संशोधन, लंघन, रक्त-मोक्षण तथा मन को व्याकुल करनेवाले साधन उत्तम हैं।

वक्तव्य—"कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ता क्रोधः कथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम्। उपवासोऽसुखाशय्या सत्त्वौदार्यं तमो जयः। निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम्॥ एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥" चरक सू० अ० २७।४७।

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।

---

[1] ग्रीष्मे चादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते।
रात्रीणां चातिसंक्षेपाद् दिवास्वप्नः प्रशस्यते॥
चरक सू० अ० २१।

कफ, मेद और विष से पीड़ित मनुष्यों को रात में जागना हितकारी है।

दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम् ॥४८॥

प्यास, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतिसार के रोगियों को दिन में सोना हितकारी है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ ४९ ॥

तन्द्रा—इन्द्रियों के विषयों की अप्राप्ति, भारीपन, जम्भाई आना, क्लम, नींद से पीड़ित मनुष्य के समान (हाथ पैर टूटना, मोड़ना) जिसकी चेष्टायें हों, उसको तन्द्रा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः।
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः ॥ ५० ॥

मुख को खोलकर वायु का एक उच्छ्वास (घूँट) पीकर, हाथों को और शरीर को ऐंठता (मोड़ता) हुआ जिस वायु को मुख से नेत्रों में आँसुओं के साथ बाहर करता है, उसे जम्भाई कहते हैं।

वक्तव्य—छींक का लक्षण—"प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथि स्थितौ। नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत्" ॥ ५० ॥

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ ५१ ॥

जो थकान बिना किसी मेहनत के, बिना किसी श्वास की गति के बढ़े, उत्पन्न होती है, उसको क्लम कहते हैं। यह इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में रुकावट उत्पन्न करता है ॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥ ५२ ॥

सुख स्पर्श की चाह, दुःख के कारणों से बचने की लालसा, सामर्थ्य होने पर भी कार्य करने में उत्साह का न होना आलस्य कहा जाता है ॥ ५२ ॥

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥ ५३ ॥
वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५४॥

मुख में पानी आने एवं थूक से प्रेरित हुआ अन्न उत्क्लेशित (बाहर आने की प्रवृत्ति का) होकर, न निकले हृदय पर (आमाशयिक प्रदेश पर) दबाव प्रतीत हो, उसे उत्क्लेश कहना चाहिये। मुख में मीठापन, तन्द्रा, हृदय में ऐंठन, चक्कर आना, अन्न में रुचि न होना, इसको ग्लानि कहना चाहिये ॥ ५३,५४ ॥

आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रं मन्यते नरः।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य शरीर को गीले चमड़े से जकड़ा हुआ सा मानता है, तथा शिर में बहुत भारीपन अनुभव करता हो, उसे गौरव कहना चाहिये ॥ ५५ ॥

मूर्च्छा पित्ततमः प्राया, रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ ५६ ॥

प्रायः करके मूर्च्छा में पित्त-तम की अधिकता रहती है, भ्रम, रजोगुण, पित्त और वायु से होती है। तन्द्रा तमोगुण वायु और कफ से होती है। निद्रा-कफ और तम से उत्पन्न होती है।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥ ५७ ॥

गर्भ की वृद्धि-अन्न रस के कारण से और वायु के आध्मान (फूलने) से होती है।

वि० मन्तव्य—गर्भाधान होते ही जो शुक्रशोणित के मिश्रण में स्फुरण होता है, (देखिये शा० अ० ३ सू० १३) वह वायु का आध्मान—फुलाना ही है। इससे शुक्र शोणित का मिश्रण फूलता है और उसमें रस प्रविष्ट हो जाता है। फलतः आध्मान होते २ और आध्मात-अवकाश में रस का प्रवेश होते २ गर्भ की परि—सब प्रकार या उचित प्रकार से वृद्धि होती जाती है। यह रस—रसमय रक्त माता से मिलता रहता है। इसीका स्पष्टीकरण निम्न श्लोकों में किया गया है ॥ ५७ ॥

भवन्ति चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्।
तदाधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ ५८ ॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥ ५९ ॥

इसमें श्लोक भी हैं—गर्भ की नाभि के बीच में ज्योतिःस्थान (अग्निस्थान) है। इस स्थान को वायु फूँकती है, इससे इस गर्भ का शरीर बढ़ता है, उष्म (पित्त) के साथ मिली वायु इस गर्भ के ऊपर, तिरछे और नीचे गये स्रोतों को खोलती है। इससे भी यह बढ़ता है।

वक्तव्य यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि गर्भ में सारा काम यकृत् को ही करना पड़ता है। गर्भ का हृदय फेफड़े बिल्कुल काम नहीं करते। इनका काम भोजन पचाने का काम यकृत् ही करता रहता है। इसीसे यह बड़ा भी होता है। जो पीछे घटता जाता है। यही यकृत् आयुर्वेद में पित्त (अग्नि) का स्थान है। इस पित्त को ले जानेवाला, गति देनेवाला वायु है। इस पित्त के कारण पाचन ठीक होने से गर्भ के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ते हैं।

वि० मन्तव्य—यह दोनों श्लोक पाराशर महर्षि के प्रतीत होते हैं—आपने अध्याय ४ सू० ३२ में—कहा है कि उत्पन्न

होते हुए गर्भ का सर्व प्रथम "नाभि" नामक अवयव बनता है—पूर्ण नाभि नहीं, नाभि का पूर्वरूप बनता है, वहीं से देही का देह बढ़ता है यही इन श्लोकों में भी कहा गया है—इन नाभि में ज्योति—अग्नि का स्थान है, जो उस आगत रस का उचित परिपाक करता रहता है। इसके साथ वायु मिलकर आगे २ स्रोतों का दारण करता जाता है और उक्त अग्नि उनका पाक करता है। फलतः दारण होने पर भी रस का अनुचित प्रवहण नहीं होता और रस को मार्ग मिलता जाता है, देह बढ़ता जाता है। वह खींड का सा शुक्र-शोणित का मिश्रणकर एक दिन करारविन्द से पदारविन्द को मुखारविन्द में धरते हुए बालमुकुन्द का रूप धारण कर लेता है, जो वटपत्र के दोने के आकारवाले गर्भाशय में शयन करता है। च० वि० अ० ५ में कुछ आचार्यों ने स्रोतों के समुदाय को ही पुरुष—प्राणी माना है। यही उक्त दो श्लोकों में कहा गया है॥

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥६०॥

मनुष्य की दृष्टि और रोमकूप कभी भी नहीं बढ़ते। ये दोनों वस्तुएँ ध्रुव (स्थिर) हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥६०॥

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥६१॥

शरीर के क्षीण होने पर भी नख और केश-स्वभाव एवं प्रकृति के कारण सदा ही बढ़ते रहते हैं ॥६१॥

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक् द्विशः, समस्तैश्च॥

प्रकृतियाँ सात प्रकार की हैं—पृथक्-पृथक् दोषों से दो दोषों के मिलने से, और सब दोषों के मिलने से, सात प्रकृतियाँ बनती हैं ॥६२॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥६३॥

शुक्र और आर्त्तव के मिलने के समय जो दोष प्रबल होता है, उस दोष से प्रकृति उत्पन्न होती है, उस प्रकृति के लक्षणों को मुझसे सुनो।

वक्तव्य—"समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः। सा चेष्टरूपा। तस्माद् भवन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। नतु खलु सन्ति वातप्रकृतयः, पित्तप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्य हि आधिक्यभावात्सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते। तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति। सन्ति खलु वातलाः, पित्तलाः, श्लेष्मलाश्चाऽप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः॥" चरक वि० अ० ६ ॥६३॥

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तखादी च भवति ॥६४॥

इसमें वातप्रकृति मनुष्य जागनेवाला (रात में नींद कम आती है), शीत से द्वेष करनेवाला, देखने में कुरूप, चोर, द्वेष बुद्धिवाला, अनार्य, गन्धर्वचित्त (इधर उधर घूमने के मन का) हाथ-पर फटे हुए, श्मश्रु-नख और केश, छोटे एवं रूक्ष, क्राथि (हिंसाशील) सोते हुए दाँतों को कटकटानेवाला होता है। (क्राथी के स्थान पर क्रोधी भी पाठ है) ॥६४॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी। द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६५॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः॥६६॥
(वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥६७॥)

वातप्रकृति मनुष्य धैर्य रहित, कच्ची मित्रतावाला, कृतघ्न, कृश, कठोर धमनियाँ (शिरायें) दीखती हैं, बहुत बोलनेवाला, जल्दी चलनेवाला, इधर उधर घूमने के स्वभाव का, अस्थिर चित्त होता है। सोते हुए एकदम से आकाश में जाता है (खाली व्यर्थ की कल्पना करता है—आकाश में हवाई महल बनाता रहता है)। अस्थिर बुद्धि, चंचलदृष्टि, इसके रत्न, धनसंचय और मित्र कम होते हैं, कुछ न कुछ विना मतलब और विना प्रसंग के बोलता रहता है, ऐसा मनुष्य वातप्रकृति होता है। (वातप्रकृति का मनुष्य बकरी, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊँट, कुत्ता, गीध, कौआ, गधे के स्वभाववाला होता है)॥६७॥

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति ॥६८॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः। सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥६९॥

न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥७०॥
(भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥७१॥)

पित्तप्रकृति मनुष्य को पसीना बहुत आता है, शरीर से दुर्गन्ध आती है, इसके अंग पीले और ढीले रहते हैं। नख-आँख-तालु जिह्वा-ओष्ठ-पैर हाथ के तलुए ताम्रवर्ण, देखने में बहुत सुन्दर नहीं (थोड़ा भाग्यवान्), झुर्रियाँ, बालों का श्वेत होना, बालों का गिरना, बहुत खानेवाला, उष्ण से द्वेष रखनेवाला, जल्दी कुपित एवं प्रसन्न होनेवाला, मध्यम बल और

मध्यम आयु का होता है। यह मनुष्य बुद्धिशाली, चतुर-अक्ल-वाला, जबरदस्त बोलनेवाला, तेजस्वी, सभाओं में न हारनेवाला होता है। सोते हुए स्वर्ण, ढाक, अमलतास, अग्नि, विद्युत, उल्कापात को देखता है। भय से किसी के आगे नहीं झुकता, न झुकनेवालों के लिये कठोर, झुकनेवालों के लिये सान्त्वना दान देने की प्रकृति का, इसकी गति सदा चंचल रहती है। इस प्रकार का मनुष्य पित्तप्रकृति होता है। (साँप उल्लू गन्धर्व-यक्ष बिल्ली बन्दर, व्याघ्र-रीछ-नकुल के स्वभाववाले पित्तप्रकृति के मनुष्य होते हैं) ॥७१॥

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति ॥७२॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७३॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥७४॥
(दृढशास्त्रमति स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ॥७५॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥७६॥)

कफ प्रकृति के मनुष्य श्वेत दूर्वा-नीलाकमल-तलवार, गीला अरीठा, शरकण्डे का काण्ड, इनमें से किसी एक के समान वर्णवाले, देखने में सुन्दर (भाग्यवान्), प्रिय दर्शन, मधुर रस को चाहनेवाले, कृतज्ञ, धैर्यशाली, सहनशील, लोभरहित, बलवान्, देर में समझनेवाले (देर में निर्णय करनेवाले), और दृढवैरवाले होते हैं। इनकी आँखें श्वेत रहती हैं, बाल दृढ घुँघराले, भ्रमर के समान नीलवर्ण होते हैं। मनुष्य लक्ष्मीशाली, इसकी आवाज बादल, मृदंग या सिंह की गर्जना की भाँति गम्भीर होती है। सोते हुए कमल, हंस, चक्रवाक एवं सुन्दर जलाशयों को देखता है। आँखें किनारों से लाल, अंगों की रचना पृथक् पृथक्, स्निग्ध कान्तिवाला, सत्त्वगुण से युक्त, क्लेश को सहनेवाला, गुरुओं का आदर करनेवाला मनुष्य कफ प्रकृति का होता है। इसका शास्त्र ज्ञान दृढ होता है, मित्र और धन स्थिर रहते हैं। बहुत विचारकर, देर में बहुत देता है। इसके वाक्य-पद (बोलने की भाषा) सदा नियमित रहते हैं। यह व्यक्ति सदा ही गुरुओं का आदर करता है। इसका स्वभाव ब्रह्मा-इन्द्र-वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, गाय, बैल, गरुड़, हंस के समान होता है ॥७२-७६॥

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥७७॥

वैद्य दो या तीन दोषों के मिलित लक्षणों से संसर्गज प्रकृतियों को समझे ॥७७॥

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥७८॥

स्वभाव से ही प्रकृतियों का प्रकोप (बहुत बढ़ना), अथवा बदल जाना या घट जाना नहीं होता (ये स्वस्थ अवस्था में नहीं होते), अपितु ये तब होते हैं जब मनुष्य मरनेवाले होते हैं।

वक्तव्य—चरक में—शीलं व्यावर्त्ततेऽस्यर्थं भक्तिश्च परिवर्त्तते। चरक० इ० अ० १२।४६ ॥७८॥

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥७९॥

विष से उत्पन्न कीड़ा जिस प्रकार विष से नहीं मरता, उसी प्रकार ये प्रकृतियाँ मनुष्य को किसी प्रकार का कष्ट नहीं करतीं। इसी से कहा है चरक में—

"त्रयस्तु पुरुषा भवन्ति आतुराः, ते त्वनातुराः तंत्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा वातलः, पित्तलः, श्लेष्मलश्चेति।" चरक० वि० अ० ६।

समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादि मानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचिद् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥ तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः। दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते॥ चरक ॥७६॥

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥८०॥

कोई आचार्य मनुष्यों की प्रकृति को पंचमहाभूतवाली कहते हैं। इनमें से वायु, अग्नि और जल की प्रकृतियाँ वात, पित्त, कफ से कह दी हैं। पार्थिव प्रकृति का मनुष्य स्थिर, बड़े शरीर का और क्षमाशील होता है। आकाश प्रकृति का मनुष्य पवित्र, दीर्घायु और इसके कान, नाक के छेद (अंग) बड़े होते हैं ॥८०॥

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८१॥
माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥८२॥
शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्य हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥८३॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥८४॥
गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥८५॥
प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्छुचिः ।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥८६॥
जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥८७॥

सत्त्वादि गुण भेद से प्रकृति—ब्रह्मकाय–पवित्रता, आस्तिकमति, वेदों का स्वाध्याय, गुरुओं की पूजा, अतिथियों का सत्कार, यज्ञ करना–यह ब्रह्मकाय का लक्षण है। महान् आत्मत्व, शूरता, निरन्तर आज्ञा करने की प्रवृत्ति, शास्त्र में वृद्धि, भृत्यों का पोषण करना, यह महेन्द्र काय का लक्षण है। शीतल पदार्थों में प्रीति, सहनशीलता, केश आदि में भूरापन, बालों में हरा रंग, मीठा बोलना यह वारुण शरीर का चिह्न है। उदासीन वृत्ति, सहनशीलता, धन को प्राप्त करना और एकत्रित रखना, बहुत सन्तान पैदा करना यह कौबेर शरीर का लक्षण है। सुगन्ध (इत्र आदि) एवं माला में रुचि, नाच, गानेबजाने का शौक, घूमने की इच्छा—ये गान्धर्व शरीर के लक्षण हैं। युक्ति से काम निकालनेवाला, दृढ़ता से काम को आरम्भ करनेवाला, भय-रहित, स्मृतिशाली, पवित्र, जप, व्रत, यज्ञ, ब्रह्मचर्य और अध्ययन के स्वभाव का, ज्ञान, विज्ञान से सम्पन्न मनुष्य को ऋषि सत्त्ववाला कहा है।

वक्तव्य—वात प्रकृति आदि शरीर की दृष्टि से, सात्विक शरीर आदि मन की दृष्टि से कहे हैं। इसी से चरक में कहा है—"त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं राजसं तामसमिति। शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्। तस्मात् कतिचित्सत्त्वभेदानूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः।" चरक शा० अ० ४।३७।८१–८७॥

सप्तैते सात्त्विकाः काया राजसांस्तु निबोध मे ।
ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम् ॥८८॥
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ।
तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा ॥८९॥
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ।
विवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ॥९०॥
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ।
एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ॥९१॥
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ।
उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ॥९२॥
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ।
असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ॥९३॥
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ।
षडेते राजसाः कायाः,

ये सात सात्त्विक शरीर हैं। राजस प्रकृतियों को सुनो—ऐश्वर्यशाली, रौद्र, शूर, क्रोधी, निन्दा करनेवाला, अकेला ही खानेवाला, पेटू (बहुत खानेवाला) आसुर प्रकृति होता है। तीक्ष्ण परिश्रमी, डरपोक, क्रोधी, छली, घूमने तथा खाने में चपल मनुष्य सर्प सत्व है। अतिशय विषयसेवी, निरन्तर खाने का ही विचार करनेवाला, असहनशील, अस्थिर मनवाला मनुष्य शाकुन (पक्षी) स्वभाव का है। एकान्त में रहनेवाला, रौद्र, निन्दा करने वाला, धर्म के विरुद्ध बरतनेवाला, अतिशय तमोगुणी मनुष्य राक्षस-प्रकृति का है। जूठा खानेवाला, तीक्ष्ण स्वभाव, साहसिक कार्यों में रुचि, स्त्रीलोलुप, लज्जा रहित मनुष्य पिशाच प्रकृति का होता है। बराबर बाँट के न खानेवाला, आलसी, दुःख भोगने का आदी, निन्दा करने वाला, लालची, किसी को न देनेवाला मनुष्य प्रेतसत्त्व होता है। ये छै राजस शरीर हैं ॥८८-९३॥

तामसांस्तु निबोध मे ॥९४॥
दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥९५॥
अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥९६॥
एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥९७॥
इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ।

मुझसे तामस को सुनो। बुद्धि का दूषित होना, मन्द बुद्धि, स्वप्न में मैथुन कामना, किसी भी वस्तु का प्रतिकार न करने की इच्छा पशु के गुण हैं। अस्थिरता, मूर्खता, डरपोकपन, पानी की चाह, एक दूसरे से लड़ना-झगड़ना, ये मत्स्य सत्त्व के लक्षण हैं। एक ही स्थान पर बैठे रहना, सदा खाने-पीने में रत रहना, धर्म, अर्थ, काम से अलग रहना, यह वानस्पत्य सत्त्व के लक्षण हैं। इस प्रकार से ये तीन तामस प्रकृतियाँ कह दी हैं। (डल्हण ने मन्दता का अर्थ जिह्मता-कुटिलता किया है)॥

कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥९८॥
महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृताः ।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत् ॥९९॥

शरीरों की प्रकृति को समझकर उसके अनुसार चिकित्सा करे। रज, सत्त्व और तमजन्य प्रकृतियों को, महाप्रकृतियों को महाप्रकृतियाँ कहते हैं। लक्षणों से इन को भली प्रकार कह दिया, वैद्य इनको अच्छी प्रकार समझ लें।

वि० मन्तव्य—प्रकृति का विचार करके चिकित्सा करे, देखिये च० वि० अ० ८—९६। गर्भ का शरीर—शुक्र शोणित

की, काल एवं गर्भाशय की, आहार–विहार की, आकाश आदि महाभूतों की प्रकृति के अनुकूल बनता है, उक्त शुक्र आदि में जो दोष अधिक होता है उस २ दोष का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है। इस लिये मानव की वह २ प्रकृति कही जाती है और यह गर्भाधान काल से गर्भ पर अपना प्रभाव डालती है और जीवन भर एक सी बनी रहती है। पाठक लक्षणों पर ध्यान दें यहाँ प्रकृति-स्वभाव का नाम है स्वास्थ्य का नहीं। जिन पञ्च-महाभूतों के समवाय से शरीर का निर्माण होता है। उनमें के तीन महाभूत १—वात (वायु), २—पित्त (अग्नि) तथा ३—कफ (जल) ही वस्तुतः क्रियाशील हैं। अतः वे ही सुख–दुःख या आरोग्य एवं रोग या उत्पत्ति एवं विनाश के हेतु—कारण माने जाते हैं और अन्य दो महाभूत निष्क्रिय अर्थात् १—पृथिवी नामक महाभूत केवल आधार तथा २—आकाश केवल अवकाश है। यह दोनों उन तीनों के क्रिया स्थल मात्र हैं, अतः वात, पित्त एवं कफ प्रकृतियों का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया गया है और पार्थिव एवं नाभस प्रकृतियों का संक्षेप में वर्णन किया है और शरीर का मनस् पर तथा मनस् का शरीर पर प्रभाव पड़ता है, अतः दोनों के गुणधर्मों का वर्णन प्रकृति वर्णन में पाया जाता है। इन ५ के अतिरिक्त—ब्रह्म आदि सात्त्विक (सत्त्वगुण प्रधान), आसुर आदि रजस् (रजोगुण-प्रधान) तथा पाशव आदि तामस (तमोगुण प्रधान) प्रकृतियों का भी वर्णन कर दिया गया है। यद्यपि किसी एक मानव में उक्त प्रकृतियों में से कोई एक प्रकृति विशुद्धरूप से या पूर्णरूप से नहीं मिलती जैसे कोई रोग एक दोषज तथा कोई द्रव्य एकरस नहीं मिलता, तथापि जैसे वैद्य—रोग को वातिक, पैत्तिक तथा कफज और द्रव्य को मधुर एवं अम्ल आदि मानकर चिकित्सा करता है वैसे प्रकृतियों का भी निश्चय करे और तदनुसार चिकित्सा करे ॥६८,६९॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शरीर संख्या व्याकरण शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—शरीर के अवयवों की संख्या–गणना तथा उनका व्याकरण–विशिष्ट आकार का वर्णन है जिसमें उस शारीर-शरीर विषयक अध्याय का वर्णन करेंगे ॥१,२॥

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरं' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥३॥

गर्भाशय में स्थित शुक्र और आर्त्तव, आत्मा प्रकृति (आठ) और विकार (सोलह) से मिलने पर गर्भ इस नाम से कहा जाता है। इस चेतनायुक्त गर्भ को वायु विभक्त करता है। तेज इसका परिपाक करता है, जल इसको नरम बनाता है, पृथ्वी इसको संगठित करती है, आकाश इसको बढ़ाता है। इस प्रकार बढ़ता हुआ यह गर्भ जब हाथ, पैर, जिह्वा, नासिका, कान, नितम्ब आदि अंगों से युक्त हो जाता है, तब 'शरीर' इस नाम से कहा जाता है। इस शरीर के छै अंग हैं--यथा चार शाखायें (दो बाहु दो टांग), पाँचवाँ मध्यभाग और छठा शिर।

वक्तव्य—जिस प्रकार लैन्स या प्रीज्म में सूर्य किरणें प्रविष्ट होकर रूई या तिनकों को जला देती हैं, परन्तु किरणों का प्रवेश आँख से नहीं दीखता, अपितु जलने के कार्य से प्रतीत होता है, उसी प्रकार शुक्र और आर्त्तव के मिलने पर चेतना धातु प्रविष्ट होती है। इसके अगले क्षण जीने–बढ़ने के कार्य से इस चेतना धातु का ज्ञान होता है। "शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।" चरक शा० अ० ६। तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः, तद्यथा द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवमन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ चरक शा० अ० ७—५।

वि० मन्तव्य—गर्भ का नाम भ्रूण भी है। गर्भ ही जन्म होने पर बाल-बालक -बालिका कहा जाता है और वही आगे चलकर युवा एवं वृद्ध कहलाता है। शरीर—पञ्चमहाभूतात्मक है और उक्त प्रकार से इसके निर्माण में वे योगदान करते हैं और माता के रस से प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह रस भी पञ्चमहाभूतात्मक होता है और इस आहार से आता है और आहार भी पञ्चभूतात्मक है। फलतः गर्भ सर्वाङ्ग सम्पन्न होने पर "शरीर" कहलाता है। इसमें जब तक आत्मा का संयोग रहता है तब तक शरीर, आत्मा का वियोग होने पर "शव" कहलाता है। मध्य—मध्यकाय, अन्तराधि या धड़। शिर-ग्रीवा समेत शिर ॥३॥

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः; कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवङ्क्षणवृषणपार्श्वस्फिग्जानुकूर्परबाहु-

रुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्य माणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥४॥

इसके आगे प्रत्यंग कहे जाते हैं। मस्तक, उदर, पीठ, नाभि, ललाट, नासा, चिबुक, बस्ति, ग्रीवा ये एक-एक हैं। कान, आँख, भ्रू, शंख, अंस, गण्ड, कक्ष, स्तन, वंक्षण, वृषण, पार्श्व, नितम्ब, जानु, कोहनी, बाहु, ऊरु, आदि ये दो दो हैं। अँगुलियाँ बीस हैं, स्रोत कहे जायेंगे, यह प्रत्यङ्गों का विभाग है। (आदि शब्द से—ओठ, कुकुन्दर, स्फिक् आदि लेने चाहिये)।

वि० मन्तव्य—प्रत्यङ्ग—जो अंग के भी अङ्ग या अंग पर अङ्ग हैं ॥४॥

तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्ज्वः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि शिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥५॥

इनकी अब गिनती करते हैं, त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आमाशय, अन्त्र, वृक्क, स्रोत, कण्डरा, जाल, कूर्च, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धि, स्नायु, पेशी, मर्म शिरा, धमनी और योगवाही स्रोत (प्राण, उदक अन्न आदि के वाहक)।

वि० मन्तव्य—इन सब के समूह का नाम "शरीर" है ॥

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त शिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे संधिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति, समासः ॥६॥

त्वचायें सात हैं, कला सात हैं, आशय सात हैं, धातु सात हैं, शिरायें सात सौ हैं। पेशी पाँच सौ हैं, स्नायु नौ सौ हैं, अस्थियाँ तीन सौ हैं, संधियाँ दो सौ दस हैं, मर्म एक सौ सात हैं, धमनियाँ चौबीस हैं, दोष तीन हैं, मल तीन हैं, स्रोत नौ हैं, कण्डरायें सोलह हैं, जालक सोलह हैं, कूर्च छै हैं, रज्जु चार हैं, सेवनी सात हैं, संघात चौदह हैं, सीमन्त चौदह हैं, योगवाहि स्रोत बाईस हैं, आँतें दो हैं। ये संक्षेप में हैं।

वक्तव्य—सेवनी (सीवन)—जैसी कमीजों में दर्जी देते हैं। कूर्च—दातुन की कुची जैसे। संघात—मिलना। सीमन्त—जैसे औरतें शिर में मांग निकालती हैं। जालक—मछली पकड़ने के जाल की भाँति ॥६॥

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च॥

इसके आगे विस्तार से कहते हैं—त्वचायें, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनको पहले कह चुके हैं ॥७॥

आशयास्तु-वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥८॥

आशय-वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय ये सात हैं। स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय भी है।

वि० मन्तव्य—वाताशय फुप्फुस है, उसमें सर्वदा वायु भरा रहता है। श्वास क्रिया में जितना वायु भीतर जाता है उतना निकल जाता है। पित्ताशय—पित्त-द्रव पित्त का आशय-यह मांस एवं सौत्रिक तन्तु से निर्मित एक थैली है जो यकृत् के नीचे के पृष्ठ के एक गड्ढे में रहती है। इसकी आकृति नासपाती जैसी होती है....इससे एक नली निकलती है....जब भोजन अन्त्र में होता है तब उसके द्वारा पित्तरस भोजन में जा पहुँचता है। जब भोजन पचाने की आवश्यकता नहीं होती, तब पित्तरस उसी थैली में ठहरता है। श्लेष्माशय—उरस्था कला का पर्याशय भाग—इस कला के दो स्तर हैं। यह दोनों कला फुप्फुस को लपेटे अपनी गोद में लिए रहती हैं, श्वास लेने पर फुप्फुस में वायु भरने से फूलने पर दोनों स्तर समीप आ जाते हैं और श्वास निकालने पर—फुप्फुस संकुचित होने से अधिक दूर हो जाते हैं और लम्बी, चौड़ी तथा दोनों ओर से बन्द थैली (आशय) के समान है, दोनों स्तरों के भीतर लसीका (श्लेष्मा) रहती है यही बढ़कर "उरस्तोय" नामक रोग का रूप धारण कर लेती (देखें प्रत्यक्ष शा० आशयखण्ड) शार्ङ्गधर संहिता में श्लेष्माशय का स्थान उरस् माना भी है। रक्ताशय—हृदय है—रक्त का नाम शोणित है, अर्थ है चलने वाला—रक्त सर्वदा चलता ही रहता है, परन्तु कुछ समय के लिये हृदय में ठहरता है और ठहर कर पुनः चल पड़ता है। अतः वह आशय कहा गया है देखिये अ० ४ का सू० ३१। आमाशय—खा लेने पर आहार आमाशय में ठहरता है, कुछ समय के पश्चात् अन्त्र में जाना प्रारम्भ करता है। पक्वाशय—पक्वस्यजातपाकस्य आहारस्य आशयः, अर्थात् मलाशय, अन्त्र में तो आहार चलता ही रहता है ठहरता नहीं है, ठहरता है तो मलाशय में जाकर ठहरता, अतः अन्त्र—क्षुद्रान्त्र को आशय नहीं माना जाता और न मानना ही चाहिये। मूत्रा-

शय—मलद्रव में से चल कर जलीयांश मूत्राशय अर्थात् वस्ति में ही ठहरता है। गर्भाशय—गर्भ गर्भाशय में कई मास पर्यन्त ठहरता है। आशय का अर्थ है जिसमें आकर ठहरा जाता है। शुक्रशोणित गर्भाशय में आकर ठहरते हैं, अतः वह आशय कहलाता है। अष्टाङ्गहृदयशा० स्था० अ० ३ में–'सप्त च आधारा रक्तस्य आध्यः क्रमात् परे। कफामपित्तपक्वानां वायोः मूत्रस्य च स्मृताः। गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां।' आशय का नाम आधार है, इसका भी वही अर्थ है आगत को धारण करनेवाला। शार्ङ्गधर संहिता में स्तनों को भी दो आशय माना है। ये आशय माने जा सकते हैं, परन्तु क्लिष्ट कल्पना से। आशय को 'स्थान' भी कहते हैं—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। स्थान शब्द का अर्थ है—जहाँ गति—गमन की निवृत्ति हो जाय—चलते २ ठहरा जाय। इस प्रकार आशय, आधार तथा पर्याय वाचक हैं ॥८॥

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां,
स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥९॥

पुरुषों की आंत्र की लम्बाई साढे तीन व्याम है, स्त्रियों में आँतों की लम्बाई तीन व्याम है।

वक्तव्य—व्याम–हाथों को कन्धों के बराबर फैलाकर मध्यमांगुली से दूसरी मध्यमांगुली तक की लम्बाई व्याम है।

वि० मन्तव्य—व्याम ४ हाथ का होता है। पुमान् की अन्त्र की लम्बाई लगभग १४ हाथ, स्त्री की अन्त्र की लम्बाई लगभग १२ हाथ होती है। रक्त का प्रसाद—सार भाग ही मांस का रूप धारण करता है, अतः यह मांस से बनी कोमल नाली है, मोटाई अँगूठा जैसी। यह १४ हाथ लम्बी अँगूठा जैसी मोटी रबड़ की नाली की सी लचकीली और गेण्डली मारे सर्प के समान उदर में पड़ी रहती है, इसका प्रारम्भ आमाशय से और अन्त मलाशय के प्रारम्भिक भाग पर होता है, वस्तुतः आमाशय भी इसी का प्रारम्भिक भाग है और मलाशय अन्तिम भाग। इसके भीतरी भाग पर जो कला चिपकी रहती है उसमें आहार रस को ग्रहण करनेवाले अवयव होते हैं, अतः उसको ग्रहणी कहते हैं। अन्त्रोत्पत्ति के वर्णन में–(अ०४ सू० २६ २०) बतलाया गया है। अन्त्र शब्द 'अम्'—गतौ धातु से बना है। जब आमाशय में आहार जाता है तब उसमें गति होने लगती है। फलतः विलोडन होने से आहार घुलने लगता है। जितना घुलता जाता है उतना अन्त्र में गिरने लगता है। अन्त्र के प्रारम्भिक भाग में पित्ताशय की नली का मुख लगा है उसके द्वारा पाचक पित्त आकर अन्न में मिलने लगता है और उसके प्रभाव से—आहार का रस–सार-भाग रस धातु पृथक होने लगता है और अन्त्र भर में ग्रहणी नामक कला के अवयवों द्वारा गृहीत-आचूषित हो जाता है। अवशिष्ट मलद्रव पक्वाशय अर्थात् मलाशय में चला जाता है। वहाँ जलांश आचूषित होकर मूत्र बनने के लिये रक्त में चला जाता है और गाढ़ा भाग पुरीष रूप में वहीं रह जाता है ॥९॥

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च ॥१०॥

दो कान, दो नयन, मुख, २ नासिका, गुदा, मेहन में नौ स्रोत मनुष्यों में बहिर्मुख होते हैं। स्त्रियों में ये नौ स्रोत तो हैं ही, परन्तु तीन और अधिक हैं, इनमें दो स्तनों में और एक अपत्यपथ नीचे ॥१०॥

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखा अग्रप्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च ॥११॥

कण्डरायें सोलह हैं—इनमें चार कण्डरायें पैरों में, हाथ, ग्रीवा, पीठ में भी चार-चार हैं। इनमें हाथ पैर की कण्डराओं के अग्रप्ररोह (आगे निकले अंकुर रूप) नख हैं। ग्रीवा हृदय को बाँधनेवाली, नीचे की ओर गई हुई कण्डराओं का अग्रप्ररोह मेहन है। श्रोणि-पीठ-को बाँधनेवाली-नीचे (पीछे) की ओर जानेवाली कण्डराओं का प्ररोह बिम्ब (नितम्ब) हैं। ऊरु, वक्ष, अंशपिण्ड इत्यादि की कण्डराओं का प्ररोह शिर है ॥११॥

मांसशिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् ॥१२॥

जालकों का वर्णन–मांस, शिरा, स्नायु और अस्थि प्रत्येक के चार चार जाल हैं। ये जाल मणिबन्ध (कलई), गुल्फ(गिट्टे) में स्थित हैं। एक दूसरे से परस्पर बंधे हुए हैं, और एक दूसरे में गवाक्ष (वातायन) की भाँति है। जिनसे कि यह शरीर गवाक्षित (छिद्रित) बना हुआ है, (मांस-शिरा स्नायु और अस्थि इनके जाल परस्पर फँसे हुए हैं) ॥१२॥

षट् कूर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु, हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः ॥१३॥

कूर्च छैः हैं—ये हाथ, पैर, ग्रीवा और मेहन में हैं। इनमें हाथ में दो, पैरों में दो, ग्रीवा में एक, मेहन में एक ॥१३॥

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥१४॥

बड़ी मांस रज्जु चार हैं—पृष्ठ वंश के दोनों ओर पेशियों को बाँधने के लिये बाहर की तरफ दो, अन्दर की तरफ दो ॥

सप्त सेवन्यः; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका, ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥१५॥

सेवनी सात हैं – सिर में अलग अलग पाँच, जिह्वा और मेहन में एक एक। शस्त्रकर्म में इनको बचाना चाहिये ॥१५॥

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः, तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥१६॥

अस्थियों के संघात चौदह हैं—इनमें से तीन संघात गुल्म, जानु और वंक्षण में हैं। इसी प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में समझना। त्रिक और सिर में एक-एक अस्थि संघात है ॥१६॥

चतुर्दशैव सीमन्ताः, ते चास्थिसङ्घातवद् गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः, ये ह्युक्ताः संघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम् ॥१७॥

सीमन्त चौदह हैं—इनकी अस्थि संघात के समान गणना करनी चाहिये। क्योंकि अस्थि संघात इन से मिले हुए हैं। कई आचार्यों के मत से कहे हुए अस्थि संघात अट्ठारह हैं।

वक्तव्य—पूर्वोक्त चौदह, श्रोणि काण्ड के ऊपर एक, उदर और उसकी सन्धि में एक, अंश कूट के ऊपर एक। भोजने—

"संघाताः सीविता यैस्तु सीमन्तांस्तान् प्रचक्ष्महे।"

जिनसे अस्थिसंघात सिये हुए हैं उनको सीमन्त नाम दिया है ॥

त्रीणि सषष्ठीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥१८॥

वेदवादी (चरक, याज्ञवल्क्य आदि) लोग अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ कहते हैं। परन्तु शल्य तन्त्र में तीन सौ ही अस्थियाँ कही हैं। इनमें से एक सौ बीस अस्थियाँ शाखाओं में, एक सौ सत्रह अस्थियाँ श्रोणिपार्श्व-पीठ आदि छाती में हैं। ग्रीवा से ऊपर तिरसठ हैं। इस प्रकार से तीन सौ अस्थियाँ पूरी हो जाती हैं।

वक्तव्य—वेदवादी ऋषियों ने अस्थियों का विचार धार्मिक, यज्ञ कर्म की दृष्टि से किया है। जिनको छूने से प्रायश्चित्त आदि करना होता है। इसी से स्मृति में अस्थियों को गिनने की जरूरत हुई। शल्य तन्त्र में शल्य शास्त्र की दृष्टि से अस्थियों को गिना है।

वि० मन्तव्य—हमारा विचार है कि वैदिककाल में मानव शरीर में ३६० तथा शल्य तन्त्र काल में ३०० अस्थियाँ पाई जाती होंगी। इसका कारण मानव शरीर का ह्रास है, क्योंकि—यूनानी चिकित्सा के शारीर स्थान के वर्णन में २४६ या २४४ और आज २०६ या २०० पाई जाती हैं। जो कुछ हो त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में यदि एक दो वर्ष के बालक की अस्थियों के सब टुकड़े गिने जायँ तो उनकी संख्या तीन सौ या उससे भी अधिक हो जायँगी। ११-१२ वर्ष के बालक के हाथ में ३८ अस्थियाँ होती हैं। अस्तु, अस्थि जैसी मोटी वस्तु के गिनने में प्राचीनों ने इतनी भूल की है यह मानने को मन नहीं चाहता। अस्थि ऊपर बाहर से श्वेत या श्वेताभ होती है और भीतर से उसकी बनावट स्पञ्ज जैसी होती है। इस भाग में मज्जा भरी रहती है। अस्थि भी जीवित शरीर में चेतनामय होती है, अतएव उसमें वेदना-रुजा-रुक् का अनुभव होता है। वह शरीर का सार या कठोर- सबसे कठोर भाग है। आधुनिक शरीरवेत्ता-दाँतों एवं नखों को अस्थि मानना उचित नहीं समझते, क्योंकि उनकी और अस्थियों की रचना में भेद है। हमारा विचार है कि प्राचीनों में पुनर्वसु भी ऐसा ही मानते थे। अतएव च० शा० अ० ७ में—"दाँतों, दन्तोलूखलों तथा नखों को साथ मिलाकर ३६० अस्थियाँ होती हैं" ऐसा लिखा है। यदि इनमें कोई भेद न होता तो ऐसा न लिखा जाता ॥१८॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि। तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके, ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥१९॥

पैर के प्रत्येक अंगुली में तीन-तीन अस्थियाँ हैं, इस प्रकार से ये पन्द्रह हैं। तलुआ, कूर्च और गुल्फ में दस, पार्ष्णि में एक, जंघा में दो, जानु में एक, ऊरू में एक, इस प्रकार से एक टाँग में तीस अस्थियाँ होती हैं। इसी प्रकार दूसरी टाँग और बाहुओं में समझनी चाहिये। श्रोणी प्रदेश में पाँच, जिनमें से गुदा, भग और नितम्ब में चार, त्रिक में एक, पार्श्व में छत्तीस एक तरफ, और दूसरे पार्श्व में भी छत्तीस, पीठ में तीस, उर में आठ, अंश फलक में दो, ग्रीवा में नौ, कण्ठ नाड़ी में चार, हनु में दो, दाँत बत्तीस, नासा में तीन, तालु में एक, गण्ड-कर्ण और शंख में एक-एक, शिर में छै अस्थियाँ हैं।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र द्वारा प्राचीनों ने अंगुष्ठ में भी

तीन अस्थियाँ मानी हैं, जो भारतीय वैद्यों में विवाद का और नवीनों में शिरःशूल का कारण बनी हुई हैं, श्री गणनाथ सेन आदि ने तो इस पर बहुत कुछ कह डाला है और इसे प्राचीनों की बहुत बड़ी भूल माना है, प्रत्यक्षदर्शन के साथ-साथ अग्रिम सूत्र २६ के सन्धिगणना के "द्वौ अंगुष्ठे" पाठ का उल्लेख भी किया है, परन्तु हमारे विचार में यह सब निराधार है। कारण सुनिये—श्री डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा ने अपनी ह० श० र० के प्रथम भाग के अ० ३ में एक चित्र- ३५ वर्ष की स्त्री के हाथ का एक्सरे चित्र दिया है। उसमें अँगूठा में एक गोल अस्थि दिखाई दे रही है और यह सर्वथा पृथक् है। अतः अस्थियाँ तीन और सन्धियाँ दो मानना उचित है कि अनुचित पाठक स्वयं विचार करें और सम्भव है इसी को मान कर प्राचीनों ने तीन अस्थियाँ मानी हों और यह भी सम्भव है कि उस समय यह अस्थि सब में व्यक्त रहती हो। दन्ता द्वात्रिंशत्–दाँत ३२ होते हैं, परन्तु किसी के ३० भी होते हैं, और दूध के दाँत २४ ही रहते हैं, जो छठे, सातवें वर्ष में गिर जाते हैं ॥१६॥

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति, तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि। तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥२०॥

ये अस्थियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—यथा, कपाल (मिट्टी के ठीकरे समान), रुचक, तरुण, वलय (कंगन के या उसके खण्ड आकार की), नलक। इनमें जानु, नितम्ब, अंश, फलक, गण्ड, तालु, शंख और शिर में कपाल अस्थियाँ हैं। दाँतों को रुचक कहते हैं। नासिका, कान, ग्रीवा, अक्षिकोष में तरुणास्थि हैं। पार्श्व, पीठ और छाती में वलय, शेष स्थानों पर नलकास्थियाँ हैं ॥२०॥

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ॥
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥२१॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२२॥
मांसान्यत्र निबद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२३॥

इस में श्लोक भी हैं—जिस प्रकार वृक्ष अन्दर के सार भागों से स्थिर रहते हैं, उसी प्रकार अस्थि रूपी सारों से मनुष्यों के शरीर धारण किये जाते हैं। इसलिये त्वचा और मांस नष्ट होने पर भी देह की सारभूत अस्थियाँ नष्ट नहीं होतीं। मांस-शिराओं और स्नायुओं के द्वारा अस्थियों में बंधे होने से न तो फटते हैं और न गिरते हैं।

वि० मन्तव्य—अस्थि के ढाँचा पर मांसपेशियाँ लिपटी तो हैं ही, पर शिरा एवं स्नायु रूप डोरियों से बँधी भी हैं, मांसपेशियों के उचित निवेश से मानव का वर्तमान आकार (आकृति) बनता है। यदि उसे पृथक् कर दिया जाता है तो कोई नहीं कह सकता कि यह देवदत्त का अस्थिपञ्जर है कि अथवा यज्ञदत्त का। अस्थिपञ्जर का नाम "कंकाल" है।२१-२३॥

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः, स्थिराश्च ये ॥२४॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२५॥

सन्धियाँ दो प्रकार की हैं—चेष्टावान् और स्थिर। शाखा, हनु, और कटि में चेष्टाशील सन्धियाँ हैं। शेष सब स्थानों पर स्थिर सन्धियाँ समझनी चाहिये।

वि० मन्तव्य–अस्थियों के संयोग स्थल का नाम "सन्धि" है। यद्यपि वे परस्पर सर्वथा मिली या जुड़ी नहीं होतीं। उनके मध्य में श्लेषण नामक कफ विद्यमान रहता है। चेष्टावान् या चल सन्धियाँ चेष्टा—गति करनेवाली और स्थिर या अचल सन्धियाँ चेष्टा रहित होती हैं। सन्धि को सन्धान एवं श्लेष भी कहते हैं—अस्थियों के सटने का स्थान। सन्धिस्थल में श्लेषण कफ रहने से चल सन्धियाँ घर्षण से बच जाती हैं और अचल सन्धियाँ सटी रहती हैं ॥२४-२५॥

सङ्ख्यातास्तु दशोत्तरे द्वे शते। शाखास्वष्टषष्टिः। एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश, जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ; तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयक्लोमनि, बद्धास्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ वर्त्ममण्डलयोर्नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः; द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि ॥२६॥

सन्धियों की संख्या दो सौ दस है। इन में शाखाओं में अड़सठ, कोष्ठ में उनसठ, ग्रीवा से ऊपर तिरासी (८३) हैं। पैर की प्रत्येक अँगुली में तीन-तीन, अँगूठे में दो, ये कुल चौदह हुईं। जानु-गुल्फ और वंक्षण में एक-एक, इस प्रकार से एक टांग में कुल सत्रह सन्धियाँ हैं। इस प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में समझना चाहिये। कटि कपालों में तीन, पृष्ठ वंश में चौबीस-चौबीस ही पार्श्वों में, उर में आठ। आठ ग्रीवा में, कण्ठ में तीन, हृदय क्लोम से सम्बद्ध नाड़ियों में अठारह, दाँतों के बराबर दन्त मूलों में अर्थात् बत्तीस,

काकलक में एक, नासा में एक, नेत्राश्रित वर्त्म मण्डल में दो, गण्ड में एक, कान में एक, शंख में एक, हनुसन्धि में दो, भ्रुकुटी के ऊपर दो, शंखों के ऊपर दो, शिरःकपालों में पाँच, मूर्ध्नि (शिर) में एक।

वि० मन्तव्य—द्वौ अंगुष्ठे—अंगूठा में चणकास्थि समेत तीन अस्थियाँ होने पर भी सन्धियाँ दो ही हैं, क्योंकि तीसरी चणकास्थि कण्डरा में पृथक् रहती है। दन्तमूलेषु—दन्त के मूल में ऊखलाकार, इन में दन्त धँसे-धरे रहते हैं या जुड़े रहते हैं ॥२६॥

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतर-तुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥२७॥

ये सन्धियाँ आठ प्रकार की हैं। यथा कोर (कोन किनारे की-इस लकड़ी की कोर मार देना), उलूखल, सामुद्ग, प्रतर, तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शंखावर्त्त—इनमें से अंगुली, कलई, गुल्फ, जानु और कोहनी में कोर सन्धि हैं। कक्षा, वंक्षण और दांतों में उलूखल सन्धि, अंसपीठ, गुदा, भग, नितम्ब में सामुद्ग, ग्रीवा और पृष्ठवंश में प्रतर, शिर और कटि कपालों में तुन्नसेवनी, हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड, कण्ठ हृदय नेत्र-क्लोम नाड़ी में मण्डल, श्रोत्र शृंगाटकों में शंखावर्त्त। नाम से ही इनकी आकृति बता दी है।

वक्तव्य-कोर-किनारेवाली, उलूखल-ओखली के आकार की, सामुद्ग सम्पुट के आकार की, प्रतर-तैरनेवाली, तुन्नसेवनी-एक दूसरी के बीच में फँसी, वायसतुण्ड-कौवे की चोंच के समान, मण्डल—गोलाकार, शंखावर्त्त—शंख के ऊपर के चक्करों की भाँति।

वि० मन्तव्य—कोरसन्धि कोरनामक सन्धि-सन्धान-जोड़-कोर कलिका-कली (अविकसित फूल) का नाम है। जहाँ दो अस्थियों के सिरे कोर जैसे रहते हैं और वे दोनों अस्थियाँ जहाँ जुड़ी रहती हैं उस सन्धि का नाम कोर सन्धि है। ये सब चल होती हैं। उलूखल सन्धि-एक अस्थि में ऊखली का गढा या थाला रहता है और दूसरी अस्थि का सिरा मूसल के समान उसमें पड़ा या धँसा रहता है। यह भी दो प्रकार की होती है १—अचल जैसे दन्त एवं दन्तोलूखल की और २—चल जैसे—कक्षा एवं वंक्षण की। सामुद्ग—जो भली प्रकार ऊपर टिकी रहती है या सम्पुट के समान बनी रहती है—दोनों अस्थियों के सिरों में गर्त रहता है और गर्त्त के किनारे मिले रहते हैं जैसे सम्पुट में दो सिकोरों के। प्रतर-जहाँ दो अस्थियाँ तरपतर धरी-जुड़ी रहती हैं, प्रतर-तले ऊपर—नीचे ऊपर। तुन्नसेवनी—जहाँ दो अस्थियों के दांते कांटे फँसे रहते हैं, ध्यान से देखने पर दोनों अस्थियाँ परस्पर सिली हुई प्रतीत होती हैं जैसे शिरःकपालों में कपालों के दांते फँसे रहते हैं, जैसे परस्पर सिले हों। वायसतुण्ड—इस में एक अस्थि का सिरा काक की तुण्ड—चोंच का सा होता है दूसरी से जुड़ा रहता है। जैसे अधोहनु का सिरा शंखास्थि से जुड़ा है। मण्डल—जहाँ अस्थियाँ मण्डल या चक्र के आकार में परिणत हो जाती हैं या जिनसे घेरा बन जाता है। जैसे कण्ठ अर्थात् श्वास मार्ग-नलिका में। शंखावर्त्त-शंख के भीतरी आवर्त्तों-घुमावों के समान ॥२७॥

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते ॥२८॥

ये केवल अस्थियों की ही सन्धियाँ कही गई हैं। पेशी, स्नायु और सिराओं की सन्धियों की गिनती नहीं है ॥२८॥

नव स्नायुशतानि। तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षण्निचितास्तास्त्रिंशत्, तावत्यएव तलकूर्चगुल्फेषु, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत्, षट्त्रिंशद् ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्, एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥२९॥

स्नायु नौ सौ हैं। इनमें से शाखाओं में छै सौ हैं। कोष्ठ में दो सौ तीस। ग्रीवा से ऊपर सत्तर हैं। पैर की एक एक अंगुली में छै छै स्नायु हैं, कुल तीस हैं। तल, कूर्च और गुल्फ में भी तीस, जंघा में भी तीस, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वंक्षण में दस, इस प्रकार टाँग में एक सौ पचास स्नायु हैं। इसी प्रकार दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं को समझना। कटि में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों में साठ (छाती में तीस) ग्रीवा में छत्तीस, शिर में चौंतीस। इस प्रकार से नौ सौ स्नायु कह दिये।

वि० मन्तव्य—स्नायु को पञ्जाब में सड़ी या सद्दी कहते हैं। यह शण के रेशों-तन्तुओं जैसी श्वेत एवं लम्बी होती हैं और अत्यन्त दृढ़ भी, इनसे (पशु की स्नायु से) धनुष की ज्या (डोरी) तथा रूई धुनने की तांत बनाई जाती हैं। इनसे शरीर की सन्धियाँ बँधी रहती हैं (दे० श्लो० ४२) और इसके जाल (प्रतान—ताना बाना के रूप में) मांसपेशियों में भी तने रहते हैं और वे सड़े गले व्रणों में—दिखाई पड़ते हैं (दे० सू० अ०

२३ का सूत्र १२ यथा "शणतूलवत्-स्नायुजालवन्तो" अर्थात् शण के तन्तुओं जैसे स्नायु जाल से युक्त व्रण)। स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसाऽस्थिमेदसाम् (शा० ध० सं० अ० ५)। मांसान्यत्र निबद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा (सू० शा० अ० ५ श्लो० २५) स्नायु के द्वारा व्रण को सिला भी जाता है (सु० अ० २५ श्लो० २१) १—प्रतानवती-शणतूल के जाल जैसी, २—वृत्त-गोल तथा ठोस-अशुषिर, ३—पृथु चौड़ी या चपटी, ४—शुषिर-खोखली-कठोर सिरा रूप, क्योंकि जिन सिराओं का खरपाक होता है वे स्नायु कही जाती हैं। उपादान दोनों का समान है, देखिये सू० शा० अ० ४ श्लोक ३० ॥२६॥

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥३०॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥३१॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥३२॥
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥३३॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥३४॥
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥३५॥
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥३६॥

इसमें श्लोक भी हैं—स्नायु चार प्रकार की हैं, यथा प्रतानवती, वृत्त, पृथु और शुषिर (खोखली)। इनमें प्रतानवती स्नायु शाखाओं में और सब सन्धियों में हैं। वृत्त (गोल) स्नायु को कण्डरायें समझना चाहिये। आमाशय, पक्वाशय और वस्ति में शुषिर स्नायु हैं। पार्श्व छाती, पीठ और शिर पर पृथु (चपटी) स्नायु हैं। जिस प्रकार लकड़ी के तख्तों से तैय्यार की, बहुत से बन्धनों से बँधी हुई नाव पानी में बहुत से आदमियों के बोझ को उठाने में समर्थ होती है, उसी प्रकार इस शरीर में जितनी भी संधियाँ है, वे सब स्नायुओं से बँधी हुई हैं, इसी से मनुष्य भार को उठाने में समर्थ होते हैं। न तो अस्थियाँ न पेशी, न सिरायें, न सन्धियाँ आहत होने पर इतना कष्ट नहीं देतीं (निकम्मा नहीं करतीं) जितना कि स्नायु के आघात से बेकार हो जाता है। जो अन्दर और बाहर के स्नायु को जानता है, वह मनुष्य प्राणियों के शरीर में से गहराई में गये शल्य को भी निकाल सकता है ॥३०-३६॥

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, तिस्रः पायौ, एका मेढ़े, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डु (न्दु)केषु, ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायां, द्वे ओष्ठयोः, द्वे नासायां, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति, एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥३७॥

पेशियाँ पाँच सौ हैं। इनमें से शाखाओं में चार सौ, कोष्ठ में छयासठ, ग्रीवा से ऊपर चौंतीस। पैर की प्रत्येक अंगुली में तीन, कुल पन्द्रह। प्रपद में दस, पैर के ऊपर कूर्च में लगी हुई भी दस। गुल्फ तल में दस। गुल्फ और जानु के बीच में बीस। जानु में पांच। ऊरु में बीस, वंक्षण में दस। इस प्रकार से एक टांग में एक सौ पेशियाँ है। इसी प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में गिननी चाहिये। पायु में तीन, मेढ़न में एक, सेवनी में एक, वृषणों में दो, प्रत्येक नितम्ब में पांच, पांच, वस्तिशिर में दो, उदर में पांच, नाभि में एक, पीठ के ऊपर के भाग में लगी हुई लम्बी पांच-पांच, पार्श्वों में छै, वक्ष में दस, अक्षक और अंस के चारों ओर सात, हृदय और आमाशय में दो, यकृत्, प्लीहा, उण्डुक में छः, ग्रीवा में चार, हनु में आठ, काकलक और गले में एक-एक, तालु में दो, जिह्वा में एक, ओष्ठ में दो, नासा में दो, नेत्र में दो, गण्ड में चार, कान में दो, ललाट में चार, शिर में एक। इस प्रकार से पांच सौ पेशियाँ पूर्ण हो जाती हैं ॥३७॥

भवति चात्र—

शिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥३८॥

इसमें श्लोक भी है—

मनुष्यों की सिरायें, स्नायु, अस्थि, पर्व और सन्धियाँ पेशियों से ढँपी हुई हैं। इसलिये ये बलवान् रहती हैं ॥३८॥

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्चपञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः; अपत्यपथे चतस्रः—तासां प्रसृते अभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव। पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति।

स्त्रियों में बीस पेशियाँ अधिक हैं। प्रत्येक स्तन में पाँच, पाँच, दोनों स्तनों में दस। यौवन काल में इनमें वृद्धि होती है। अपत्य मार्ग में चार पेशी हैं। इनमें से दो अन्दर की ओर फैली हैं। और दो गोलाई में बाहर की ओर अपत्य पथ के मुख में रहती हैं। गर्भद्वार के मुखपर स्थित तीन पेशियाँ हैं। शुक्र आर्त्तव को प्रविष्ट करनेवाली तीन और हैं। पित्ताशय और पक्वाशय के बीच में गर्भशय्या (गर्भाशय) रहता है, जहाँ पर गर्भ रहता है।

वि० मन्तव्य—अपत्यपथ—गर्भ का मार्ग—योनिमार्ग। योनिव्यापद् आदि प्रसंगों में योनि गर्भाशय का नाम है—यु मिश्रणे धातु (अदादि गण) से योनि शब्द बनता है। अर्थ—जहाँ पर शुक्र शोणित का मिश्रण हो। योनि—भगौष्ठ, भग एवं गर्भाशय का सम्मिलित नाम है, देखें अग्रिम श्लो० ४३ ॥३९॥

तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति ॥४०॥

पेशियों का आकार—बहल, पेलव, (तनु-पतली) स्थूल, सूक्ष्म, पृथु (चपटा), गोल, ह्रस्व, दीर्घ, स्थिर, मृदु, श्लक्ष्ण, कर्कश स्वभाव का होता है। पेशियाँ सन्धि, स्नायु-अस्थि-सिरा को ढाँपती हैं, अतः स्थान के अनुसार इसका स्वभाव होता है (जहाँ जैसी जरूरत होती है, वहाँ वैसा होता है)।

वि० मन्तव्य—पेशियों के उक्त बहल पेलव आदि भावों के कारण ही प्रतिप्राणी की आकृति में भेद होता है और पुष्टि एवं कार्श्य होता है, एक ही के शरीर के भिन्न २ अङ्गों एवं प्रत्यङ्गों में भी पुष्टि एवं कार्श्य होता है। इसी प्रकार अबलता-सबलता भी होती है। व्यायाम से इसी प्रकार पेशियों को पुष्ट बनाया भी जा सकता है ॥४०॥

भवति चात्र—

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥४१॥

इसमें श्लोक भी है—

पुरुषों के मेहन और मुष्क (वृषण) में रहनेवाली जो पेशियाँ कही हैं, वे ही पेशियाँ स्त्रियों में अन्तर्गत फल (डिम्ब) को ढाँपे रहती है। (लक्षण-लिंग-ऽलक्ष्ण)।

वक्तव्य—भोज तीन पेशियाँ कम मानते हैं। यथा—पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप। अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः ॥४१॥

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥४२॥

मांस, सिरा, धमनी, और स्रोतों का विभाग अन्यत्र कहेंगे ॥४२॥

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥४३॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥४४॥

योनि शंखनाभि के आकार की, तीन आवर्त्त से युक्त होती है, उसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या रहती है। रोहित मत्स्य के मुख की जैसी आकृति होती है, उसी के समान उसी के आकार की गर्भशय्या होती है। (अर्थात् आगे से मुख छोटा-तंग रहता है, और पीछे बड़ा हो जाता है) ॥४३,४४॥

आमुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥४५॥

गर्भ गर्भाशय में अंगों को संकुचित करके सामने की ओर से रहता है। यह गर्भ प्रसव के समय स्वभाव से ही (शिर के भारी होने के कारण) शिर के बल आता है (पहले शिर आता है) ॥४५॥

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥४६॥

शरीर का त्वक् पर्यन्त जो यह अंग विनिश्चय है, वह किसी भी प्रकार शल्य ज्ञान के बिना वर्णन नहीं किया जा सकता है। (शल्य ज्ञान से अंगों का निश्चय किया जा सकता है) ॥४६॥

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥४७॥
प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम् ॥४८॥

इसलिये शल्य के हरण करनेवालों को मृत शरीर का शोधन करके अच्छी प्रकार अंगों का निश्चय करना चाहिये। प्रत्यक्ष से देखा हुआ और शास्त्र से जाना हुआ ये दोनों ही बातें संक्षेप में ज्ञान की वृद्धि में कारण होती हैं। चरक में कहा है—शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥४७,४८॥

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमावहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य, ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुबल्वजकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥४९॥

इसलिये सम्पूर्ण अंगोंवाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ बरस की आयु से कम आयु के, शव में से आन्त्र और मल को निकालकर, पुरुष के शव का बहते हुए जलवाली नदी में पिञ्जरे के अन्दर, मुंज, वल्कल, कुश, सन आदि किसी एक से लपेटकर, एकान्त स्थान में

रखकर सड़ाये (नरम करे)। भली प्रकार नरम बन जाने पर इसको निकालकर इस शरीर को सात दिन तक खस, बाल, बाँस, बल्वज की बनाई किसी एक की कूची से धीरे धीरे रगड़ता हुआ त्वचा से लेकर सब ही बाहर और अंदर के अंग-प्रत्यंग भागों को, उनकी विशेषताओं को कहे हुये अनुसार आँख से देखे। (अप्रकाशे का अर्थ अँधेरे में भी करते हैं)।

वि० मन्तव्य—आजकल आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक विद्यालयों में शवच्छेद किया जाता है वहाँ—शव में—फमालिन एवं संखिया का इन्जेक्शन कर दिया जाता है। फलतः वह सड़ता नहीं है, सूख अवश्य जाता है और उसमें रंग भी चढ़ा दिया जाता है, जिससे रक्त सिराएँ लाल बनी रहती हैं। धीरे २ महीनों चीर २ कर अङ्ग प्रत्यङ्ग देख लिये जाते हैं॥

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥५०॥

शरीर में अतिसूक्ष्म विभु-परमात्मा को आँख से नहीं देख सकते। यह आत्मा तो ज्ञान चक्षु से और तप की आँखों से ही देखा जा सकता है। इसीसे कहा है—

'यद्दुष्करं यद्दुरापं यच्च दुर्गं यद् दुस्तरम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥'

वि० मन्तव्य—विभुः-विविधो भवति, विकृतो—विकारयुक्तो भवति इति अर्थात् जो विश्वरूप है या जो शरीर धारण करता है वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, एक्सरे से भी नहीं देखा जा सकता, शुक्र में जो सर्पाकार कीटाणु देखा भी जाता है वह आत्मा नहीं, अपितु उसका पाञ्चभौतिक शरीर है। भले ही वह भी सूक्ष्म है परन्तु सूक्ष्मतम नहीं। वह तो ज्ञान चक्षु—सुख दुःख आदि गुणों—लक्षणों से देखा जाता है। अथवा तपःप्राप्त दृष्टि—दिव्य दृष्टि से॥५०॥

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सदेहमवापोह्याचरेत् क्रियाः॥५१॥

शरीर के विषय में और शास्त्र के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। देखकर और सुनकर-संदेह को मिटाकर ही चिकित्सा कार्य आरम्भ करें।

वि० मन्तव्य—विशारद-प्रगल्भ-जो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को भली भाँति देख लेता है और शास्त्र को समझ लेता है, वह विशिष्टा शारदा वाणी यस्य सः—विशारद—प्राध्यापक शरीर का व्याख्याता हो सकता है॥५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरण-शारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे प्रत्येक मर्मनिर्देश शरीर का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—प्रत्येक (१०७) मर्म का निर्देश—वर्णन है, जिसमें मर्म का लक्षण देखिये २२ वें सूत्र में॥१,२॥

सप्तोत्तरं मर्मशतम्‌ तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि सन्धिमर्माणि चेति। न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते॥३॥

मर्म एक सौ सात हैं। ये मर्म पाँच प्रकार के हैं, यथा—मांस मर्म, सिरा मर्म स्नायु मर्म अस्थि मर्म और सन्धिमर्म। मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि से पृथक् कोई मर्म नहीं होते, क्योंकि इनसे पृथक् और नहीं मिलते। (मारयन्तीति मर्माणि)।

वि० मन्तव्य—पञ्चात्मक—मांस आदि मय अर्थात् उनसे निर्मित यथा मांसमर्म—मांस मय मर्म, सिरामर्म—सिरामय मर्म, स्नायुमर्म—स्नायुमय मर्म, अस्थिमर्म—अस्थिमय मर्म और सन्धिमर्म—सन्धिमय मर्म। यथा मृन्मय—मिट्टी से बना—निर्मित घट आदि। क्योकि मांस आदि के अतिरिक्त—रहित मर्मस्थल उपलब्ध नहीं होते॥३॥

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम्॥४॥

इनमें ग्यारह मांसमर्म, इकतीस सिरामर्म, सत्ताईस स्नायुमर्म आठ अस्थिमर्म, और बीस सन्धि मर्म हैं। इस प्रकार से ये एक सौ सात मर्म हैं।

वि० मन्तव्य—विधि भेद से मर्मों की संख्या इस प्रकार है॥४॥

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत्॥५॥

इनमें से ग्यारह मर्म एक टाँग में होते हैं। इस प्रकार से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं को समझना चाहिये। पेट और छाती में बारह, पीठ में चौदह, ग्रीवा से ऊपर के भाग में सैंतीस मर्म हैं॥५॥

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्युर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरत्

सक्थि व्याख्यातम् । उदरोरसोस्तु गुदबस्तिनाभिहृदय-स्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति । पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलका-न्यंसौ चेति । बाहुमर्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरो-मणिबन्धेन्द्रबस्तिकूर्पराण्युर्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति, एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः । जत्रुण ऊर्ध्वं चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे द्वे फणे द्वावपाङ्गौ द्वावावर्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खावेका स्थपनी पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ॥६॥

इनमें सक्थि (टांग) के मर्म—क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्च-शिर, गुल्फ, इन्द्रबस्ति, जानु, आणि, ऊर्वी, लोहिताक्ष और विटप ये ग्यारह मर्म हैं। इसी भाँति दूसरी टांग में समझना। पेट और छाती के मर्म—गुद, बस्ति, नाभि, हृदय, स्तनमूल, स्तनरोहित, अपलाप, और अपस्तम्भ। पीठ के मर्म—कटीक तरुण, कुकुन्दर, नितम्ब, पार्श्वसन्धि, बृहती, अंसफलक और अंस। बाहु के मर्म—क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्चसिर, मणिबन्ध, इन्द्रबस्ति, कूर्पर, आणि, ऊर्वी, लोहिताक्ष और कक्षधर। इसी से दूसरी बाहु भी समझना। जत्रु से ऊपर के मर्म—चार धम-नियां, आठ मातृका, दो कृकाटिका, दो विधुर, दो फणा, दो अपाङ्ग, दो आवर्त्त, दो उत्क्षेप, दो शंख, एक स्थपनी, पाँच सीमन्त, चार शृङ्गाटक, एक अधिपति हैं।

वि० मन्तव्य—उदरोरसोस्तु......चेति—इन में उदर के ३ मर्म हैं—१—गुद, २—बस्ति, ३—नाभि (अन्त्र)। शेष ६ उरस् के मर्म हैं ॥६॥

तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि, नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणास्तनमूलापला-पापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरा-मर्माणि, आणी (णि) विटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षि-प्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि, कटीकतरुणनितम्बांस-फलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि, जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फ-मणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि ॥७॥

इनमें—तलहृदय, इन्द्रबस्ति, गुद, स्तनरोहित ये मांस मर्म हैं। नीलधमनी, मातृका, शृंगाटक, अपांग, स्थपनी, फणा, स्तनमूल, अपलाप, अपस्तम्भ, हृदय, नाभि, पार्श्वसन्धि, बृहती, लोहिताक्ष, ऊर्वी ये सिरा मर्म हैं। आणि, विटप, कक्षधर, कूर्च, कूर्चशिर, बस्ति, क्षिप्र, अंस, विधुर, उत्क्षेप ये स्नायु मर्म हैं। कटिकतरुण, नितम्ब, अंसफलक, शंख ये अस्थिमर्म हैं। जानु, कूर्पर, सीमन्त, अधिपति, गुल्फ, मणिबन्ध, कुकुन्दर, आवर्त्त और कृकाटिका ये संधि मर्म हैं ॥७॥

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि भवन्ति, तद्यथा—सद्यः प्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्य-कराणि, रुजाकराणि चेति। तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोन-विंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्य-घ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति ॥

ये सब मर्म पांच प्रकार के हैं। यथा सद्यः प्राणहर, कालान्तरप्राणहर, विशल्यघ्न, वैकल्यकर और रुजाकर। इनमें सद्यः प्राणहर उन्नीस हैं। कालान्तर प्राणहर तेंतीस हैं। विशल्यघ्न तीन हैं। वैकल्यकर चौवालीस हैं। रुजाकर मर्म आठ हैं ॥८॥

भवन्ति चात्र—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदयं बस्तिनाभ्यौ (भी) च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥९॥
वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः।
कटीकतरुणे सन्धौ पार्श्वजौ बृहती च या ॥१०॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु।
उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् ॥११॥
लोहिताक्षाणि जानूर्वीकूर्चविटपकूर्पराः।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥१२॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ तथा।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च ॥१३॥
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान्।
क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥१४॥

इसमें श्लोक भी हैं—शृङ्गाटक, अधिपति, शंख (दोनों), कण्ठसिरा, गुदा, हृदय, बस्ति और नाभि इन पर आघात लगने से तुरन्त मृत्यु हो जाती है। (कण्ठसिरा-मातृका) वक्ष मर्म (छाती के मर्म), सीमन्त, तलहृदय, क्षिप्र, इन्द्रबस्ति, कटिक-तरुण, पार्श्वसन्धि, बृहती, नितम्ब ये कालान्तर में प्राणहर होते हैं। दो उत्क्षेप और स्थपनी ये विशल्यघ्न हैं। लोहिताक्ष, जानु, ऊर्वी, कूर्च, विटप, कूर्पर, अंस, अंसफलक, अपांग दो नील, दो मन्या, दो फण, कुकुन्दर, कक्षधर, विधुर, कृकाटिका दो आवर्त ये वैकल्यकारक हैं। गुल्फ दो, दो मणिबन्ध, कूर्चसिर चार, ये आठ मर्म रुजाकर हैं। क्षिप्रमर्म वेधन होने पर तुरन्त भी मारता है। और कुछ समय पीछे भी मारता है ॥९-१४॥

मर्माणि मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः, तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति, तस्मान्मर्मस्वभि-हतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते ॥१५॥

मर्म का लक्षण—मांस-सिरा-स्नायु-अस्थि और सन्धि इनके मिलने के स्थल का नाम मर्म है। इनमें स्वभाव से ही प्राण विशेष रूप में रहते हैं। इसलिये मर्मों पर आघात पहुँचने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नष्ट हो जाता है, मन बदल जाता है। अथवा भ्रम, प्रलाप, गिरना और प्रमोह ये लक्षण होते हैं।

वि० मन्तव्य—मांस आदि के सन्निपात अर्थात् संयोग स्थल का नाम "मर्म" है अथवा यों कहिये—जहाँ मांस आदि

का संयोग रहता है उस स्थल का नाम "मर्म" है। ये स्थल विशेषरूप से प्राणों के आधार हैं। प्राण के लिये देखिये अ० ३ का तीसरा सूत्र। और इसी अध्याय का ३५ वाँ श्लोक। तान् तान् भावान् आपद्यन्ते—"उन उन भावों-आपदाओं को प्राप्त होते हैं" के लिये देखिये—सू० स्था० अ० २५ के श्लोक २३ से ४० तथा इसी अध्याय के श्लो० ३६ से ४०। अभिघात—संक्षेपतः अभिघात तीन प्रकार से होता है १—गिरने आदि से चोट लगना, २ शत्रु द्वारा दण्ड एवं शस्त्र आदि की चोट लगना, ३—शस्त्र-कर्म हैं ॥१५॥

तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठन्ति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते (पाकात्पतितशल्यो वा जीवति), वैकल्यकराणि सौम्यानि सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च, प्राणावलम्बनं करोति, रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि विशेषतश्च तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके ॥१६॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्म आग्नेय (अग्नि गुणवाले) हैं। शरीर में अग्निगुणों के शीघ्र कम होने से मारक होते हैं। कालान्तर प्राणहर मर्म सौम्य और आग्नेय गुणवाले हैं। अग्निगुणों के तुरन्त क्षीण होने पर और सौम्य गुणों के कुछ समय पीछे क्षीण होने पर कालान्तर में मारक हैं। विशल्य प्राणहर मर्म वायव्य हैं—शल्यमुख से रुकी हुई वायु जब तक अन्दर रहती है, तब तक रोगी जीता है। शल्य के निकालते ही मर्म स्थान में स्थित वायु निकल आती है। इसलिये शल्य रहने पर जीता है, शल्य के निकाल लेने पर मर जाता है। (अथवा पक जाने पर शल्य के गिर जाने से रोगी जीता है)। वैकल्य कारक मर्म सौम्य हैं। क्योंकि सोम स्थिर एवं शीतल होने से प्राणों को सहारा देता है। रुजाकर मर्म अग्निगुण-वायुगुण की अधिकतावाले हैं। अग्नि और वायु विशेषकर दर्द करनेवाले हैं। कोई आचार्य वेदना को पंचभूतजन्य वेदना मानते हैं।

वि० मन्तव्य – पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुः एके अर्थात्—रुजाकर में केवल आग्नेयरुजा-दाह-सन्ताप आदि तथा वायव्य-रुजा-शूल-उद्वेष्टन आदि ही रुजा नहीं होती, अपितु—पार्थिव रुजा-कफजरुजा-कण्डू, शैत्य आदि तथा आकाशीय रुजा—शून्यता, शोफ आदि रुजा भी होती हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। हमारे विचार में उनका जो कहना है वह सभी आचार्यों को कहना चाहिये, क्योंकि मर्म ही नहीं शरीर के किसी अवयव पर आघात होने से उक्त प्रकार की वेदना होती देखी जाती हैं ॥१६॥

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां समवायात् सद्यःप्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि, त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं, यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥

कई आचार्यों की मान्यता है कि मांस-सिरास्नायुअस्थि और सन्धि इन पाँचों के मिलने से और बढ़ने पर सद्यः प्राणहर मर्म होते हैं। कालान्तर प्राणहर मर्म एक रचना के कम होने से या थोड़े परिणाम में मिलने से होते हैं। दो रचनाओं के कम होने पर विशल्य प्राणहर मर्म होते हैं। तीन रचनाओं के कम होने से वैकल्य कारक, और एक ही रचना के होने से रुजाकर मर्म होते हैं। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि अस्थि मर्म पर भी आघात होने से रक्त आता है, (जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ भी मांसशिरा का संयोग है)।

वि० मन्तव्य—जहाँ मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि का विवृद्ध—पूर्ण संयोग है सबके संयोगों का सम्मिलन है वहाँ जो "मर्म" बनता है वह सद्यः प्राणहर (सद्योमारक) होता है और जहाँ मांस आदि में से किसी एक का हीन या अल्प संयोग होता है वह मर्म-कालान्तरमारक होता है। इसी प्रकार अन्य मर्म भी समझिये। परन्तु क्योंकि मांस सिरा आदि पाचों शरीर में सर्वत्र पाये जाते हैं, तथापि मर्म १०७ ही हैं, इसलिये यह "केचित् आहुः" कोई ऐसा कहते हैं वह ठीक नहीं है। इस के लिये देखिये निम्नलिखित श्लोक॥

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतियापयन्ति ॥१८॥

क्योंकि इस शरीर में जो चार प्रकार की सिरायें हैं, वे प्रायः करके मर्मों में स्थित हैं। ये सिरायें स्नायु, अस्थि, मांस और सन्धियों को पोषण देती हुई शरीर का पालन करती हैं॥

ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धा
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥१९॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्-
मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥२०॥

अतः मर्म पर चोट लगने पर कुपित हुआ वायु चारों ओर से इन सिराओं में फैल जाता है। बढ़ती हुई यह वायु शरीर में तीव्र वेदनायें उत्पन्न करती हैं। फिर वेदनासे पीड़ित यह शरीर सुन्न बन जाता है, और इसकी चेतना जाती रहती है। इसलिये शल्य को निकालने की इच्छावाला वैद्य परिश्रम के साथ मर्मों की परीक्षा करके शल्य को निकाले॥१९,२०॥

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥२१॥

वायु के लक्षणों के अनुसार पित्त और कफ के भी लक्षण पैदा होते हैं

वक्तव्य—पित्त के लक्षण दाह, चोष आदि हैं। कफ के लक्षण-तन्द्रा, भारीपन, स्रोतोनिरोध आदि हैं ॥२१॥

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति, विशल्यघ्नं वैकल्यकरं च भवति, वैकल्यकरं कालान्तरेण क्लेशयति रुजां च करोति रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति ॥२२॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्मों के आस-पास पर आघात लगने से कालान्तर में मृत्यु होती है। कालान्तर प्राणहर मर्मों के छोर पर आघात लगने से वैकल्य कारक मर्म की अवस्था होती है। विशल्यघ्न मर्म वैकल्य कारक बन जाता है। वैकल्य कारक मर्म कुछ समय पीछे दुःख देता है और पीड़ा करता है। रुजाकर मर्म में तीव्र वेदना नहीं होती ॥२२॥

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥२३॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्म सात रात के अंदर रोगी को मार देता है। कालान्तर प्राणहर मर्म पन्द्रह दिन या महीने में मनुष्य को मारता है। इनमें भी क्षिप्रमर्म कभी शीघ्र भी मारक बन जाता है। विशल्य प्राणहर और वैकल्य कर मर्म कभी बहुत जोर का आघात लगने पर मारक हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—इस प्रकरण में "सद्यः" शब्द का अर्थ—सात रात्र (सात दिन) और "कालान्तर" शब्द का अर्थ एक पक्ष (१५ दिन) तथा १ मास (३० दिन या २७ दिन) है।२३।

अत ऊर्ध्वं सक्थिमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्र रुजाभिर्मरणं, क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरः तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फः, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा, पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिः, तत्र शोणितक्षयेण मरणं, जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु, तत्र खञ्जता, जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च, ऊरुमध्ये उर्वी, तत्र, शोणितक्षयात् सक्थिशोषः, उर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसंधेरूरुमूले लोहिताक्षं, तत्र लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा, वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं, तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति, एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि, तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि, यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥२४॥

इनके आगे सक्थि (टाँग) के मर्मों का व्याख्यान करें—इनमें पैर के अंगूठे और मध्यमा अंगुलि के बीच में क्षिप्र नाम का मर्म है। इसके वेधन होने पर आक्षेपों के कारण मृत्यु होती है। मध्यमांगुलि की सीधी रेखा में पैर के तलुवे में तलहृदय नामक मर्म है, इसमें वेदना के कारण मृत्यु होती है। क्षिप्र मर्म के ऊपर में दोनों ओर कूर्च नाम का मर्म है। इससे पैर में तिरछापन और कम्पन आ जाता है। गुल्फ सन्धि के नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नाम का मर्म है, इसमें वेदना और सूजन होती है। पैर और जंघा की सन्धि पर गुल्फ मर्म है, इसमें वेदना, पैर का स्तब्ध होना, या लंगड़ापन होता है। पार्ष्णि के ऊपर जंघा के बीच में इन्द्रवस्ति नाम का मर्म है, इसमें रक्तक्षय से मृत्यु होती है। जंघा और ऊरु की सन्धि पर जानु मर्म है, इससे लंगड़ापन होता है। जानु से ऊपर तीन अंगुल में दोनों ओर आणि नामक मर्म है। इसमें शोफ की वृद्धि, टाँग की स्तब्धता होती है। ऊरु के बीच में उर्वी मर्म है, इसमें रक्त के क्षय से टांग सूख जाती है। उर्वी मर्म के ऊपर, वंक्षण सन्धि के नीचे, ऊरु की जड़ में लोहिताक्ष मर्म है। वंक्षण और वृषणों के बीच में विटप मर्म है, इससे नपुंसकता, शुक्र की कमी होती है। इस प्रकार से टाँग में ग्यारह मर्म कह दिये हैं। इसी से दूसरी टाँग और बाहु को समझना। विशेष भेद यह है कि टाँग में जो गुल्फ, जानु और विटप मर्म हैं, वे ही मर्म बाहु में मणिबन्ध, कूर्पर और कक्षधर नाम से हैं। जिस प्रकार वंक्षण और वृषण के बीच में विटप मर्म हैं, उसी प्रकार वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षधर है। इसके वेधन से वे ही (विटप के समान) उपद्रव होते हैं। भेद-मणिबन्ध के वेधन होने पर हाथ में निकम्मापन, कूर्पर के विद्ध होने पर लूलापन, कक्षाधर में पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं के चौवालीस मर्म कह

दिये हैं।

वि० मन्तव्य—पाठक ध्यान दें कि इन मर्मों में कौन-कौन मांसमर्म हैं और कौन-कौन सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म अथवा सन्धिमर्म हैं। कूर्चमर्म—पाँव एवं हाथ की शलाकास्थियों को बाँधनेवाले स्नायु का जाल है। तलहृदय मांसमय मर्म है, लोहिताक्ष—सिरामर्म है और जानु एवं कूर्पर गुल्फ एवं मणिबन्ध सन्धिमर्म हैं। इस प्रकार सर्वत्र विचार किया जाय तो मर्मों का रहस्य समझ में आ सकता है, कूर्च-कूची-झाड़ू के समानाकार अथवा झाड़ू की शलाका जैसे रस्सी से बँधी रहती है वैसे ही ये अस्थियाँ स्नायु-से बँधी हैं। कूर्चशिर—कूर्च का मूल भाग या जहाँ से कूर्च जुड़ा रहता है—कूर्च का शिर। इस मर्म में अनेक अस्थियां रहती हैं। मणिबन्ध- मणि जैसी छोटी छोटी अस्थियों का बन्ध बन्धन स्नायु। इन्द्रवस्ति—मांसमर्म है। इसका वर्णन देखिये-चि० स्था० अ० १८ श्लो० २५-२६ में। लोहिताक्ष—यह लाल वर्ण के अक्ष-कौड़ी का सा होता है, पांव-टांग में ठोकर आदि आघात से भी सूज जाता है और इसी के शोथको "बाघी" कहते हैं और यही प्लेग की ग्रन्थि भी है, जिसे विदारिका या वातालिका कहते हैं। यद्यपि अन्यत्र की ग्रन्थियों के शोथ भी (सोपद्रव) प्लेग कहे जाते हैं, परन्तु ८०-६० प्रतिशत लोहिताक्ष के शोथ देखे जाते हैं और यह भीषण भी अतएव होता है क्योंकि यह मर्मस्थल है। विटप-यह वृषण या वृषणवाहक स्नायु हैं, क्योंकि विटप स्नायुमर्म है और इस पर आघात होने से—सर्वथा नाश होने से षाण्ढ्य-नपुंसकता और स्वल्प आघात होने से अल्पशुक्रता होती है और उक्त मर्मों का परिमाण-लम्बाई चौड़ाई का विचार इसी अध्याय के श्लो० २८-२६ से कीजिये ॥२४॥

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः-तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणं; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिः, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति; पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिः, तत्रापि सद्योमरणं, स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं, तत्रापि सद्य एव मरणं; स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया (कासश्वासाभ्यां) म्रियते, स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणं, उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥२५॥

इसके आगे उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इनमें वायु और मल (पुरीष) को निकालनेवाला, स्थूलांत्र से सम्बद्ध गुदा नाम का मर्म है। इससे तुरन्त मृत्यु होती है। थोड़े मांस और थोड़े रक्तवाला, कटि के अन्दर स्थित, मूत्र का स्थान 'वस्ति' नामक मर्म है। इसमें भी अश्मरीजन्य व्रण को छोड़कर वेधन होने से तुरन्त मृत्यु होती है। अश्मरी व्रण में भी दोनों तरफ से (आर-पार) वेधन होने पर रोगी नहीं बचता। एक तरफ वेधन होने पर मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। इस व्रण की सावधानी से चिकित्सा करने पर यह भर जाता है। पक्वाशय और आमाशय के बीच में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि है। इसके वेधन पर भी तुरन्त मृत्यु होती है। स्तनों के मध्य में, छाती के भीतर, आमाशय द्वार के पास में हृदय नामक मर्म है, यह हृदय सत्त्व, रज, तम का स्थान हैं, इसके आघात से भी तुरन्त मृत्यु होती है। स्तनों के नीचे दो अंगुल, दोनों ओर स्तनमूल नामक मर्म है। इसके कफ से भर जाने पर कास, श्वास से रोगी मर जाता है। स्तन चूचुकों के दो अंगुल ऊपर दोनों ओर स्तन रोहित मर्म हैं। इनके रक्त से भर जाने पर कास, श्वास के कारण रोगी मर जाता है। अंस कूटों के नीचे, पार्श्वों के ऊपर के भाग में अपलाप नामक मर्म हैं। इनमें रक्त के पूय में बदल जाने से मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर, वात को ले जानेवाली जो दो नाड़ियाँ हैं, उनका नाम अपस्तम्भ है, इनमें वायु के भर जाने पर कास श्वास के कारण रोगी मर जाता है। इस प्रकार छाती और ऊपर के बारह मर्म कह दिये हैं।

वक्तव्य—"स्तन मूल को Root of the lungs; स्तन रोहित = Base of lungs; अपलाप = Apex of lungs; अपस्तम्भ = Bronchi कहते हैं।

वि० मन्तव्य—गुद-वात-अपान वायु तथा वर्चस्-पुरीष का निरसन-निर्गमन होता है, जिसके द्वारा स्थूलान्त्र-मलाशय के साथ प्रतिबद्ध-ऊपर के छोर से बँधा हुआ। इसका वर्णन—नि० स्था० अध्याय २ में देखिये। वस्ति—मूत्राशय-इसका वर्णन नि० अ० ३ के श्लो० १८-२४ देखिये। नाभि-क्षुद्रान्त्र जहाँ रसवाहिनी सिराओं का प्रभव-उत्पत्ति या मूल या प्रारम्भ है। यह नाभि—धुन्नी या तुन्न नामक उदर के बाहर दृश्यमान अवयव नहीं है। अपितु पक्वाशय-मलाशय एवं आमाशय के मध्यवर्ती अन्त्र का नाम है, जहाँ अन्त्र में से रस का पृथक्करण एवं ग्रहण होता है। विशेष देखिये शा० अ० ४-२६-२७

तथा शा० अ० ५-६। हृदय-हृत् (हार्ट)। स्तन-बाह्यवर्त्तिस्तन-मंडल (स्तन चूचुक नहीं अपितु स्तन का पूरा घेरा) से आच्छादित स्थान के भीतर अवस्थित फुप्फुस का वाचक भी हो सकता है, यथा—स्तन शब्द ष्टन्-शब्दे धातु (भ्वादि गणीय) से निष्पन्न होता है और शब्द-शप आक्रोशे धातु (भ्वादि गणीय) से निष्पन्न होता है—शब्द तथा आक्रोश (चिल्लाना) फुप्फुसों के ही बल पर हो सकता है, बाह्य स्तन से नहीं और स्तन का पर्याय "कुच" है और कुच शब्द-कुच-संयोगे धातु (तुदादि गणीय) से निष्पन्न होता है और कोच-संकोच (सिकुड़ना)—फुप्फुस में ही होता है। बाह्य कुचों में नहीं, भले ही ये दोनों शब्द बाह्य स्तनों के लिये भी साहित्य में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु हमारा दृढ विश्वास है कि इस प्रकरण में स्तन शब्द फुप्फुस के लिये आया है। विश्वास का कारण—ये सिरा मर्म है और फुप्फुस का प्रत्येक कोष्ठ-प्रकोष्ठ सिरा से व्याप्त है। दूसरे इन पर आघात होने पर उरःक्षत, फलतः कफ पूर्णकोष्ठता एवं कास श्वास होने का उल्लेख है और रक्त के पूय भाव को प्राप्त होने का भी उल्लेख है तथा—इन्हीं में जानेवाली दो वातवह नाड़ियों का भी उल्लेख है जो श्वासमार्ग के दो मार्ग होकर फुप्फुसों में जाती हैं। और बाह्यस्तनों पर आघात होने से यहाँ तक कि उनमें व्रण, व्रणशोथ आदि हो जाने पर भी कास श्वास आदि कुछ भी नहीं होते, स्तन काट दिये जाते हैं, सड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं तथापि कासश्वास नहीं होते। और—वक्षस् उरस् के मर्मों में हृदय को सद्योमारक मानकर अन्य स्तनमूल आदि मर्मों को कालान्तरमारक माना है। यही कारण है कि इन पर आघात होने पर यदि कास श्वास आदि हो जाते हैं तो कालान्तर में मृत्यु होती है। और उक्त मर्म दो हैं—दोनों फुप्फुसों में १-१।

स्तनमूल नामक मर्म—फुप्फुसों का अधस्तन दो अंगुल भाग है। स्तन रोहित नामक मर्म-फुप्फुसों का बाह्यस्तन के चूचुक (स्तन का कृष्णमण्डल) से उपलक्षित मध्य भाग से २ अङ्गुल ऊपरी भाग है। अपलाप नामक मर्म—अंसकूट के नीचे (भीतर) पार्श्वों (फुप्फुसों) के उपरि भाग में विद्यमान है। यहाँ स्पष्ट पार्श्व शब्द का प्रयोग किया है, अर्थ है—पर्शुकासु भवं पार्श्वम्-पर्शुकाओं के भीतर फुफ्फुस ही विद्यमान हैं। अपस्तम्भ नामक मर्म—उरस् में दोनों ओर विद्यमान वातवह—श्वास वायु का वहन करनेवाली दो नालियाँ जो श्वासनलिका से विभक्त होकर दोनों फुप्फुसों में जाती हैं। इस प्रकार १ गुद, २ बस्ति तथा ३ नाभि, यह तीन मर्म उदर के और १—हृदय तथा फुप्फुसों के ८ मर्म (दोनों में ४-४) यह ९ मर्म उरस् के कह दिये हैं। उरस् शब्द ऋ गतौ धातु से निष्पन्न होता है, जिसमें गति हो वह उरस् कहलाता है, अतः एव वह हृदय एवं फुप्फुसों के लिये प्रयुक्त भी होता है, यद्यपि बाह्य स्तनों को भी "उरोज" तथा वक्षोज कहते हैं, परन्तु वह साहित्य की बात है—आयुर्वेद की नहीं ॥२५॥

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते, पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो कुकुन्दरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च, श्रोणिकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणं अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी, तत्र लोहितापूर्णकोष्ठतया म्रियते, स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहती, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते, पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ बाहुमूर्धग्रीवामध्येंऽसपीठस्कन्धबन्धनावंसौ तत्र स्तब्धबाहुता, एवमेतानि चतुर्दशपृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि॥

इसके आगे पृष्ठ के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इसमें पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटिकतरुण नामक अस्थि मर्म है। इनमें रक्त के क्षय से पाण्डु वर्ण, विवर्ण और हीन रूपवाला होकर मर जाता है।' पार्श्वों में जघन के बाह्य भागों में पृष्ठ-वंश के दोनों ओर कुकुन्दर नामक मर्म हैं, इन में शरीर के निचले भाग में स्पर्श की अप्रतीति, और चेष्टा नाश होता है। श्रोणीकाण्ड के ऊपर, आशय को ढाँपनेवाले, पार्श्वों के बीच में सम्बद्ध नितम्ब हैं, इन में शरीर के निचले भाग में शोष, और निर्बलता से मृत्यु होती है। पार्श्वों के नीचे लगे हुए, जघन और पार्श्वों के बीच में जघन के ऊपर और तिरछे पार्श्व सन्धि नामक मर्म हैं, इनमें रक्त के भर जाने से मृत्यु होती है। स्तनमूलों की सीध में पृष्ठवंश के दोनों ओर बृहती नामक मर्म है, इस में रक्त के अतिस्रावजनित उपद्रवों से रोगी मर जाता है। पीठ के ऊपर पृष्ठ वंश के दोनों ओर त्रिक से सम्बद्ध अंसफलक मर्म हैं, इन से बाहुओं में सुन्नता और शोष होता है। कन्धा और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और स्कन्ध को बांधनेवाला 'अंस' मर्म है। इस पर चोट आने से बाहु जड़ (अक्रियाशील) हो जाती है। इस प्रकार से पीठ के चौदह मर्म कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य-पृष्ठ के ऊपर या बाहर से अङ्गुलि निर्देश योग्य तथा पृष्ठ के भीतर या पृष्ठ की भित्ति के समीप रहनेवाले मर्म पृष्ठमर्म कहे जाते हैं। कटिक तरुण—यह दोनों अस्थि मर्म हैं, और पृष्ठ वंश के अधोभागिक श्रोणिकाण्ड के दोनों ओर की दो तरुणास्थियाँ हैं। कुकुन्दर—यह दोनों सन्धिमर्म हैं, ऊरु

के ऊपरी भाग का संयोग स्थल जिसका नाम वंक्षण सन्धि है, यह उलूखल सन्धि है। यह जघनास्थि के बहिः पार्श्व में स्थित है। इस पर आघात होने से अधःकाय की चेष्टा (चलना आदि) का उपघात हो जाता है और साथ २ तत्संबद्ध सिरास्नायु पर भी आघात होने से शून्यता हो जाती है। नितम्ब—यह भी अस्थिमय मर्म हैं, यह दो चौड़ी कपालास्थियाँ हैं—"गुदभगनितम्बेषु चत्वारि" (अ० ५ सू० १६) में से दोनों ओर की दो अस्थियाँ तथा—जानु नितम्ब""कपालानि (अ० ५ सू० २०) में वर्णित हैं। ये श्रोणिकाण्ड से कुछ ऊंची, बस्ति आदि आशयों का आच्छादन करनेवाली—दोनों पार्सों से बचानेवाली, दोनों पार्सों में अन्दर से बंधी है, यह "नितम्बास्थि" कही जाती है। पार्श्वसन्धि—यह सिरामर्म हैं, यह दोनों वृक्क हैं, यह—पार्श्व-फुप्फुस से अधः भाग में प्रतिबद्ध, जघनास्थि के पार्श्वों के मध्य—परन्तु तिरछे किन्तु उससे ऊपर-ऊँचे में स्थित हैं। श्री त्रिलोकी नाथ वर्मा के शब्दों में—ये दोनों इन्द्रियाँ (नहींर-यन्त्र) उदर में उसकी पिछली दीवार से लगी हुई, रीढ़ के दाहिनी और बाँई ओर रहती हैं, उनके आगे अन्त्र की गेण्डलियाँ पड़ी रहती हैं, हर एक गुर्दे (वृक्क) के पीछे १२ वीं पसली रहती है। ह० श० की र० अ० १२। इन पर आघात होने पर कोष्ठ में (वस्ति में) रक्त भर जाने से मृत्यु हो जाती है। बृहती नामक दो मर्म—यह दोनों भी सिरा मर्म हैं, परिमाण में आधा अंगुल है तथा कालान्तर या एक हैं। यह फुप्फुस का, पीठ की ओर का भाग है, दोनों के दो भाग हैं। शेष देखिये स्तनमूल मर्म का वक्तव्य। अंसफलक—यह दोनों अस्थिमर्म हैं, पीठ के उपरिभाग में, पृष्ठ वंश के दोनों ओर, त्रिक (दोनों स्कन्ध तथा ग्रीवा का सन्धान स्थल) से सम्बद्ध तथा बाहर से स्पर्शोपलभ्य हैं जो खब्बे या फर या पर कहे जाते हैं। ये कपालाकार हैं। अंस—कन्धे कहे जाते हैं, ये स्नायु मर्म हैं, बाहु के मूर्ध=ऊपर का शिर (सिरा) तथा ग्रीवा के मध्य भाग में वर्त्तमान, अंसपीठ (भार उठाने योग्य पीढ़ा) स्कन्ध (कन्धा) नामक प्रदेश को बांधनेवाले स्नायु अस नामक मर्म कहे जाते हैं ॥२६॥

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये। व्यस्यासेन तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणं, शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके, तत्र चलमूर्धता, कर्णपृष्ठतोऽधः संश्रिते विधुरे, तत्र बाधिर्यं, घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे, तत्र गन्धाज्ञानं, भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णो-र्बाह्यतोऽपाङ्गौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा भ्रुवोरुपरिनिम्नयोरावर्तौ नाम तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा भ्रुवोरन्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ, तत्र सद्यो मरणं, शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ, तत्र सशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः, भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी, तत्रोत्क्षेपवत्, पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं, घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्योमरणं, मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥२७॥

इसके आगे जत्रु से ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इस में कण्ठ नाडी के दोनों ओर चार धमनियां हैं, एक नीला और एक मन्या। दूसरे पार्श्व में एक नीला और एक मन्या, इनका वेधन होने पर गूँगापन, स्वर विकृति, रस का ग्रहण न करना होता है। ग्रीवा के दोनों ओर चार सिरा मातृकायें हैं, इनमें तुरन्त मृत्यु होती है। शिर और ग्रीवा के सन्धि पर कृकाटिका मर्म हैं, इन में शिर हिलता रहता है कर्ण पीठ के नीचे स्थिर विधुर मर्म हैं, इससे बहरापन होता है। नासिका मार्ग के दोनों पार्श्वों में स्रोत मार्ग से सम्बद्ध, अन्दर की ओर 'फणा' मर्म है, इससे गन्ध ज्ञान का नाश होता है। भ्रुवों के अन्तिम (बाह्य) छोर पर, नीचे की ओर, आँखों के बाहर की ओर अपांग है, इस में अन्धापन, दृष्टि की विकृति होती है। भ्रुवों के ऊपर नीचे की ओर आवर्त्त नामक मर्म है, इनमें भी अन्धापन और दृष्टि का विकार होता है। भ्रुवों के अन्दर में ऊपर की ओर कान और माथे के बीच में शंख मर्म हैं, इनमें भी तुरन्त मृत्यु होती है। शंखों के ऊपर बालों के सिरे पर उत्क्षेप मर्म है, इन में शल्य रहने पर जीता है, स्वयं पककर शल्य के गिरने से भी जी सकता है, परन्तु शल्य निकालने से नहीं जीता। भ्रुवों के बीच में स्थपनी मर्म है, इसमें उत्क्षेप की भांति लक्षण होते हैं। शिर में पांच सन्धियां अलग अलग पांच सीमन्त मर्म हैं; इन में उन्माद, चिन्ता, भय, चित्तनाश के कारण मृत्यु होती है। नासिका, कान नाक-जिह्वा को पोषण देनेवाली सिराओं के मध्य में सिराओं के मिलने का नाम शृङ्गाटक है, ये चार मर्म हैं, इन में भी तुरन्त मृत्यु होती है। मस्तिष्क के अन्दर ऊपर की ओर, सिराओं के सन्धि स्थान, बालों के आवर्त्त (भँवर चक्कर) के समान अधिपति मर्म है। इसमें भी तुरन्त मृत्यु होती है। इस प्रकार से ऊर्ध्व जत्रु के सैंतीस मर्मों का व्याख्यान कर दिया।

वि० मन्तव्य—दो नीला तथा दो मन्या नामक मर्म—दोनों ओर एक एक। ये सिरा मर्म हैं, ग्रीवा में कण्ठ नाड़ी के दोनों ओर—इनका स्पर्श किया जा सकता है। दोनों के

धमान अंगुली द्वारा जाने जाते हैं। इन पर अंगुली का दबाव डालने से बोला नहीं जा सकता, मूकता हो जाती है। इनके सम्बन्ध में चरक र० स्था० अ० ३४-६ में चर्चा की गई है, यथा-तस्य चेत् मन्ये परिमृश्यमाने (स्पृश्यमाने) न स्पन्दयेतां (फड़कन प्रतीत न हो) परासुः (मृतः) इति विद्यात् (जाने)। मातृका नामक मर्म—ये सिरा मर्म हैं—ये चार हैं, दोनों ओर दो दो। यह शिर की ओर से लौटनेवाली सिरा हैं। मातृका—माता के समान पालिका। कृकाटिका—यह सन्धि मर्म है—शिर एवं ग्रीवा की अस्थियों का सन्धान स्थल है। पृष्ठवंश के शिखर पर जहाँ शिर धरा हुआ है वह स्थल है, इसी भाग को 'शिरोधरा' कहा जाता है। यहाँ आनेवाली दो सिरा हैं (दो सिरासन्निपात हैं) जो अगले अध्याय आठ में सू० २२ में 'द्वे कृकाटिकयोः' कहकर अवेध्य कही हैं। विधुर नामक मर्म—दोनों कानों के नीचे स्थित हैं । ये स्नायु मय मर्म हैं, यह शुषिर स्नायु है, जो धमनी कहा जाता है और वाग्भट ने इसे 'धमनी मर्म' माना भी है और सुश्रुत ने भी अ० ७ सू० २२ में इनको अवेध्य सिरा माना है। ये कानों का तर्पण करती हैं। इन्हीं दो को अ० ९ सू० ५ में शब्द का ग्रहण करनेवाली दो धमनियाँ माना है। फणा नामक मर्म - ये भी सिरा मर्म है, नासिका के दोनों स्रोतों के भीतरी भाग में सम्बद्ध है, सर्प के फन के समान प्रसार संकोच युक्त दृश्यमान नासापुटों के अन्दर की ओर लगे हैं। इनको सु० शा० अ० ७ सू० २२ में औपनासिक्यः चतस्रः कहकर अवेध्य माना है और अ० ९-सू० ५ में गन्ध का ग्रहण करनेवाली धमनी कहा है। इन पर आघात होने से गन्ध का ज्ञान नहीं होता। अपाङ्ग—ये सिरा मर्म हैं, ये अपाङ्ग की वे सिरा (सिरासन्निपात) हैं जो अपाङ्ग की एक एक सिरा अवेध्य मानी है और रूप का ग्रहण करनेवाली दो 'धमनियाँ' मानी हैं (पताफणावाला)। ये नेत्र का तर्पण करने तथा रूप का ग्रहण करनेवाली हैं । आवर्त्त—ये सन्धि मर्म हैं, जहाँ भ्रू के बाल उगते हैं। यहाँ रहनेवाली वह सिरा जिस को अवेध्य माना है । यह भी दृष्टि का तर्पण करती है । शंख नामक मर्म—ये अस्थिमय मर्म हैं, पुटपुटी या पुड़पुड़ी कहे जाते हैं । यहाँ आनेवाली शंख गता सिरा अवेध्या मानी गई है, यह आघात होने पर सद्योमारक मर्म है। ये भ्रू की पुच्छ के अन्त में स्थित हैं। उत्क्षेप—ये स्नायु मर्म हैं। इस स्थान की सिरा भी अवेध्य हैं। स्थपनी—यह सिरामर्म है। यहाँ ललाट की दो सिराओं का सन्निपात है। दोनों के संयोग से वह एक हो जाती है, अतः स्थपनी की एक सिरा अवेध्य मानी है। सीमन्त नामक मर्म—ये सन्धि मर्म हैं, शिरः कपालों की ५ सन्धियाँ है, इनमें से जो सिरा गुजरी हैं वे अवेध्य मानी हैं और 'सप्त सेविन्यः शिरसि विभक्ताः पञ्च'.....अ० ५ का सू० १५ देखिये। चरक सिद्धिस्थान अ० ९ में—शिर पर अभिघात होने से—मन्यास्तम्भ, अर्दित, चक्षुर्विभ्रम आदि होने का उल्लेख है। शृंगाटक नामक मर्म—शिर के भीतर मस्तिष्क या शिरो मज्जा नामक (भेजा नाम से प्रसिद्ध) अवयव में-वे चार केन्द्र हैं, जहाँ घ्राण, श्रोत्र, अक्षि तथा रसना नामक इन्द्रियों का वहन करनेवाली सिराओं के सन्निपात हैं, क्योंकि ये मर्म—सिरा मर्म हैं और अभिघात होने पर सद्योमारक हैं। अधिपति मर्म—यह शिर के भी सबसे ऊपर शिखर पर का मर्म है, इसका सूचक शिर पर—बाहर रोमावर्त्त (भौंरी, बालों का आवर्त्त) होता है। इसमें आनेवाली एक सिरा अवेध्य मानी गई है। इसके उपर की अस्थि में छिद्र रहता है, जो ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है, परन्तु यह १ वर्ष व्यतीत होने पर बाल्यावस्था में ही पूर्ण हो जाता है, सद्योजात शिशु के शिर पर हाथ रखने से इसमें सिरा (धमनी) का स्पदन (धमन) प्रतीत होता है, अर्थ है—अधिकृत्य पाति रक्षति इति अधिपतिः, इस अवयव को अधिकृत करके आत्मा शरीर का रक्षण करता है, यही पुराणों का ब्रह्मलोक, वैष्णव पुराणों का विष्णुलोक या वैकुण्ठ तथा शैव पुराणग्रन्थोक्त शिवलोक या कैलाश है। और गीता का ऊर्ध्वमूल-है, अधःशाख शाख शरीर का ऊपर की ओर वर्त्तमान भी मूल-जड़-जीवन हेतु है। योगशास्त्र में शिर के पिछले कपाल के अन्दर में स्थित केन्द्र को शिवरन्ध्र माना है, परन्तु यह शैवों का विचार है, वे उसी को जीवन का केन्द्र मानते हैं। इन २३ मर्मों से युक्त समस्त शिर को ही मर्म समझना चाहिये, शिर का पर्याय 'उत्तमाङ्ग' है, उसके लिए भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः (श्रिताः) सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥' और शिरसि इन्द्रियाणि, इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि....संश्रितानि (चरक सि० अ० ९ सू० ४)। और शिरसि अभिहते-मन्यास्तम्भ, अर्दित चक्षुर्विभ्रम, मोह, उद्वेष्टन, चेष्टानाश, काम, श्वास, हनुग्रह, मूकत्व, गद्गदत्व, अक्षिनिमीलन, गण्डस्पन्द, जृम्भण, लालास्राव, स्वरहानि, वदनजिह्मत्वादीनि (भवन्ति)। च० सि० अ० ९ सू० ६। चरक में वही लिखा है कि १०७ मर्म होते हैं। उनका पीड़न—अभिहनन होने से प्राणी को बहुत अधिक पीड़ा का (अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक) अनुभव होता है, क्योंकि उन (मर्मों) में प्राणों का विशेषरूप से अनुबन्ध-सम्बन्ध होता है। शाखाश्रित मर्मों की अपेक्षा स्कन्ध अर्थात् अन्तराधि के मर्म विशेष महत्त्व रखते हैं। उनमें भी हृदय, वस्ति तथा शिर (ग्रीवा समेत शिर-२३ मर्मों का अधि-

स्थान शिर) अत्यन्त महत्त्व रखते हैं, क्योंकि समस्त शरीर (उसकी स्थिति) इन्हीं तीनों के अधीन है। शिर का अर्थ श्रीयते इति शिरः, अर्थात् जीवन का आश्रय। मस्तक भी शिर का पर्याय है। यह शब्द 'मसी परिणामे' धातु (दिवादि गणीय) से निष्पन्न होता है। जहाँ प्रत्येक विषय का परिणाम–परिपाक–विनिश्चय होता है ॥२७॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम्।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥२८॥
हृद्बस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम् ॥२९॥

इस विषय में श्लोक भी है—उर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षधर, स्तनमूल ये एक-एक अंगुल परिमित हैं। मणिबन्ध, गुल्फ ये दो-दो अंगुल है, दोनों कूर्पर तीन अंगुल, हृदय, वस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि, शिर के चारों शृङ्गाटक, पांचों सीमन्त, गले के बाहर (दो नीला, दो मन्या, आठ मातृकायें) ये हथेली के गड्ढे के बराबर हैं। शेष मर्म आधे अंगुल लम्बे-चौड़े समझने चाहिये।

वि० मन्तव्य—इन पाठों में मर्म स्थलों का परिमाण बतलाया गया है, जिससे शस्त्र प्रयोग में वे स्थल बचाए जा सकें। स्वपाणितलकुञ्चितसम्मितानि—अर्थात् इनमें कुछ पाणितल के परिमित हैं और कुञ्चितपाणि (मुट्ठी) परिमित हैं, यथा हृदय ॥२८,२९॥

एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम्।
पार्श्वाभिघातितमर्पाह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥३०॥

इस परिमाण को जानकर मर्म बचाते हुए शस्त्र कर्म करना चाहिये। क्योंकि मर्मों के पास में भी अभिघात होने पर मनुष्य मर जाता है। इसलिये मर्मस्थान को बचाकर शस्त्र कर्म करना चाहिये ॥३०॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥३१॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधनिपातनिकृन्तमूला ॥३२॥

हाथ-पैर के काटने पर मनुष्यों की शिराओं के संकुचित हो जाने से रक्त थोड़ा ही निकलने पाता है, यद्यपि हाथ-पैर के काटने पर मनुष्य भयंकर संकट को प्राप्त करता है, तथापि शाखा के कटने पर जैसे वृक्ष नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु भी नहीं होती। क्षिप्र और तलहृदय मर्म के वेधन पर रक्त बहुत जाता है, और वायु भी अधिक पीड़ा करती है। इनके वेधन होने पर मनुष्य शस्त्र के आघात से कटे हुये मूलवाले वृक्ष की भाँति मृत्यु को प्राप्त करता है॥

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे
मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ॥३३॥
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचि-
त्ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि।

इसलिये तलहृदय और क्षिप्र मर्म के वेधन होने पर मनुष्य के हाथ, पैर तुरन्त मणिबन्ध और गुल्फ प्रदेश के ऊपर से काट डालने चाहिये। मर्मों पर चोट लगने से तुरन्त मृत्यु होती है, इसलिये मर्म शल्य शास्त्र का आधार भाग है। यदि किसी योग्य वैद्य की चिकित्सा से कोई बच भी जाता है तो भी वह निश्चित रूप में विकलांग बन जाता है!

वि० मन्तव्य—मणिबन्धनगुल्फदेशे—मणिबन्धन एवं गुल्फ से कुछ ऊपर काटना चाहिये। शल्य विषयार्ध—शल्य शास्त्र का अर्ध–आधा अङ्ग मर्मज्ञान है। अर्थात् मर्मों का ज्ञान–शल्यचिकित्सा के लिये परमावश्यक है ॥ ३३ ॥

सभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रनिहतैश्च शरीरदेशैः ॥३४॥
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-
र्येषां न मर्मसु कृता विविधाः प्रहाराः।

कोष्ठ, शिर, कपाल, ये फूटकर भले ही जर्जरित हो जायें, टांग, बाहु पैर और हाथ ये भी सम्पूर्ण कट जायें, शस्त्रों के आघात से सारा शरीर छिन्न भिन्न हो जाये, परन्तु यदि मर्म बचे रहते हैं, तो मनुष्य जीवित रहता है ॥ ३४ ॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥३५॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः।

मर्मों में प्रायः सोम (जल), वायु, अग्नि, रज, सत्व, तम, और भूतात्मा (आत्मा) ये रहते हैं। इसलिये मर्मों पर आघात लगने पर प्राणी जीवित नहीं रहते।

वि० मन्तव्य—इसको समझने के लिये देखिये—शा० अ० ४ का सू० ३ ॥३५॥

इन्द्रियार्थष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः ॥३६॥
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते।
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवं धातुक्षयो नृणाम् ॥३७॥
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति।
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ॥३८॥
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात्।
विशल्यघ्ने तु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥३९॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥४०॥

सद्यः प्राणहर मर्मों पर आघात लगने से रूप रस आदि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता। मनस् एवं बुद्धि में वैपरीत्य हो जाता है और नाना प्रकार की तीव्र वेदनायें होती हैं। कालान्तरघ्न मर्मों पर आघात होने पर धातुक्षय निश्चित रूप में होता है। इसलिये धातुओं के क्षय से और वेदनाओं के कारण रोगी की मृत्यु होती है। वैकल्य कारक मर्मों पर आघात होने पर केवल वैद्य की बुद्धिमानी से शरीर क्रिया युक्त रहने पर भी विकलता को प्राप्त होता है। विशल्यघ्न मर्मों का विघात होने पर जब तक शल्य रहता है, तब तक जीता है, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार मृत्यु समझनी चाहिये। रुजाकर मर्मों पर आघात पहुँचने पर नाना प्रकार की पीड़ायें होती हैं। और यदि किसी अनाड़ी वैद्य के चंगुल में फस गया तो रोगी विकलांग हो जाता है ॥३६–४०॥

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥४१॥

मर्मों के समीप मर्म पर छेदन, भेदन, चोट लगने, जलने, फटने, से भी मर्मों के ऊपर लगे सीधे आघात के समान लक्षण होते हैं।

वि० मन्तव्य—मर्मस्थल पर छेदन भेदन आदि से भी उपघात के ही समान लक्षण होते हैं अर्थात् उसके ऊपर चाहे चिकित्सा के दृष्टिकोण से किये छेदन आदि कर्म हो जायें अथवा अन्य प्रकार से दण्ड एवं तलवार बर्च्छी आदि से आघात हो जायें, परन्तु लक्षण समान ही होते हैं। अतएव श्लो० ३३ में मर्मज्ञान को शल्यतन्त्र-शल्यचिकित्सा का आधा भाग होना है और समझने के लिये देखिये श्लो० ३०, ३१, ३२, ३३ तथा ३४ और ४२ तथा ४३ ॥ ४१ ॥

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वापि निरत्ययो वा।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥४२॥

मर्मों पर चोट पहुँचने से थोड़ा उपद्रव या बिल्कुल हानि न हो, यह बात असम्भव है। मर्मों पर आघात पहुँचने पर प्रायः विकलता अथवा मृत्यु अवश्य होती है ॥४२॥

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥४३॥

शरीर के जो भी विकार मर्म स्थानों में होते हैं, वे प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी प्रायः कष्टसाध्य रहते हैं ॥४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातः सिरावर्णविभक्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे सिरा वर्ण विभक्ति शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में सिराओं का तथा उनके वर्णों का वर्णन है ॥१,२॥

सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः, तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥३॥

सात सौ शिरायें हैं। जिस प्रकार जल को ले जानेवाली नाली द्वारा उपवन अथवा कुल्या (कुलसरे) के द्वारा जिस प्रकार खेत का उपस्नेहन और पोषण होता है, उसी प्रकार इन सिराओं के सिकुड़ने फैलने आदि से इस शरीर का स्नेहन और पोषण होता है। ये सिरायें शरीर में वृक्ष के पत्ते की सेवनियों के समान फैली हुई हैं। इन सिराओं का मूल नाभि है, वहाँ से ये सिरायें ऊपर, नीचे और तिरछी जाती हैं।

वक्तव्य—तीन उपमाओं से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सिराओं को बताया है। जिस प्रकार नाली में चलता हुआ पानी आस-पास की भूमि को भी गीला करके पोषण देता है, उसी प्रकार सिराओं से पास के तन्तुओं का भी पोषण होता है, इसी का नाम 'उपस्नेहन' है ॥३॥

भवतश्चात्र श्लोकौ—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥४॥

इसमें दो श्लोक हैं—मनुष्यों के शरीर में जितनी भी सिरायें हैं, वे सब नाभि से सम्बद्ध हैं। वहाँ से (नाभि से) ये चारों ओर फैलती हैं ॥४॥

नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥५॥

प्राणियों के प्राण नाभि में आश्रित हैं, और प्राणों से नाभि आश्रित है। नाभि सिराओं से घिरी है, जिस प्रकार चक्र (पहिये की धूरी)-आरों से घिरी रहती है।

वक्तव्य—सम्भवतः यह कल्पना गर्भावस्था में गर्भ की स्थिति के आधार पर की गई है। गर्भावस्था में गर्भ का जीवन इसी नाभि के आधार से रहता है, यहीं से उसे पोषण मिलता है।

वि० मन्तव्य–गर्भ का जीवन उस बाह्य नाभि (धुन्नी-तुन्न) के आधार में रहता ही है, परन्तु जन्म के पश्चात् उसके जीवन का आधार नाभि नामक मर्म है वहीं से इसके साथ साथ प्राण का सञ्चार भी होता है। इसको समझने के लिये श्री शार्ङ्गधराचार्य का सुभाषित स्मरणीय एवं मननीय हैं, यथा—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥
पीत्वा चाऽम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।
प्रीणयन् देहमखिलं दीपयन् जठरानलम् ॥

अर्थात्—नाभि में स्थित प्राणवायु सिराओं द्वारा हृदय कमल के अन्तर (भीतरी भाग) को स्पर्श करके (भीतर से होकर) कण्ठ (श्वास मार्ग) से बाहर निकल जाती है, केवल विष्णुपद (आकाश) के अमृत (अमृत तत्त्व मय आप्—व्याप्त जल) को पीने के लिये और आकाश के पीयूष (अमृत) को पीकर तत्काल पुनः भीतर चली जाती है। जाते ही समस्त शरीर का प्रीणन तर्पण करती है और जठराग्नि का दीपन करती है। यह क्रिया जन्म के पश्चात् जीवन भर चलती रहती है। सिराएँ नाभि से प्राणमय रस को लेकर हृदय में आती हैं और हृदय से फुप्फुसों में ले जाती हैं और और रस तो फुप्फुसों में ही रह जाता है, परन्तु प्राण वायु उदान के साथ मिलकर कण्ठ से बाहर चला जाता है, परन्तु तत्काल लौट आता है। हृदय भी सिरामय मर्म है (दे० शा० अ० ६ सू० ७)। सिराओं ने ही हृदय का रूप बना लिया है या सिराओं का ही आगे चलकर "हृदय" बन गया है, हृदय से यद्यपि रक्त चालू होता है, परन्तु वह रसमय होता है और रस ही लाल हो जाने पर रक्त कहलाता है। यह रस या रसमय रक्त प्राणमय होता है, फलतः समस्त शरीर को अनुप्राणित करता है। हृदय से शरीर की ओर जानेवाली भी सिरा ही हैं, उनमें ध्मान होता है, अतः धमनी कही जाती हैं, जहाँ आगे चलकर अत्यन्त सूक्ष्म (द्रुमपत्र सेवनीवत्) रूप में परिणत हो जाती है वहाँ "स्रोतस्" कही जाती हैं और वहाँ से लौटकर पुनः हृदय की ओर आनेवाली सिरा ही सिरा कही जाती हैं, चरक के शब्द में ध्मानात् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः च० सू० अ० ३। यह स्रोतस् शब्द सुश्रुत के योगवाही स्रोतों तथा मुख नासा आदि बहिर्गामी स्रोतों (छिद्रों) से भिन्न हैं ॥५॥

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः, एवमेतानि सप्त सिराशतानि ॥६॥

इनमें मूल सिरायें चालीस हैं। इनमें दस सिरायें वातवहा, दस पित्तवहा, दस कफवहा और दस रक्तवहा हैं। वायु को ले जानेवाली और वायु के स्थानों में पहुंची सिरायें एक सौ पचहत्तर (१७५) हैं। इतनी ही पित्त स्थान में रहनेवाली, पित्त को ले जानेवाली, इतनी ही कफ स्थान गत और कफ को ले जानेवाली, इतनी ही रक्त को ले जानेवाली—रक्त के स्थान यकृत्, प्लीहा में रहनेवाली सिरायें हैं। इस प्रकार से सात सौ सिरायें हैं।

वि० मन्तव्य—मूल अर्थात् मुख्य या वर्णन करने योग्य सिरा ४० हैं। वायु के स्थान हैं–नाभि (प्राण का) 'उदानवायोः आधारः फुफ्फुस प्रोच्यते बुधैः। आमपक्वाशयमध्यचरः समानः, मलाशयचरः अपानः। सर्वशरीरचरो व्यानः' दे० नि० अ० १। वैसे तो वायु एक ही है, परन्तु स्थान नाम आदि भेद से ५ प्रकार का माना जाता है। पित्त के स्थान—अग्न्याशय, यकृत् एवं प्लीहा, हृदय नेत्र तथा त्वचा। कफ के स्थान—आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिरस् तथा सन्धियाँ। अथवा—वातस्थान—वाताशय, पित्तस्थान—पित्ताशय, कफस्थान—श्लेष्माशय (दे० शा० अ० ५ सू० ७)। इन अवयवों का उपस्नेहन-सिञ्चन-सन्तर्पण करनेवाली है। उक्त सिराओं में १०-१० एवं १०×४=४० ॥६॥

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एवोदरे, दश वक्षसि।

एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, षण् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवाहिनीनां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त शिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥७॥

एक टाँग में वातवाही सिरायें पच्चीस हैं। इतनी ही दूसरी टाँग और बाहुओं में समझना। विशेष भेदकोष्ठ में चौतीस सिरायें हैं, इनमें आठ सिरायें गुदा और मेहन का आश्रय करके श्रोणी में रहती हैं। पार्श्वों में दो-दो, पीठ में छै, उदर में भी छै वक्षःस्थल में दश। जत्रु से ऊपर इकतालीस सिरायें हैं। इनमें से ग्रीवा में चौदह, कान में चार, जिह्वा में नौ, नासिका में छै, नेत्रों में आठ। इस तरह वातवाही एक सौ पचहत्तर सिरायें कह दीं। इसी प्रकार से शेष सिराओं का विभाग है। केवल भेद इतना है, कि—नेत्रों में पित्तवाहिनी दस हैं, कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवहा और कफवहा हैं। इस प्रकार से ये सात सौ सिरायें विभाग के साथ कह दीं हैं।

वि० मन्तव्य—नेत्र तेजस् विशिष्ट स्थान है, अतः उसके वर्द्धनार्थ पित्तवाहिनी दो सिरा अधिक हैं, रक्त-धातु-पित्तमय होता है, अतः रक्तवाहिनी सिरा दो अधिक हैं और पित्त एवं रक्त के शमनार्थ कफवाहिनी सिरा भी दो अधिक हैं। और पित्तवाहिनी, रक्तवाहिनी तथा कफवाहिनी सिरा दो दो ही हैं जब कि कर्ण में वात वाहिनी सिरा चार हैं, क्योंकि—कर्ण शब्दवह स्रोत है और वायु शब्दवह है ॥७॥

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥८॥
यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥९॥
भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्।
ससर्पत् स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि।
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥११॥
स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१३॥
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१४॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१५॥

इसमें श्लोक भी हैं—अपनी सिराओं में गति करता हुआ वायु क्रियाओं में किसी प्रकार को रुकावट को उत्पन्न नहीं करता बुद्धि के कर्मों में मोह (अज्ञान) उत्पन्न नहीं करता, अन्य गुणों (प्रस्पंदन, उद्वहन, पूरण आदि) भी करता है। कुपित हुआ वायु जब अपनी सिराओं में गति करता है, तब वातजन्य नाना प्रकार के रोग मनुष्य को होते हैं। पित्त अपनी सिराओं में गति करता हुआ भ्राजिष्णुता (कान्ति), अन्न में रुचि, अग्नि की प्रदीप्ति, नीरोगता उत्पन्न करता है। कुपित हुआ पित्त जब अपनी सिराओं में जाता है, तब पित्तजन्य नाना प्रकार के रोग मनुष्य को होते हैं। अपनी सिराओं में गति करता हुआ कफ अंगों में स्निग्धता, सन्धियों में स्थिरता, प्रबल बल और दूसरे भी गुणों को उत्पन्न करता है। जब कुपित कफ अपनी सिराओं में गति करता है तब कफजन्य नाना रोग मनुष्य को होते हैं। अपनी सिराओं में चलता हुआ रक्त धातुओं को भरना, वर्ण (कान्ति), संशय रहित स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को उत्पन्न करता है। और जब कुपित रक्त अपनी सिराओं में फिरता है, तब रक्तजन्य नाना रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—वायु के कार्य आदि के लिये चरक सूत्रस्थान अध्याय बारह, सुश्रुत० सूत्रस्थान अ० १५ देखें।

वि० मन्तव्य—जब वायु अपनी सिराओं में ही घूमता है तब वह प्रकृतिस्थ होता है अथवा यों कहिये कि प्रकृतिस्थ वायु अपनी सिराओं में घूमता है -विकृत नहीं। तब तो उसका उन्मार्ग गमन—मार्ग का उल्लंघन करके गमन ध्रुव—निश्चित है, इसी प्रकार पित्त, कफ एवं रक्त को भी समझिये। तात्पर्य यह है कि वायु, पित्त, कफ एवं रक्त जब तक प्रकृतिस्थ रहते हैं तब तक अपनी सिराओं में गति करते हैं। फलतः प्राणी प्रकृतिस्थ स्वस्थ रहता है और जब वे अपनी शिराओं का उन्मार्गगमन करते हैं तब प्राणी अस्वस्थ हो जाता है और उन्मार्गगमन तभी करते हैं जब विकृत हो जाते हैं ॥८-१५॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृता ॥१६॥

कोई भी सिरा अकेली न तो वायु का, न पित्त का, न कफ का अकेला वाहन करती है, अपितु सब सिराओं का बहन करती हैं। इसलिये इनको सर्ववहा कहते हैं।

वि० मन्तव्य - वास्तव में सब सिरा सर्ववहा हैं अर्थात् प्रत्येक सिरा वात, पित्त, कफ एवं रक्त की वहा होती हैं। आहार पांचभौतिक होता है। उसका रस भी पाञ्चभौतिक होता है वही रस रक्त में मिलता है और रञ्जक पित्त द्वारा रंगा जाने पर रक्त कहलाता है और रक्त वहन उक्त शिरा करती हैं, तात्पर्य है कि—वात-पित्त-कफमय रक्त होता है,

तथापि वातस्थानों में वात, पित्तस्थानों में पित्त, कफस्थानों में कफ तथा रक्तस्थानों में रक्त का वहन विशेष रूप से होता है, अतः वातवहा आदि कहना उचित ही है। अर्थात् सर्ववहा होने पर भी उक्त नामकरण किया जाता है ॥१६॥

प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१७॥

दूषित होकर दौड़नेवाले दोष परस्पर मिलकर अपने स्थान या मार्ग को छोड़कर गलत मार्ग में जरूर जाते हैं। इसलिये सब सिरायें सर्ववहा कही जाती हैं।

वि० मन्तव्य—प्रदुष्ट दोषों का उन्मार्ग गमन होने से ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं, प्रदुष्ट होकर वे परस्पर मिल भी जाते हैं और बे लगाम घोड़ा के समान प्रधावतां—दौड़ने लगते हैं और वायु पीड़ा आदि, पित्त—दाह आदि तथा कफ कण्डू आदि और रक्त-कुष्ठ आदि रक्तज रोगों को उत्पन्न कर देता है और सिरावेध (देखिये अ० ८) द्वारा तथा जलौका आदि (दे० सू० अ० १३) द्वारा रक्त अर्थात् वात पित्त कफ मय रक्त निकाल देने से उक्त रोग शान्त हो जाते हैं। अतएव "सिराव्यधः चिकित्सार्धं" (शा० अ० ८-२३) कहकर सिरावेध अर्थात् रक्तस्रावण का महत्त्व बतलाया गया है सच है कि रक्त-स्रावण को दृष्टि में रखकर यह सब कथा कही गई है ॥१७॥

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१८॥

इनमें वातवहा सिरायें अरुण वर्ण की, और वायु से भरी रहती हैं। पित्त से सिरायें नीली और उष्ण होती हैं, कफ से शीतल, स्थिर और श्वेत वर्ण की होती है। रक्त को वहन करनेवाली रोहिणी (गहरे लाल रंग की) रंग की तथा न बहुत उष्ण और न बहुत शीतल होती हैं।

वक्तव्य—रक्त अनुष्णाशीत है, यथा—"अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत्॥" सुश्रुत०।

वि० मन्तव्य—इन लक्षणों द्वारा चतुर चिकित्सक सिराओं को देखकर वायु आदि की अधिकता का अनुभव कर सकता है और जब वे वातपूर्ण हो जाती हैं तब अरुण कालापन लिये लाल) पित्त से नीली तथा कफ से श्वेत हो जाती हैं। फलतः शरीर का वर्ण भी अरुण, पीत या नील तथा श्वेत हो जाता है ॥१८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक्।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥१९॥
शिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान्।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्ठं च मूर्धनि ॥२०॥
शाखासु षोडश सिरा कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥२१॥

इसके आगे उन सिराओं को कहूँगा—जिनका कि वेधन वैद्य को नहीं करना चाहिये। क्योंकि उन अवेध्य सिराओं का वेधन करने से विकृतता या मृत्यु निश्चित है। शाखाओं में चारसौ, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस, शिर में एक सौ चौसठ (१६४) सिरायें हैं। इनमें से शाखाओं में सोलह, कोष्ठ में बत्तीस और शिर में पचास सिरायें अवेध्य कही हैं।

वि० मन्तव्य—जिन सिराओं के वेधन का निषेध किया गया है, वे सब मर्म स्थान गत हैं अथवा उनके समीपगत हैं देखिये शा० अ० ६ में प्रत्येक मर्म का निर्दिष्ट स्थल और उनके नाम। सिरावेध अवश्य करना चाहिये, उससे मानव की व्याधियों की लगभग आधी चिकित्सा हो जाती है, परन्तु वेध करते समय उक्त स्थानों की सिराओं का वेध नहीं करना चाहिये अर्थात् उनको बचाकर अन्यत्र वेध करना चाहिये यही उसका तात्पर्य है। वेध निषेध के हेतु १—धमन होने के कारण क्षत का सन्धान होने में कठिनाई होती है, २—रक्त का स्रावण बहुत वेग के साथ होता है, ३—उक्त स्थान मर्मस्थल है अथवा मर्म के समीपस्थ हैं। इन १६, ३२, ५०×६८ सिराओं का रक्तस्रावण के लिये वेध नहीं करना चाहिये और उक्त स्थानों पर छेदन भेदन आदि शस्त्रकर्म करते समय उन सिराओं को कटने से बचाना चाहिये। वहाँ पर अग्निकर्म तथा क्षारकर्म का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये (देखिये अ० ६ का श्लोक० ४१) ॥२१॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति, तासां जलधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा चैका, तास्त्वव्यध्याः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु। द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च, अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे, चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहतीसिरे, तावत्य एवोदरे तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत्; चत्वारिंशद्वक्षसि तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ, एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति। चतुःषष्टं सिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति, तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसञ्ज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशाव्यध्याः, हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत्, षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे, द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत्,

तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे, अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत, कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत्, नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः, आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या, शंखयोर्दश, तासां शंखसन्धिगतामेकैकां परिहरेत्, द्वादश मूर्धिन, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, कृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥२२॥

प्रत्येक टांग में एक सौ सिरायें है, उनमें से जालधरा सिरा और अन्दर की ओर तीन सिरायें (दो-उर्वी और लोहिताक्ष) ये अवेध्य हैं। इसी तरह दूसरे पैर और बाहुओं की सिरायें समझना। इस तरह सब शाखाओं में सोलह सिरायें अवेध्य हैं। (जालधरा सिरातल हृदय मर्म में रहती है)।

श्रोणि में बत्तीस सिरायें हैं। इनमें आठ सिरायें अवेध्य हैं, विटपमर्मों में दो-दो। एक एक पार्श्व में आठ सिरायें रहती हैं। उनमें ऊपर जानेवाली एक एक सिरा को बचाना चाहिये। पार्श्व सन्धिगत दो सिराओं को भी बचाना चाहिये। पृष्ठ में पृष्ठवंश के दोनों ओर २४ सिरायें हैं। उनमें ऊपर जानेवाली बृहती नामक दो सिरायें बचानी चाहिये। उदर में भी चौबीस सिरायें हैं। इनमें से मूत्रेन्द्रिय के ऊपर, रोमराजी के दोनों ओर दो दो सिराओं को बचाना चाहिये। बक्षस्थल में चालिस सिरायें हैं, उनमें से चौदह सिरायें शस्त्र कर्म में अयोग्य हैं। यथा—हृदय तथा स्तनमूल में दो-दो, स्तन रोहित में दो-दो अपलाप और अपस्तम्भ दोनों ओर एक एक, इस प्रकार आठ सिरायें अवेध्य हैं। इस तरह पीठ, पेट, छाती में बत्तीस सिरा अवेध्य हैं।

जत्रु के ऊपर के भाग में एक सौ चौसठ सिरायें हैं, ग्रीवा में ५६ सिरायें हैं। उनमें से १२ मर्म संज्ञक सिरायें, दो कृकाटिका, दो विधुर, इस प्रकार ग्रीवा में सोलह सिरायें बचानी चाहिये। हनुके दोनों ओर आठ आठ सिरायें हैं, उनमें सन्धि में रहनेवाली दो-दो धमनियाँ छोड़नी चाहिये। जिह्वा में ३६ सिरायें हैं। इनमें से सोलह जिह्वा के नीचे होती हैं, इनमें दो रसवहा और दो वाग्वहा सिरायें शस्त्रकर्म में बचानी चाहिये। नासिका में २४ सिरायें हैं, इनमें से नाक के पास की चार सिरायें बचानी चाहिये। तालु के मृदु देश में की एक सिरा को भी बचाना चाहिये। दोनों नेत्रों में अड़तीस सिरायें हैं। इसमें से अपांगों की एक एक सिरा को बचाना चाहिये। कानों में दस सिरायें हैं—इनमें से एक एक शब्दवाहिनी सिरा को बचाना चाहिये। नासिका और नेत्र गत ललाट में साठ सिरायें हैं, इनमें से केशान्तों में जानेवाली चार, आवर्त्तमर्मों में एक एक, स्थपनी में एक, कुल सात सिरायें बचानी चाहिये। शंखों में दस सिरायें हैं, उनमें से शंख सन्धि की एक एक सिरा को बचाना चाहिये। शिर में बारह सिरायें हैं—इनमें से उत्क्षेप मर्म में दो, सीमन्तों की पांच, अधिपति में से एक सिरा को बचाना चाहिये। इस प्रकार से पचास सिरायें जत्रु के ऊपर अवेध्य हैं ॥२२॥

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद् बिसादीनां तथा जलम् ॥२३॥

इसमें श्लोक भी है-जिस प्रकार पद्मिनी कन्द से निकले विष आदि के प्रतान जल में फैले रहते हैं, उसी प्रकार नाभि से निकली सिराओं के प्रतान इस सारे शरीर में फैले हुए हैं ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सिराव्यध विधि शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—सिरा का व्यध या वेधन सिराव्यध कहलाता है। रोग शान्ति के लिये सिरावेध किया जाता है, जब रुक्—रुजा—रोग का हेतु वातादि से दूषित रक्त होता है तब सिरा वेध आवश्यक है। यूनानी चिकित्सा करने वाले भारतीय चिकित्सक प्रायः सिरा वेध करते हैं। पञ्जाब-जहाँ रक्तसार मानव अधिक हैं-में सिरावेध किया जाता है। च० सू० अ० २४ में लिखा है कि—शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः उपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति रक्तजान् तान् विभावयेत् ॥ अर्थात् जो रोग—शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्ष आदि द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करने पर सुखसाध्य रोग भी शान्त नहीं होते उनको रक्तज रोग समझना चाहिये। देखा गया है कि जीर्ण ज्वर आदि में अनेक चिकित्साओं के असफल होने पर सिरा वेध से आरोग्य लाभ हुआ। वातादि द्वारा रक्त दूषित होने पर शारीरिक ही नहीं मानसिक रोग भी हो जाते हैं, अतः उन्माद, अपस्मार, मद, मोह, मूर्च्छा, उद्वेग, महागद, अभिन्यास, हृदयद्रव (जड़कन) आदि अनेक रोग हो जाते हैं। उनकी शान्ति के लिये भी सिरावेध का स्मरण कर लेना अच्छा है। जलौका, सिंगी एवं पच्छ से एकदेशीय रोग की शान्ति होती है, परन्तु सिरा सर्वाङ्ग शोधिनी है। कुष्ठ के प्रारम्भ में यदि

बार २ सिरा वेध किया जाय तो बहुत लाभ हो। परन्तु खेद है कि कोई चिकित्सक इधर ध्यान ही नहीं देता। सु० सू० अ० १४ के श्लो० ३३ तथा ३४ में कहा गया है कि—रक्त का समीचीन विस्रावण हो जाने पर-शरीर में लघुता, वेदना की शान्ति, व्याधि के वेग का परिक्षय तथा मनस् का प्रसाद (प्रसन्नता-निर्दोषता) हो जाता है और कुष्ठ आदि त्वग्दोष, ग्रन्थियाँ, व्रणशोथ तथा अन्य सब रक्तविकार कभी नहीं होते॥

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्यपाध्वस्त्रीकर्शितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥३॥

निम्न अवस्थाओं में सिरावेध न करे—बालक, वृद्ध, रूक्ष, उरःक्षतः से क्षीण, डरपोक, थका हुआ, मद्य पीनेवाला, यात्री; एवं स्त्री के सेवन से कृश, वमन, विरेचन आस्थापन-अनुवासन दिये, रात में जागरण किया, नपुंसक, कृश, गर्भवती, कास, श्वास, शोष, तीव्रज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास, प्यास, मूर्च्छा से पीडित अवस्थाओं में वैद्य सिरा का वेधन न करे। अवेध्य शिराओं में भी वेधन न करे। वेधन योग्य सिरा यदि दिखाई न दें, तो उसमें भी वेधन न करे। देखने पर भी यदि सिरा को बाँधा नहीं गया, तो भी वेधन न करे। बाँधने पर भी यदि सिरा ऊपर को न उभरें, तो भी वेधन न करे।

वक्तव्य—सिरा में इंजैक्शन देने के लिए जो विधि बरती जाती है, वही विधि सिरा वेध की है। प्रायः करके कोहनी के जरा नीचे सिरा (ब्रेकियल वेन) का वेधन करते हैं। इसमें सिरा का वेधन करने के लिये पहले सिरा को ऊंचा उभारना आवश्यक है। इसके लिये बाहुपर कसकर पट्टी, रबड़ की नली, या दूसरी तरह से दबाव देते हैं। जिससे रक्त का ऊपर जाना जरा देर के लिये रुक जाये। रक्त न जाने से सिरा में रक्त रुकने से सिरा फूल आती है। फूलने पर उभर आती है। अब इसका वेधन किया जाता है॥३॥

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ॥४॥

रक्त मोक्षण से अच्छे होनेवाले रोग पहले सूत्रस्थान अध्याय चौदह में कह दिये हैं, उन रोगों में तथा रक्त मोक्षण से ठीक होनेवाले जो रोग वहाँ नहीं कहे (जैसे गुल्म, प्लीहा आदि), उनमें एवं रोगों की अपक्वावस्था में (रक्त मोक्षण साध्य रोगों की), अभ्यास के अनुसार (जिस शिरा का वैद्य वेधन करते हैं) जैसा न्याय (उचित) हो, वैद्य उस प्रकार सिरा का वेधन करे। (यथाभ्यासमिति यथासमीपमिति--डल्हणः) ॥४॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥५॥

जिन लोगों के लिये सिरावेध का निषेध किया है; उनमें भी विष के उपद्रव होने पर तथा आत्ययिक रोग (विनाशक रोग-विद्रधि, अन्तः विद्रधि आदि) होने पर सिरा वेधन करना चाहिये ॥५॥

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य प्राप्तं शस्त्रमादाय सिरां विध्येत् ॥६॥

रोगी को स्नेहन देकर दोष के विपरीत पतला सा अन्न पिलाकर अथवा यवागू पिलाकर योग्य काल में अपने समीप बिठाकर या खड़ा करके, जीवन में जिससे हानि न हो, ऐसे वस्त्र पट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, लतादि किसी वस्तु से बाँधकर बहुत कड़ा या बहुत ढीला न हो, ऐसे ढंग से शरीर के उस भाग में यथोक्त शस्त्र से शिरा का वेध करे ॥६॥

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ ७॥

बहुत शीतकाल में या अधिक गरमी में, जोर से चलती वायु में, आकाश के मेघाच्छन्न होने पर, तथा बिना किसी रोग के सिरा का वेधन न करे।

वि० मन्तव्य—रक्तस्रावण भी वमन विरेचन के समान शोधन कर्म है, अतः वमन विरेचन के समान देश काल आदि का विचार कर लेना चाहिये। एतदर्थ—सूत्रस्थान का अध्याय १२ तथा अध्याय १६ और चिकित्सा स्थान का अ० ३३ आदि अवश्य देख लेना चाहिये। अरोगे वा कदाचन—का तात्पर्य है कि अरोग-आरोग्य म भी कभी २ रक्तस्राव कराना चाहिये, यथा वमन विरेचनात्मक संशोधन किया जाता है—शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान् न जातु॥ इन्हीं समयों में सिरावेध भी किया जाता है और आत्ययिक दशा में जब भी आवश्यक हो तभी रक्त स्रावण कर देना चाहिये, परन्तु तदनुकूल व्यवस्था करके। जैसा कि १० वें श्लोक में कहा गया है—सिरावेध करते समय सु० सू० अ० १४ के पाठ-२१ से ४५ अवश्य देखिये और आवश्यकतानुसार तदनुसार कार्य कीजिये॥

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परे सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्टयोरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात् स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्, एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः। पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत्। अथोपरिष्टाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा। सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत्। गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य। बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः। अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे। उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधो जिह्वायाम्। अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च। एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥८॥

जिस पुरुष का सिरा वेध करना हो, उसको बालिश्तभर ऊँची चौकी पर सूर्य की ओर मुख रखकर बिठाये। टांगों को घुटनों पर मोड़कर घुटने पर दोनों कोहनियों को रखवाकर, अंगूठा अन्दर को रखते हुए मुट्ठियाँ बन्द करावे। इन मुट्ठियों का ग्रीवा में मन्या पर रखवाये। फिर गर्दन और मुट्ठियों को यंत्रण-शाटक (बांधने के कपड़े) से लपेट कर—घुमाकर पीछे की ओर खड़े दूसरे व्यक्ति के बायें हाथ में यंत्रण-शाटक के दोनों छोर पकड़ाकर, वैद्य उस व्यक्ति से कहे कि दहिने हाथ से शिराओं का उत्थान करने के लिये न बहुत जोर से न बहुत धीमे, यंत्रशाटक को कसने लगो। रक्त का निर्हरण होने के लिये यंत्र को पीठ के मध्य में ऐंठन दो। रोगी मुख में हवा भर कर बैठे। यह यन्त्रणविधि अन्तर्गत सिराओं को छोड़कर शिरोगत शेष शिराओं के वेधन के लिये है।

जिस पुरुष के पैर की सिरा का वेधन करना हो, उसका पैर समान स्थान पर अच्छी प्रकार रखकर दूसरे पैर को थोड़ा सा ऊँचा करके, जिस पैर में सिरावेध करना हो, उस पैर को घुटने के नीचे यन्त्रण शाटक से लपेटकर, गुल्फ पर्यन्त दोनों हाथों से दबाकर अथवा वेध्य स्थान के ऊपर चार अङ्गुल प्लोत (कपड़ा) या चमड़ा किसी से बाँधकर पैर की शिरा का वेधन करे।

हाथों की शिराओं के वेधन के लिये अंगूठे को मुट्ठी के अन्दर की ओर दबाकर अच्छी तरह आसन पर सुख पूर्वक बिठाकर, पुरुष के हाथ को पूर्वोक्त विधि से बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे।

गृध्रसी और विश्वाची में घुटने और कोहनी को संकुचित कराकर फिर यन्त्रण करे। श्रोणी, पीठ, कन्धे में सिरावेध करना हो तो पीठ को ऊँचा करके और सिर को झुकाकर बैठे हुए व्यक्ति की सीधी तनी हुई पीठ होने पर सिरा वेध करे। पेट और छाती में सिरा वेध करना हो तो, शिर को ऊँचा उठाकर, छाती तथा मध्य शरीर को फैलाकर शरीर में दृश्यमान सिरा का वेधन करे। पार्श्वों में शिरावेध करना हो तो बाहुओं से शरीर को थमाकर सिरा का बेध करे। मेहन पर सिरावेध करना हो तो मेहन को बिना झुकाये सिरा वेध करे। जिह्वा के सिरावेध में जिह्वा को ऊपर उठाकर, जिह्वाग्र को दबाकर जिह्वा के नीचे की शिराओं का वेधन करे। तालु और दन्तमूलों के सिरावेध में मुख को खोलकर तालु और दन्तमूलों में सिरावेध करे।

इसी प्रकार अनुक्त स्थानों में सिराओं को यंत्रों से अथवा अन्य उपायों से बांधकर-सिराओं को उभारनेवाले साधनों से काम लेकर, शरीर रोग के अनुसार सिरा का वेधन करे ॥८॥

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥९॥

मांसल प्रदेशों में जौ मात्र शस्त्र से वेधन करे। मांसल स्थानों से भिन्न स्थानों में आधे जौ के बराबर या व्रीहिमुख शस्त्र से जौ भर वेधन करे। अस्थियों के ऊपर कुठारिका नामक शस्त्र से आधा जौ के बराबर गहरा सिरावेध करे।

वि० मन्तव्य—मांसल—अधिक मांसवाले अवयवों में वेधन करते समय सिरा शस्त्र के दबाव से मांस में धँस जाती है—धँस सकती है, अतः व्रीहिमुख—नहेरने जैसे पर दोनों ओर धारवाले शस्त्र से वेध किया जाता है और जहाँ सिरा के नीचे अस्थि रहती है वहाँ कुठारिका कुल्हाड़ी के आकार का छोटा शस्त्र उपयुक्त होता है। इस शस्त्र के उपयोग की विधि—कुठारिकां वामहस्तन्यस्तां इतरहस्तमध्यमांऽगुल्यंगुष्ठविष्टब्धया अभिहन्यात् सु० सू० अ० ८-५। अर्थात्—कुठारिका को बाएँ हाथ से वेध्यस्थल पर रखकर—दाहिने हाथ की मध्यमा अँगुली को अंगूठा से बलपूर्वक स्तब्ध करके कुठारिका की पीठ पर आघात करे—मारे। इस प्रकार वह सिरा का वेधन कर देती है, परन्तु आघात-चोट उतनी ही हो जिससे सिरा का आधा भाग करे, समस्त सिरा न कट जाय अथवा उससे भी आगे कुठारिका की धार न धँस जाय ॥९॥

ब्यभ्रे वर्षासु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥१०॥

वर्षाऋतु में जब बादल न हो, ग्रीष्मऋतु में ठण्ड के समय, हेमन्तऋतु में मध्याह्न में शस्त्र कर्म करना चाहिये॥

वक्तव्य—आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेत्-उत्तमेन यत्नेनावहितः॥ चरक॥

वि० मन्तव्य—सिरावेधन एवं छेदन भेदन आदि सभी प्रकार के शस्त्रकर्म के लिये उक्तकाल उपयुक्त होते हैं॥१०॥

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥११॥

अच्छे प्रकार शस्त्र चलाने से धारा के रूप में कुछ कालाकाला खून बहे, पीछे रुक जाये, उसे सुविद्ध जानना॥११॥

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते॥१२॥

जिस प्रकार कुसुम्भ के फूलों से पहले पीला रंग आता है, उसी प्रकार सिराओं का वेध करने पर पहले दूषित रक्त निकलता है।

वि० मन्तव्य—यह दुष्ट रक्त दोषानुसार वर्णवाला होता है, यथा-वायु से दूषित रक्त-अरुण-कालापन लिये लाल, कफ से दूषित रक्त-नीलापन लिये अथवा नीलापन लिये लाल, कफ से दूषित रक्त-सफेदी लिये लाल और त्रिदोष दूषित रक्त क्वाथ अथवा गोमूत्र के सदृश वर्णवाला होता है। यह भी स्मरणीय है कि कुछ रक्त उक्त प्रकार का निकलकर शुद्ध रक्त आने लगता है और तब उसे रोकने का उपाय करना चाहिये। रोकने के उपाय देखिये सु० सू० अ० १४ पाठ ३६। और यदि सिरावेध करने पर रक्त की उचित रूप से प्रवृत्ति न हो तो उक्त अ० १४ के पाठ ३५ के अनुसार उपाय करो। दूषित रक्त भी ६० तो० से अधिक नहीं निकालना चाहिये एक बार में, आवश्यकता हो तो पुनः १०-२० दिन के पश्चात् शिरावेध कर देना चाहिये। इस प्रकार ३-४ अथवा १०-२० बार सिरावेध किया जाता है। आरोग्य लाभ या रोगशान्ति पर्यन्त अनेक बार॥१२॥

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः॥१३॥

मूर्छित, बहुत डरे, थके हुए, प्यासे, एवं न उभरी, न बांधी हुई, शिराओं में वेधन करने पर रक्त भली प्रकार नहीं बहता।

वि० मन्तव्य—सिरावेध होते ही, रक्त की गन्ध आते ही कोई २ रोगी मूर्च्छित हो जाता है तब रक्तस्राव नहीं होता। अतिभीत, श्रान्त तथा तृषित का रक्त गाढ़ा रहता है, अतः भीत को आश्वासित करके, श्रान्त एवं तृषित का जल पिलाकर सिरावेध करना चाहिये॥१३॥

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥१४॥

क्षीण, बहुत दोषवाले, मूर्च्छा से पीड़ित व्यक्ति में सिरावेध अपराह्न में दूसरे या तीसरे दिन करना चाहिये॥१४॥

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिनिःस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत्॥१५॥

दूषित रक्त को भी सम्पूर्ण रूप से बाहर नहीं करना चाहिये। उस दोष से युक्त शेष रक्त की चिकित्सा संशमन विधि से करे।

वि० मन्तव्य—इस श्लोक को भली भाँति समझने के लिये देखिये सु० अ० १४ का श्लो० ४३। तथा ४४। संशमन विधि है—रक्त शोधन क्वाथ आदि का पान॥१५॥

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे॥१६॥

बलवान्, प्रचुर, दोषवाले और तरुण व्यक्ति का रक्त अधिक से अधिक एक प्रस्थ (१३½ पल) निकालना चाहिये। कहा भी है—

"वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः" ॥१६॥

तत्र पाददाहपादहर्षचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्यां, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृदाल्ये (कफोदरे च) एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां, श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुलं सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे), वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽविद्रधौ पार्श्वशूले च बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधः स्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके; हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शंखकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धा-

ग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वपाङ्ग्यामयेषूपनासिके ललाटे चापाङ्ग्यां वा, एता एव शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥१७॥

पाददाह, पादहर्ष, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी इत्यादि रोगों में क्षिप्र मर्म के दो अंगुल ऊपर व्रीहिमुख शस्त्र से सिरा वेध करे। श्लीपद में सिरा वेध इस रोग की चिकित्सा में कहेंगे। क्रोष्टु शीर्ष, खञ्ज, पंगुल तथा वातवेदना में—जंघा में—गुल्फ के ४ अंगुल ऊपर सिरावेध करे। अपची में इन्द्र वस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे सिरावेध करे। गृध्रसी में जानुसन्धि के चार अंगुल ऊपर या नीचे सिरावेध करे गलगण्ड में ऊरुमूल की सिरा का वेधन करे। इसी तरह दूसरी टांग और दोनों बाहुओं के सिरावेध को समझना। विशेष भेद प्लीहा-रोग में वाम बाहु के मध्य में भीतर की ओर कूर्पर सन्धि के समीप अथवा कनिष्ठिका और अनामिका के मध्य देश में सिरा वेध करे। इसी तरह यकृत दाल्युदर रोग में कास-श्वास में दक्षिण बाहु में सिरावेध करे। विश्वाची रोग में गृध्रसी के समान सिरावेध करे। शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी के चारों ओर दो अंगुल की दूरी पर सिरावेध करे। परिवर्त्तिका उपदंश शूक रोग और शुक्र रोगों में मेहन के मध्य में, मूत्रवृद्धि में वृषणों के पार्श्वों में उदकोदर में नाभि के नीचे, सीवनी के बाईं तरफ अंगुल पर सिरावेध करे अतः विद्रधि और पार्श्वशूल में वाम कक्षा में, कक्षा और स्तन के बीच सिरावेध करना बाहुशोध और अवबाहुक रोग में कन्धे के मध्य में सिरा वेध करे, ऐसा कई आचार्य कहते हैं। तृतीयकज्वर में त्रिकसन्धि के मध्य की सिरा का वेधन करे। चतुर्थक ज्वर में किसी भी एक पार्श्व में स्कन्ध सन्धि के नीचे सिरावेध करे। अपस्मार में हनुसन्धि के बीच में रहनेवाली सिरा का, अपस्मार और उन्माद में शंख तथा केशान्त सन्धिगत, वक्षस्थल, अपांग और ललाट में रहनेवाली सिराओं का वेध करे। जिह्वा रोग और दन्त रोगों में जीभ के नीचे रहनेवाली शिराओं का वेध करे। तालु के रोगों में तालु में शिरा वेध करे। कर्ण पीड़ा और कर्ण रोगों में कानों के ऊपर चारों ओर शिरावेध करना चाहिये। गन्ध का ग्रहण न होने पर और नाक की बीमारियों में नाक के अग्र भाग में शिरा वेध करे। तिमिररोग, अक्षिपाक आदि रोगों में नाक के समीप ललाट की या अपांग की शिराओं का वेधन करे। शिरोरोग, अधिमन्थ आदि रोगों में इन्हीं सिराओं में वेध करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यद्यपि सिरा सर्वाङ्गशोधिनी होती है, क्योंकि सिरा में सर्व शरीरगामी रक्त का वहन होता है, (यदि उससे रक्त का वहन न रोका जाय तो सारा रक्त निकल जाता है) तथापि रुग्ण स्थान पर जैसे जलौका एवं सिंगी आदि का प्रयोग किया जाता है, करने का विधान है और लाभ भी देखा जाता है, परन्तु यह एक विलक्षणता है कि अन्त्र स्थित रोग की शान्ति के लिये अन्यत्र सिरावेध किया जाता है और विभिन्न रोगों के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भी। यथा अपची रोग में इन्द्रवस्ति के नीचे, गलगण्ड में ऊरुमूल में। अस्तु, होगा कोई परस्पर सम्बन्ध ॥१७॥

दुष्टव्यधा विंशतिः—दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युदीर्णाऽन्ते विद्धा परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा सिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति ॥१८॥

दूषित रूप में वेधन हुई सिरायें बीस हैं, यथा—दुर्विद्ध, अतिविद्ध, कुञ्चित, पिच्चित, कुट्टित, अप्रस्रुत, अत्युदीर्ण, अन्तेविद्ध, परिशुष्क, कूणित, वेपित, अनुत्थित विद्ध, शस्त्रहत, तिर्यग् विद्ध, अपविद्ध, अव्यध्य, विद्रुत, धेनुका, पुनः पुनः विद्ध, मांस सिरा-स्नायु अस्थि और सन्धि मर्मों में विद्ध, इस प्रकार से दूषित वेधन बीस प्रकार का है।

वि० मन्तव्य—सिरा वेध की अकुशलता के कारण उक्त प्रकार के २० दुष्ट व्यध (वेध) हो सकते हैं और उनसे निम्न सू० १६ में लिखी व्यापद् हो सकती हैं ॥१८॥

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवं, कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता, कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिता, अप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्यन्तेविद्धा, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागासादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, स्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥१९॥

सूक्ष्मशस्त्र से वेधन करने पर थोड़ा रक्त आता हो, वेदना और सूजन हो, उसे दुर्विद्धा समझना। प्रमाण से अधिक वेधन

होने पर रक्त शरीर के अन्दर हो, उसे अतिविद्धा जानना। कुञ्चिता में भी अतिविद्धा के लक्षण होते हैं। कुण्ठित शस्त्र से कुचली जाने के कारण चौड़ी हुई सिरा पिच्चिता कहाती है। सिरा के न मिलने पर पास की सिराओं में बार-बार वेधन करने पर कुट्टिता कहलाती हैं। शीत, भय, या मूर्च्छा से रक्त न निकलने पर अप्रस्रुता कहलाती हैं। तीक्ष्ण और बड़े मुखवाले शस्त्र से वेधन होने पर अत्युदीर्णा कहलाती हैं। शिरा के अन्तिम छोर पर वेधन करने पर थोड़ा सा रक्त निकलने पर अन्ते विद्धा कहलाती हैं। जिसका रक्त क्षीण होकर वायु भर गई हो उसे परिशुष्का कहते हैं। शस्त्र जब सिराके चौथाई भाग में ही प्रवेश करे, थोड़ा सा रक्त निकले, उसे कूणिता कहते हैं। स्थान को छोड़कर सिरा को बाँधने से काँपनेवाली सिरा का रक्त बाहर नहीं आता, इसे वेपिता कहते हैं। शिरा के न उठने पर भी वेधन करने पर वेपिता के लक्षण होते हैं उसे अनुत्थितविद्धा कहते हैं। शस्त्र से कटने के कारण बहुत मात्रा में रक्त निकले, सिरायें अपना कार्य न करें, उसको शस्त्रहता कहते हैं। तिरछा शस्त्र चलाने के कारण जो शिरा कटने से थोड़ी बच गई हो उसे तिर्यग्विद्धा कहते हैं। हीन शस्त्र प्रयोग के कारण बहुत स्थानों पर चोट लगने पर अपविद्धा होती है। शस्त्र कर्म के अयोग्य सिराओं को अव्यध्या कहते हैं। चंचल सिराओं का वेधन होने से विद्रुता कहते हैं। शिरा प्रदेश के जोर से दबने पर जब शस्त्र से ऊपर ही ऊपर चिह्न हो जाते हैं और इन क्षतों से रक्त बार-बार बहता हो, तो इसे धेनुका कहते हैं। सूक्ष्म शस्त्र के कारण बार-बार वेधन करने पर कटी सिराओं को पुनः पुनः विद्धा कहते हैं। मांस सिरा स्नायु सन्धि और अस्थि मर्म पर वेधन करने से पीड़ा, सूजन विकलता और मृत्यु होती है ॥१९॥

भवति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येता स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥२०॥

इसमें श्लोक भी हैं—शिराओं में चंचलता (अस्थिरता) स्वभाव से ही है। ये सिरायें मछली की तरह परिवर्तन करती हैं (मछली हाथ में आकर जैसे फिसल जाती है)। इसलिये सिराओं के विषय में उनकी जानकारी किसी को भी नहीं है। अतः इनका भेदन प्रयत्न पूर्वक करे ॥२०॥

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः ॥२१॥

शस्त्र कर्म में अज्ञ व्यक्ति यदि शरीर पर शस्त्र चलाये तो पूर्वोक्त बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं, और बहुत उपद्रव भी होते हैं ॥२१॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥

स्नेहन, स्वेदन, अथवा लेपों से रोग उतनी अच्छी तरह जल्दी शान्त नहीं होते हैं, जितना सिरा वेध से जल्दी और अच्छी तरह शान्त होते हैं ॥२२॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥२३॥

शल्य तंत्र में सिरावेध चिकित्सा का आधा भाग है, जिस प्रकार कि काय चिकित्सा का वस्ति आधा भाग है। (यथा-तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति, सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके। चरक०)।

वि० मन्तव्य—सिरावेध का महत्त्व—शल्यशास्त्रोक्त रोग शान्ति के सब उपाय एक ओर और अकेला सिरावेध एक ओर अर्थात् यह अकेला ही सबके समान है, जैसे कायचिकित्सा में सभी संशमन उपाय एक ओर अकेला वस्ति प्रयोग एक ओर माना जाता है भगवान् पुनर्वसु ने तो कहा है कि बस्ति को कायचिकित्सा का आधा भाग है तो सभी आचार्य कहते हैं, परन्तु कुछ आचार्य उसे समस्त चिकित्सा मानते हैं अर्थात् वस्ति प्रयोग से सभी रोगों की पूर्ण चिकित्सा हो सकती है ॥२३॥

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥२४॥

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और सिरावेध करने पर क्रोध, परिश्रम, मैथुन, दिन में सोना, बहुत बोलना, व्यायाम, सवारी करना, पढ़ना, बैठना, खड़े रहना, घूमना, शीतल वस्तुयें, वायु, धूप विरुद्ध असात्म्य-अजीर्ण भोजन, इनसे शरीर में बल आने तक बचा रहे। कोई आचार्य कहते हैं कि एक मास तक बचे। इनका विस्तार आतुरोपद्रव चिकित्सा में कहेंगे ॥२४॥

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥२५॥

दूषित रक्त को सिरामोक्षण, तुम्बी, जौंक या पाछना से निकाले। पूर्व-पूर्व प्रकार गंभीर देश के लिये बरतना चाहिये। अतिशय गम्भीर होने पर सिरावेध करे, सबसे गहराई होने पर पाछे।

वि० मन्तव्य—इसके लिये देखिये सु० सू० अ० १३ ॥२५॥

अवगाढे जलौका स्यात् प्रच्छनं पिण्डिते हितम्।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥२६॥

खूब गहरे भाग में दूषित हो (एक-स्थान पर हो) तो जौंक लगाये, रक्त स्थान पर पिण्डित रूप में हो तो पाछना चाहिये। दूषित रक्त अङ्ग में फैला हो तो सिरा वेध करे। त्वचा में दूषित रक्त हो तो सींग या अलाबु से निकाले।

चरक में—'भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः॥ यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा शिराम्॥ चरक० चि० अ० २१।६८॥

वि० मन्तव्य—खुनना या गोदना भी "प्रच्छन" ही है, इसे "पच्छ लगाना" कहते हैं। स्थानिक वेदना शान्ति के लिये यह अच्छा उपाय है॥२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शरीरस्थाने सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

नवमोऽध्यायः

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे धमनी व्याकरण शारीर की व्याख्या करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—धमनी का व्याकरण—विशेष आकार या विवरण इस अध्याय में किया गया है॥१,२॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः तत्र केचिदाहुः सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिरा विकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यात्, आगमाच्च केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति॥ ३॥

नाभि से उत्पन्न होनेवाली धमनियाँ चौबीस कही हैं। इस में कई कहते हैं कि सिरा, धमनी, स्रोत, इनका परस्पर कोई भेद नहीं है, धमनियाँ और स्रोत सिराओं के ही रूपान्तर हैं। यह बात ठीक नहीं है, धमनियाँ और स्रोत सिराओं से अलग ही हैं, क्योंकि—इनके लक्षण (आकृति, चिह्न) भिन्न हैं, इनके मूल भी भिन्न हैं, कर्म भी अलग हैं, शास्त्र में भी इनको पृथक् २ माना है। तथापि परस्पर में सम्बन्ध रहने से, शास्त्र में समान वचन मिलने से, साधारण कर्म के कारण, सूक्ष्मता के कारण, शिरा, स्रोत और धमनी के कार्य भिन्न होने पर भी ये सब एक से ही मालूम होते हैं।

वक्तव्य—"स्रोतांसि, सिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो, मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवाता संवृतानि स्थानानि आशयाः क्षया निकेताश्चेति शरीरं धात्ववकाशानां लक्ष्या लक्ष्याणां नामानि भवन्ति॥

(२) धमनाद् धमन्यः, सरणात् सिराः, स्रवणात् स्रोतांसि॥ चरक, (३) आकाश से दो सिरा-धमनी-स्रोत (इनकी सुषिरता) बनते हैं। यथा—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः" ॥३॥

वि० मन्तव्य—धमनी के सम्बन्ध में जैसा विवाद श्रीगणनाथ सेन (दे० प्रत्यक्षशारीरं), श्री हरिप्रपन्नजी (दे० रसयोगसागर का उपोद्घात), श्रीगङ्गाधर शास्त्री, तथा श्रीघाणेकर आदि सुप्रसिद्ध मनीषियों में आज चल रहा है वैसा ही श्री सुश्रुत के समय में भी चलरहा था, हम इस विवाद को विविध वाद मानते हैं, विरुद्ध वाद नहीं, परन्तु श्री गणनाथ सेन एवं गङ्गाधर शास्त्री आदि ने कुछ बहुत आगे बढ़कर लिख डाला है, उसका प्रतिवाद भी अनेक मनीषियों ने किया है। अस्तु, किसी शब्द या वाक्य आदि का अर्थ करने-लगाने—समझने की विधि भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार बतलाई है कि—तन्त्रकर्त्ता (शास्त्रकर्त्ता) के अभिप्राय को तथा तन्त्र युक्तियों को समझकर "अर्थ" प्रकृत अर्थ कहना चाहिये, अतः "धमनी" का अर्थ करने में शास्त्रकर्त्ता का अभिप्राय देखना बहुत आवश्यक है, तन्त्राध्येता को तन्त्रकर्त्ता की ही बुद्धि से अवगम करना (समझना) चाहिये। तभी सत्य अर्थ किया जा सकता है, दूसरे तन्त्र कर्त्ताओं की दृष्टि से देखना उचित नहीं और उससे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। देखें च०सू०अ०२६ श्लोक ३७। अर्थ भी दो प्रकार का होता है १—तात्त्विक या वास्तविक अर्थ और २—व्यावहारिक बोलचाल लेनदेन आदि विषयक अर्थ। यह दोनों ही अर्थ ठीक—बहुत ठीक या समीचीन होते हैं, यथा-पाञ्चभौतिक होने के नाते हरड़ एवं बहेड़ा में कोई भेद नहीं, परन्तु हरड़ हरड़ है और बहेड़ा बहेड़ा। तत्त्वतः—केचित् आहुः—के कथनानुसार सिरा, धमनी एवं स्रोतस् में कोई भेद नहीं है, कारण १—अनेक आचार्य ऐसा कहते हैं, यथा-ध्मानात् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः, ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः। चरक सू० अ० ३०। सिरा भी नाभिप्रभवा हैं और धमनी भी, सु०शा० अ० ६ सू० २ तथा सु० शा० अ० ७ श्लो० ४-५, धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ। शा० सं० आदि अनेक शास्त्र

वाक्यों के अनुसार रसवहन कर्म की समानता से सिरा धमनी एक ही वस्तु है। रहा ध्मान का भेद या प्रश्न—ध्मान वस्तुतः सिरा एवं स्रोतों में भी होता है, यद्यपि वह अस्फुट या अव्यक्त होता है। अन्यथा रस आदि का सञ्चार ही नहीं हो सकता, यदि वायु भी रस आदि को धकेलता है तो वह ध्मान हुए बिना आगे नहीं सरक सकता है। इसी सूत्र में स्वीकार किया गया है कि सिरा का विकार (कार्य-रूपान्तर में परिवर्त्तन) ही धमनी हैं, क्योंकि हृदय सिरामर्म है और उसी में नाभि से आनेवाली तथा शरीर से आनेवाली सिरा आती हैं और यहाँ से आगे चलनेवाली सिराओं में धमन अधिक स्फुट या व्यक्त हो जाता है। परन्तु वह भी रस का या रसमय रक्त का ही वहन करती हैं और वही आगे चलकर "बहुधा फलन्ति" (च० सू० अ०) बहुत प्रतानों के रूप में फलित हो जाती है—फैल जाती है, अतः स्रोत कही जाती है, रस का वहन यहाँ भी होता है। धमन भलेही अस्फुट हो जाता है। अतः वस्तुतः रस वहन की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। यह है तात्त्विक या वास्तविक अर्थ। आगे व्यावहारिक अर्थ सुनिये—इस प्रकार पूर्व पक्ष या अनेक महर्षियों के मत का प्रतिपादन करके भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं 'तत् तु न सम्यक्'—अर्थात् वह उल्लिखित मत ठीक तो है, परन्तु बहुत ठीक नहीं, कारण—जिनको हम इस अध्याय में धमनी एवं स्रोतस् नाम से लिखेंगे, वे धमनी एवं स्रोतस् सिराओं से भिन्न हैं, क्योंकि उनका जो लक्षण लिखेंगे वह भी सिराओं से भिन्न है, मूलतः भी भिन्न है, अर्थात् मूलतः सिरा ४० कही हैं, परन्तु धमनियाँ २४ मानी हैं, कर्म भी भिन्न हैं अर्थात् हम शब्द, स्पर्श, रूप रस एवं गंध का वहन तथा लेपाऽभ्यञ्ज आदि के वीर्य का वहन आदि कर्म धमनियों का मानेंगे। कहेंगे सिराओं का नहीं कहेंगे और हम आगम अर्थात् आप्तवचन का भी उदाहरण—प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं, यथा—आगम में अनेकत्र-ऐसे वचन मिलते हैं जहाँ एक ही वाक्य में—सिरा धमनी तथा स्रोतस् का नामोल्लेख किया गया है, यथा—मर्मसिरास्नायुधमनीः परिहरन् शस्त्रकर्म कुर्यात् तथा—सू० अ० ११ के पाठ २९ में क्षार कर्म का निषेध करते हुए—एक ही पाठ में सिरा और धमनी पढ़ा गया है। इन सब कारणों से हम सिरा से धमनी को पृथक् मानते हैं। यह सब व्यावहारिक अर्थ है, अतएव इसी सूत्र में "सदृशागमकर्मत्वात्" कहकर धन्वन्तरि भी स्वीकार करते हैं कि सिरा एवं धमनी को एक मानना कोई अनुचित नहीं है, क्योंकि आगम में अनेकत्र—सिरा एवं धमनी को पर्याय माना है और दोनों का कर्म (रस वहन) भी एक ही है। यथा—आकाशीय (खोखले सुषिर) अवकाशानां देहे नामानि देहिनां। सिरा स्रोतांसि, मार्गाः खं धमन्यः (डल्लन) और स्रोतांसि, सिरा, धमन्यो, रसायिन्यः, रसवाहिन्यो नाड्यः—आदि शब्द पर्यायवाचक हैं। च० वि० अ० ५। और आगे इसी अध्याय में स्रोतों का नाम निर्देश करते समय लिखा है 'एषु अधिकारः' (सू० १२) अर्थात् हम इन्हीं को स्रोत कहेंगे। यह शास्त्रसमय है। स्रोतस् का विचार उक्त सू० १२ में किया जायगा। किमधिकम्।

इस समस्त कथानक का तात्पर्य यह है कि—सिरा कहिये अथवा धमनी दोनों का उद्भव नाभि (गर्भ की नाभि अर्थात् धुन्नी और जात प्राणी की नाभि नामक मर्म अर्थात् अन्त्र) से हुआ है—आरम्भ वहीं से हुआ है और आगे चलकर सिरा ही हृदय रूप में परिणत हो गई हैं और हृदय से आगे सिरा ही धमनी रूप में परिणत हो गई हैं। अब उनमें केवल धमन स्फुट हो गया है, कर्म वही रसवाहन ही है। आगे चलकर सिरा ही अथवा धमन के भेद से धमनी ही स्रोतस् रूप में परिणत हो हो गई है, केवल स्रोतस् रूप में परिणत होने पर धमन अस्फुट हो गया है और आगे चलकर स्रोतस् ही सिरा रूप में परिणत हो गया है और जिस रस को लेकर सिरा—नाभि से चली थी, उसका समस्त शरीर में वितरण करके उसके द्वारा प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव का तर्पण करके बचे-खुचे रस को लेकर हृदय में आ पहुँचती है और इधर नाभि से रस को लानेवाली सिरा भी रस लेकर आ पहुँचती है और जितना रस-शरीर तर्पण में व्यय होता है उसकी पूर्ति हो जाती है, फिर पूर्ववत् हृदय से धमनी द्वारा रस चल पड़ता है। यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। यही सब कुछ—तत्र "रस गतौ" धातुः-अहरहः गच्छति इत्यतो रसः, तथा तत्र एतेषां धातूनां अन्नपानरसः प्रीणयिता (सु० सू० अ० १४ सू० १३-११) आदि वाक्यों का तात्पर्य है। कोई कुछ भी कहे, परन्तु अग्निवेष का सहाध्यायी भेल-सिराओं के घूम फिरकर पुनः हृदय में पहुँचने की कथा को जानता था-यथा-हृदो रसो निःसरति तत एव च सर्वतः। सिराभिः हृदयं च एति तस्मात् हृत्प्रभवाः सिराः॥ (भेल संहिता) अर्थात्—हृदय से रस निकलता है और सब ओर घूम फिर कर सिराओं द्वारा हृदय में आ जाता है, इसलिये—केवल इस कर्म को देखकर सिरा को "हृदयप्रभवा"—हृदय से—उद्भूत होनेवाली कहा जाता है। वैसे तो मूलतः सिरा नाभिप्रभवा ही हैं। पाठकों से

निवेदन है कि इस सन्दर्भ को समझने के लिये–सु० सू० अ० १४ का अध्ययन अवश्य करें। संक्षेपतः-सिरा में जहाँ धमन होता है वहाँ उसका नाम धमनी हो जाता है। ४० एवं २४ का विचार-स्यात्-नाभि से उद्भूत ४० सिराओं में १६ सिरा रसायनी हैं, जो रस को लेकर शरीर का तर्पण करती हैं और २४ वे हैं जो हृदय की ओर आकर रक्त को लेकर शरीर का तर्पण करती हैं ॥३॥

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥४॥

नाभि से उत्पन्न होनेवाली इन दस धमनियों में दस ऊपर को दस नीचे को, और चार तिरछी जाती हैं ॥४॥

ऊर्ध्वगाः शब्दरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिन्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥५॥

ऊपर को जानेवाली धमनियाँ—शब्द, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हंसना, बोलना, रोना इत्यादि को वहन करतीं हुई शरीर को धारण करती हैं। ये धमनियाँ हृदय में पहुँचकर तीन भागों में विभक्त होकर तीस बन जाती हैं। इनमें से बात, पित्त, कफ, रक्त आदि रस को दो दो वहन करती हैं, इस प्रकार ये दस होती हैं। आठ धमनियाँ शब्द, रूप, रस और गन्ध का वहन करती हैं। दो धमनियों से बोला जाता है। दो धमनियों से घोष (अव्यक्त शब्द) होता है। दो से सोया जाता है। दो से जागा जाता है। दो से आंसुओं का वहन करती हैं। दो स्त्री के स्तनों में रहती हुई दूध का वहन करती हैं। वे ही दो धमनियाँ पुरुषों के स्तन में से शुक्र का वहन करती हैं। इस प्रकार से तीस धमनियों का व्याख्यान कर दिया। इन्हीं से नाभि के ऊपर उदर, पार्श्व, पीठ, उर, स्कन्ध, ग्रीवा और बाहु का धारण और पोषण होता है।

वि० मन्तव्य—ऊर्ध्वगा धमनियाँ–शब्द, रूप, रस एवं गन्ध नामक चार ही विषयों का अभिवहन करती हैं और स्पर्श का अभिवहन तिर्यग्गा धमनियाँ करती हैं (दे०सू०९)। भाषते और घोषते-भाष व्यक्तायां वाचि (भ्वादिगण) अर्थात् व्यक्त-इकारादि व्यंजन युक्त वाणी का उच्चारण करता है और घोषते–घुषिर् शब्दे (चुरादिगण) अर्थात् शब्द–अकारादि स्वरों का उच्चारण करता है। पाठक स्वयं अनुभव करें कि बोलने और चिल्लाने में नाभि पर बल-जोर पड़ता है कि नहीं। यदि पड़ता है तो समझिये कि धमनी नाभिप्रभवा है कि नहीं। जिन दो धमनियों के द्वारा भाषते-बोलता है वे वागिन्द्रिय का और जिन दो धमनियों द्वारा घोषते-पोषण करता है वे कण्ठगत स्वरवह अवयव का धारण एवं यापन करती हैं। यह वे हैं जिनका वर्णन अ० ६ सूत्र २७ में किया गया है। जिनके आघात से मूकता एवं स्वर वैकृत हो जाता है और अ० ७ में—"वाग्वहे च द्वे" कहकर जिनको अवेध्य माना है। इसी प्रकार शब्द आदि का वहन करनेवाली धमनियों को अ० ६ तथा अ० ७ में देखकर समझने का प्रयत्न किया जाय। सोना जागना भी धमनियों के द्वारा होता है, जब मनस एवं इन्द्रियाँ क्लान्त हो जाती हैं—थक जाती हैं, फलतः विषय ग्रहण से निवृत्त होती हैं तब मानव सोता है (च० सू० अ० २१)। शब्द आदि विषयों का वहन धमनियाँ करती हैं, थक जाने पर वहन करना छोड़ देती हैं, फलतः निद्रा आ जाती है। धार्यन्ते और याप्यन्ते—इनके द्वारा धारण होता है—जीवन की स्थिति बनी रहती है, और रस का भी वहन करती है, अतः भरणपोषण भी होता है और यापन अवयवों का सञ्चालन भी होता है। अतएव पक्षाघात में–"अधोगमा, तिर्यग्गमा तथा उर्ध्वदेहगा धमनी" का उल्लेख किया है (दे० नि० अ० १ श्लो० ६०)। धमनियों की विकृति से अवयवों का सञ्चालन घट जाता है—रुक जाता है ॥५॥

भवति चात्र—

ऊर्ध्वगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।

इसमें श्लोक भी है—ऊपर को जानेवाली धमनियाँ इस प्रकार से इन सब कार्यों को करती हैं।

अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥६॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां च रसस्थानं चाभिपूरयन्ति मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति, आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्, तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे अष्टावन्यास्तिर्यग्गामिनीनां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभि-

रधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥७॥

नीचे की तरफ जानेवाली धमनियों के कार्यों को ठीक प्रकार से कहता हूँ। अधोगामी धमनियाँ वायु (अपना वायु), मूत्र, मल, शुक्र, आर्त्तव, को नीचे की ओर वहन करती हैं। ये पित्ताशय में पहुँचकर अग्नि की उष्णिमा से भली प्रकार परिपाक हुए अन्नरस और जलीय रसों का विवेचन और वहन करती हुई शरीर का पोषण करती हैं। ऊर्ध्वगत और तिर्य्यग्गत धमनियों को रस पहुँचाती हैं और रस स्थान (हृदय) को रस से भरती हैं। मूत्र, मल, स्वेद का अलग-अलग विभाग करती हैं। इन धमनियों के आमाशय और पक्वाशय के बीच में तीन विभाग होते हैं। इस प्रकार से ये तीस हो जाती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रस और रक्त को दो दो धमनियाँ वहन करती हैं। इस प्रकार दस धमनियाँ हुई। अंत्रों का आश्रय करके अन्न को ले जानेवाली दो, जल का वहन करनेवाली दो, मूत्राशय में मूत्र को ले जानेवाली दो, शुक्र की उत्पत्तिकरने के लिये शक्र को ले जानेवाली दो, शुक्र को बाहर निकालने के लिये दो। ये ही दो धमनियाँ स्त्रियों में आर्त्तव का वहन करती हैं और विसर्ग करती हैं। स्थूलांत्र से सम्बद्ध दो धमनियाँ मल को निकालती हैं। शेष आठ धमनियाँ तिर्यक् जानेवाली धमनियों को स्वेद पहुँचाती हैं। इस प्रकार से तीस धमनियों का व्याख्यान कर दिया। अधोगामी धमनियाँ उपर्युक्त इन सब कार्यों को करती हैं।

वि० मन्तव्य—अधोगमा धमनियों के सम्बन्ध में—आपाततः यह नहीं समझना चाहिये कि मूत्र एवं पुरीष आदि धमनियों में से होकर निकलते हैं, अपितु यह समझना चाहिये कि ये धमनियाँ उन अवयवों का धारण एवं यापन करती हैं, जिनके द्वारा उक्त कार्य होते हैं। पित्ताशय—पित्त-पाचक पित्त का आशय अर्थात् कार्य करने का आशय अर्थात् अन्त्र। अन्त्र से अन्नपान के विपक्व रस को विवेचयन्त्यः अर्थात् अन्नपान में से पृथक् करके उसका वहन करती हुई शरीर का तर्पण करती हैं। मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति—अर्थात्-मलाशय में पहुँचे रसहीन अन्नपान = मलद्रव में से मूत्र एवं स्वेद अर्थात् मलद्रव के जलीयांश को पृथक् करती हैं। आगे चलकर यह जलीयांश उक्त रस में ही मिश्रित हो जाता है और रस, रक्त में और वृक्कों में जाकर रक्त से पृथक् होकर मूत्र रूप में परिणत हो जाता है और तिर्यग्गा धमनियों में पहुँच जाता है वह स्वेद रूप में परिणत हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्नपान का लवण-अधिकांश इसी जलीयांश के साथ शरीर में पहुँचता है। अतः एवं च मूत्र स्वेद में समान रूप से लवण रस पाया जाता है। द्वे अन्नवाहिन्यौ अन्त्राश्रिते—ये वे धमनियाँ हैं, जिनके द्वारा अन्त्र में गति होती है और जिनकी विकृति से अन्त्र की गति में रुकावट होने लगती है अथवा अवरोध हो जाता है रुकावट होने से अन्नपान विलम्ब से सरकता है, परन्तु पाचन में कोई न्यूनता नहीं आती है, अवरोध होने से आनाह नामक रोग हो जाता है, जिसमें अन्नपान वहीं का वहीं पड़ा रहता है—सरकता ही नहीं, इन दोनों दशाओं में भी रस का विवेचन करनेवाली धमनियाँ क्रियाशील रहती हैं। योगवहे द्वे—ये वे धमनियाँ हैं, जिनकी विकृति से तृषा उत्पन्न होती है—तृषा रोग संक्षेपतः—दो प्रकार का देखा जाता है १—वह जिसमें जितना जल दिया जाता है वह विलीन होता रहता है और २—वह जिसमें आमाशय में जल भरा रहता है—पर शोष है, मुख शोष आदि होते रहते हैं। इसे सु० उ० अ० ४८ के श्लो० ८ में "स्रोतोनिरोधो" कहकर सूचित किया गया है। मूत्रवहे द्वे—ये मूत्रवह स्रोतों का धारण एवं यापन करती हैं। शुक्रवहे द्वे—जो अण्डकोश का और द्वे विसर्गाय-शुक्रवाही स्रोतों का धारण एवं यापन करती हैं। और ये शुक्र के साथ २ नारियों के आर्त्तव का उत्पादन एवं विसर्जन करती हैं अर्थात् उन अवयवों का जहाँ शुक्र एवं आर्त्तव का निर्माण होता है और जिनके द्वारा विसर्जन होता है धारण एवं यापन करती हैं। स्थूलान्त्र (मलाशय) में सम्बद्ध वे दो धमनियाँ—जिनके धमन से पुरीष का निरसन-बहिर्निर्गम होता है, यदि ये निष्क्रिय हो जाती हैं तो पुरीष निकलता ही नहीं, वस्ति द्वारा दी गयी औषध भी लौटकर नहीं आती। स्थूलान्त्र में आठ धमनियाँ और हैं जो तिर्यग्गमा धमनियों को स्वेद-नलद्रव में से जलीयांश का समर्पण प्रदान करती हैं। उक्त कार्यों के अतिरिक्त वे—पक्वाशय आदि का धारण एवं यापन करती हैं, तत्स्थानपि-गर्भाशय का भी धारण यापन करती हैं। पाठक एक सचाई पर ध्यान दें—ऊर्ध्वगा धमनियाँ हृदय में जाकर ३० हो जाती हैं। उनमें से १०-वात, पित्त, कफ, शोणित तथा रस का वहन करती हैं और अधोगमा धमनियाँ आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य (अन्त्र या नाभिमर्म) में उत्पन्न होती हैं और उनमें से १० धमनियाँ-वात, पित्त, कफ, शोणित एवं रस का वहन करती हैं। पित्ताशय—(पित्त के कार्य का स्थान—अन्त्र-नाभि नामक मर्म ग्रहणी) से अन्नपान रस को लेकर समस्त शरीर का तर्पण करती हैं और रसस्थान—हृदय का अभिपूरण करती हैं। तात्पर्य यह है कि नाभि से उत्पन्न (नाभिप्रभवा) धमनी हैं, वे ही हृदय में रस पहुँचाती हैं। हृदय से उनमें ध्मान स्फुट हो जाता है यही एकमात्र कारण है जो सिरा को ही धमनी कहने-कहलाने के लिये प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखकों को बाध्य करता है॥६,७॥

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।
तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥८॥

तिर्यग्गाणां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते, तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः ॥९॥

तिर्यग्गत धमनियों को और इनके कार्यों को कहता हूँ—चार तिर्यग्गत धमनियों में प्रत्येक धमनी उत्तरोत्तर सैकड़ों और हजारों विभागों में विभक्त होती है । इस प्रकार से इनके विभाग असंख्येय हो जाते हैं । इन धमनियों से यह शरीर गवाक्षित (झरोखों के रूप में जाल के समान) के रूप में बँधा हुआ एवं फैला रहता है । इन धमनियों के मुख रोमकूपों से मिले रहते हैं । इनके मुखों के द्वारा पसीने का वहन होता है, ये रस द्वारा, अन्दर और बाहर तर्पण करती हैं । इनके मुखों से त्वचा पर किया अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन, आलेपन, आदि का वीर्य शरीर के अन्दर पहुँचता है । इन्हीं के द्वारा सुखकर और असुखकर स्पर्श ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सारे शरीर में फैली ये चार धमनियाँ विभाग के साथ कह दी हैं ।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च ।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥१०॥

जिस प्रकार कमलनाल और बिस में स्वभाव से स्रोत रहते हैं, उसी प्रकार धमनियों में छिद्र होते हैं, जिनसे रस का ग्रहण ये करती हैं । (मृणाल जिस प्रकार छेदों से रस खींचते हैं, उसी प्रकार धमनियाँ रस को ग्रहण करती हैं) ॥१०॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥११॥

पंचाभिभूताः (पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुई धमनियाँ) पञ्चेन्द्रिय (पाँच इन्द्रियोंवाले कर्म पुरुष को) पंचसु (कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, नेत्र इनके अधिष्ठानों में), पंचकृत्वः (पर्य्यायक्रम से पांचबार) भावयन्ति (नियुक्त करती हैं)। पंचेन्द्रियं (सूक्ष्मरूप इन्द्रिय पंचक को) पञ्चसु (आकशादि पंच महाभूतों में), भावयित्वा (नियुक्त करके) विनाशकाले (नाश होने के समय में) पञ्चत्वं (नाश को), आयान्ति (प्राप्त होती हैं) ।

वक्तव्य—इस प्रकार से ये धमनियां पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से उत्पन्न होकर प्राणियों को कान नेत्र आदि में पाँच बार लगाती हैं । प्राणियों के नाश होते समय ये धमनियाँ सूक्ष्म शरीर को पंचमहाभूतों में समाप्त करती हुई स्वयं नष्ट हो जाती हैं । ज्ञान अलग-अलग होता है, इसलिये पंचवारान् शब्द कहा है । क्योंकि ज्ञान में मन का संयोग इन्द्रियों के साथ अवश्य है । मन एक है—अणुत्वमथ एकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ—एक समय में मन एकही इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो सकता है, इसलिये पंचवारान् कहा है ।

वि० मन्तव्य—पञ्चत्वं आयान्ति विनाशकाले—विनाश काल-मृत्यु काल में-पञ्चत्व-पञ्चभूतावशेषत्व को प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् धमनियों का स्वरूप केवल पञ्चमहाभूतमय रह जाता है और उनका ध्मान ही जीवन है-जिस क्षण में गर्भाधान होता है उसी क्षण में—स्फुरणं च योनेः (सु० शा० अ० ३-१३) गर्भाशय में जो स्फुरण होता है वही आगे चलकर ध्मान कहलाता है और वह जीवन भर सदा सर्वदा होता रहता है और जब वह ध्मान रुक जाता है तब मृत्यु हो जाती है, जीवन की यही कहानी है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः एकेषां बहूनि, एतेषां विशेषा बहवः । तत्र प्राणवहे द्वे; तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याक्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति; अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च, उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च, रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं, तल्लिङ्गानि च, रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः यत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च, मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च, मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च, मूत्रवहे द्वे, बस्तिर्मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च, पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च, शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च, आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तव-

वाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च, सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति। स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्, उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत्॥१२॥

इसके आगे स्रोतों के मूल में विद्ध होने से उत्पन्न लक्षणों को कहेंगे-ये स्रोत प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, मलवह शुक्रवह, आर्त्तववह हैं, इन्हीं स्रोतों का (योगवाही) शल्य तंत्र में वर्णन है। एक स्रोत के बहुत से भेद हैं, इनके फिर बहुत से भेद होते हैं। इनमें प्राणवह स्रोत दो हैं:—इनका मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने से चिल्लाना, झुकना, मूर्च्छा, चक्कर आना, कम्पन अथवा मृत्यु भी हो जाती है। अन्नवह स्रोत दो हैं। उनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी हैं। इनका वेधन होने पर आध्मान, शूल, अन्न में द्वेष, वमन, प्यास, अन्धापन और मृत्यु होती है। उदक वह स्रोत दो हैं, इनका मूल तालु और क्लोम है। इनका वेधन होने पर प्यास, और तुरन्त मृत्यु होती है। रसवह दो स्रोत हैं, इनका मूल हृदय और रसवाहिनियाँ हैं। इनका वेधन होने पर शोष, प्रणवहा स्रोतों के विद्ध होने पर होनेवाले लक्षण और मृत्यु होती है। रक्तवह स्रोत दो हैं, इनका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। इनका वेध होने पर अंगों में श्यावता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, रक्त का आना और आंखों में सुर्खी होती है। मांसवह स्रोत दो हैं—इनका मूल स्नायु-त्वचा और रक्तवहा धमनियाँ हैं। इनका वेधन होने पर शाथ, मांस शोष, शिराओं में गांठें और मृत्यु होती है। मेदोवह स्रोत दो हैं—इनका मूल कटी और दो वृक्क हैं। इनमें वेधन होने से पसीने का आना, अंगों में स्निग्धता, तालु शोष, मोटी (गहरी) सूजन और प्यास होती है। मूत्रवह स्रोत दो हैं, इनका मूल वस्ति और मेहन हैं, इनके विद्ध होने से वस्ति में फूलाव, मूत्र का अवरोध और मेहन में स्तब्धता होती है। पुरीषवह स्रोत दो हैं, इनका मूल पक्वाशय और गुदा है। इनमें वेधन होने से आनाह, दुर्गन्धता, आँतों में गाँठ पड़ना होता है। शुक्रवह स्रोत दो हैं, इनका मूल स्तन और दोनों वृषण हैं, इनके विद्ध होने पर नपुंसकता, शुक्र का देर में क्षरण, और शुक्र के साथ रक्त आना होता है। आर्त्तववह स्रोत दो हैं—इनका मूल आर्त्तववहा धमनियाँ और गर्भाशय है। इनका वेधन होने पर वन्ध्यापन, मैथुन की असहिष्णुता, आर्त्तव नाश होता है। सेवनी के कटने से वेदना उत्पन्न होती है। वस्ति, गुदा के विद्ध होने पर होनेवाले लक्षण पहले कह दिये हैं। स्रोतों के विद्ध होने पर असाध्य कहकर चिकित्सा करे। स्रोतों में से शल्य निकालकर क्षतविधि से चिकित्सा करनी चाहिये[१]।

वक्तव्य—सुश्रुत ने ये ग्यारह (दो के योग से बाईस) योगवाही स्रोत कहे हैं। चरक में–स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि। स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। तद्यथा प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहा. नीति, वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां स्रोतांस्ययनभूतानि॥

अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोरपि। विमार्गगमनं वाऽपि स्रोतसां दुष्टि लक्षणम्॥ आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः। धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः॥ चरक विमा० अ० ५-३१-३२॥

वि० मन्तव्य—स्रोतस्—स्रु गतौ धातु (भ्वादि गणीय) से स्रोतस् शब्द निष्पन्न है, अर्थ है जिसमें से गति हो। प्राण अन्न एवं उदक आदि की गति जिनमें से होती है उनका ही नाम 'स्रोतस' है। यह अर्थ इसी प्रकरण को ध्यान में रखकर किया गया है, क्योंकि इस प्रकरण में यही ११ स्रोतस् माने जाते है। भले ही अनेक आचार्य-बहुत असंख्येय स्रोतस् मानते हैं-यथा पुरुष में (नर नारी के शरीर में) जितने भी मूर्तिमान् भाव विशेष हैं उतने ही इसमें स्रोतों के प्रकार विशेष हैं, क्योंकि सभी भाव स्रोतों के बिना न उत्पन्न होते हैं और न क्षय को प्राप्त होते हैं, सच यह है कि—स्रोतस्—परिणाम-परिपाक (कारण से कार्य रूप में परिणत होने के लिये क्रियाशील धातुओं का अभिवहन करनेवाले) हैं, केवल मार्ग के अर्थ में अर्थात् जब रस रक्त रूप में परिणत होना चाहता है, तब स्रोतस् नामक मार्ग से वहाँ पहुँचता है जहाँ वह रक्त रूप में परिणत हो सकता है। कुछ आचार्य तो स्रोतों के समुदाय को ही पुरुष मानते हैं, क्योंकि स्रोतस् सर्व शरीरव्यापी हैं और दोषों को प्रकुपित तथा प्रशान्त करनेवाले भावशरीर में सर्वत्र गति शील देखे जाते हैं, परन्तु उनका यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि–ये स्रोतस् जिसके (जिस शरीर के) हैं और जिसका वहन (ले जाना) तथा आवहन (लेआना) करते हैं, वह सब उन स्रोतों से भिन्न है। पाठक इस सन्दर्भ को एक उदाहरण से समझें—किसी ने कहा कि नगर गलियों का ही समुदाय है। यद्यपि यह कहना झूठ नहीं है,

१ क्लोम से फैरिंक्स (pharynx) लेना चाहिये। गर्भावस्था में मुख के स्थान पर एक गह्वर रहता है जिसे कोईलम (coelom) और स्टोमेडियम (stomodeum) कहते हैं। ये दोनों पीछे एक छिकल्ली से अलग हो जाते हैं। क्लोम और कोईलम आपस में प्रायः मिलते हैं।

तथापि सम्यक् भी नहीं है, क्योंकि जिन भवनों के कारण गलियाँ बनी हैं और, गलियों के मार्ग से जो वस्तुओं का ले जाना और ले आना होता है वह सब गलियों से भिन्न है। दोनों ओर भवन बन जाने से गली कही जाती है। वस्तुतः भवनों के समुदाय का नाम नगर है। इस सबका तात्पर्य यह है कि उन मार्गों का नाम स्रोतस् है जिनके द्वारा शरीर गत द्रव्यों का एक स्थान से दूसरे स्थानों से आना-जाना होता है। मूल-विद्ध—शल्य तन्त्र की दृष्टि से यहाँ विद्ध अर्थात्—वेध होने से उत्पन्न लक्षण कहने की प्रतिज्ञा की गई है, परन्तु वेध के अतिरिक्त वातादि दोषों द्वारा प्रदुष्ट होने से भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। तदर्थ च० वि० अ० ५ देखिये ॥ १२ ॥

भवति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ १३ ॥

इसमें श्लोक भी है—शरीर में मूल छेद से आरम्भ हुए, रसको ले जानेवाले अन्तर (छिद्र या अवकाश को स्रोत जानना चाहिये ॥ १३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे गर्भिणी व्याकरण शारीर की व्याख्या करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयशस्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि सेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत् शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विदध्यात् हृद्यं द्रवमधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्। सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ ३ ॥

गर्भवती स्त्री प्रथम दिन से ही लेकर सभी दिनों में नित्य प्रसन्न मनवाली, पवित्र, अलंकारों को धारण किये, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाली, शान्तिपरायण, मंगलकारी, (स्वस्ति वाचन पढ़नेवाली), देवता, ब्राह्मण, गुरु की सेवा (पूजा) करनेवाली हो। मलिन, विकृत या हीनांगों का स्पर्श न करे। दुर्गन्ध एवं बुरे दृश्यों का त्याग करे। बेचैनी उत्पन्न करनेवाली कथायें न सुने। शुष्क, बासी, सड़े गले अन्न को न खाये। घर से बाहर निकलना, सूने घर में जाना, चैत्य, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहना छोड़ दे। क्रोध एवं भय तथा निन्दित पदार्थों को, ऊँचे से बोलना आदि को और जिन कारणों से गर्भ को नुकसान पहुँचाता है, उनको छोड़ देवे। बार २ तैल का अभ्यङ्ग और उत्सादन (उबटन) लगाना छोड़ देवे। शरीर से मेहनत न करे और गर्भावक्रान्ति में कहे अपथ्यों को छोड़ देवे। शय्या, एवं आसन कोमल, बिछे हुये, बहुत ऊँचे नहीं होने चाहिये। इनमें सहारा—आश्रय रहना चाहिये, ये पीड़ा कारक या तङ्ग छोटे न हों। मन के लिये प्रिय, द्रव, मधुर रस की अधिकतावाले, स्निग्ध, अग्निवर्धक दीपनीय द्रव्यों से संस्कृत भोजन को खाये। प्रसूति होने तक के लिये यह साधारण नियम है।

वक्तव्य—सौमनस्यं गर्भधारकाणां श्रेष्ठतमः। चरक। अपाश्रयोपेतम्—चँदोआ लगाया (जयदेव)। अपाश्रयचन्द्रातपश्चेति पर्य्यायौ-हाराणचन्द्रः। अपाश्रयोपेतं—प्रतिवाहकसहितमिति डल्हणः।

वि० मन्तव्य—यानि च गर्भं व्यापादयन्ति—जो आहार-विहार तथा औषध गर्भ का व्यापादन-(विकृत करना) तथा व्यवाय, व्यायाम आदि (दे० शा० अ० ३-१६) और च० शा० अ० ८ सू० ३१ और ३२। चैत्य—देवताधिष्ठित वृक्ष—ग्रामवासियों के विश्वासानुसार जिस देवता का निवास माना जाता है, अथवा बौद्धविहार या संन्यासियों का आश्रय। अयशस्कर भाव-जिन कार्यों से अपयश हो। अपाश्रयोपेत-शयन-शय्या तथा आसन-पीढ़ा-गद्दी आदि पर सिरहाना-तकिया आदि आश्रय-पीठ की ओर सहारा देनेवाला हो। असम्बाध-जिस पर कर्वट-पार्श्वपरिवर्त्तन, पाद प्रसारण आदि में बाधा न हो ॥ ३ ॥

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत; विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्, चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषेत्येके; चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं च भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः, अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैलवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः ततः पयोमधुरकषाय-

सिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥ ४ ॥

विशेष करके गर्भवती प्रथम द्वितीय तृतीय महीनों में मधुर शीत-द्रव बहुल आहार का सेवन करे। विशेष करके तीसरे महीने में साठी के भात को दूध से खाये। चौथे महीने में दही से, पाँचवें में दूध से और छठे में घी से खाये ऐसा कई कहते हैं। चौथे महीने में दूध और मक्खन मिला भोजन करे, और जांगल मांस के साथ मन के लिये प्रिय अन्न खाये। पाँचवें में दूध से निकाले घी से मिलाकर (या दूध और घी से) खाये। छठे महीने में गोखरु से सिद्ध किया घी मात्रा से पिलाये। सातवें में विदारिगन्धादि से सिद्ध किया घी मात्रा से पिलावे। इस प्रकार करने से गर्भ पुष्ट होता है। आठवें में बैरों के पत्तों के पानी में बला, अतिबला, सौंफ, तिलकल्क, दूध, दही, मस्तु, तैल, लवण, मैनफल, मधु, घी मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। जिससे पुरातन मल का शोधन हो जाये और वायु का अनुलोमन हो। फिर दूध और वायु काकोल्यादि मधुर गण से सिद्ध तैल से अनुवासन दे। वायु का अनुलोमन होने पर सुख पूर्वक प्रसव होता है और कोई उपद्रव नहीं होता। इसके आगे स्निग्ध यवागू से एवं जांगल मांस रस से प्रसव काल आने तक भोजन देता रहे। इस प्रकार परिचर्या करनेपर स्निग्ध, बलवान्, उपद्रव रहित रहते हुए सुख पूर्वक प्रसव करती है।

वक्तव्य—छठे या सातवें मास में प्रायः मूल में एल्ब्युमिन आता है। इस बात का यह चिह्न है शरीर में विष की अधिकता है, इससे पैरों पर तथा मुख में सूजन आ जाती है। इसीलिये इस समय मूत्रल और विष नाशक उपचार बताया है। गोखरू मूत्रल है। और घृत विषनाशक है, यथा—'वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्" चरक। विषकी अवस्था में घृत पान कराते हैं—"दातव्यं सर्वरोगेषु (विषेषु) घृताशिनी हिताशिनी।"

चरक में—"अतश्चैवास्याः तैलपिचुं योनौ प्रणयेत् गर्भस्थापनमार्गस्नेहनार्थम् ॥" इस विधि को बरतने पर प्रसव के समय होनेवाला योनिदारण नहीं होता ॥ ४ ॥

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ते तिथ्यादौ। तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वागारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कं समुपलिप्तभित्ति सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥ ५ ॥

नवम मास लगने पर गर्भवती को सूतिका घर में प्रशस्त तिथि आदि का विचारकर ले जाये। सूतिका घर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये क्रमशः श्वेत, लाल, पीली एवं काली भूमि पर-बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे का लकड़ी से बने घर में तथा इन्हीं की लकड़ियों से बने पलंग से युक्त, अच्छी प्रकार लिपी पोती दिवारोंवाले, सब साधन अलग २ स्थान पर भले प्रकार से जहाँ रक्खे हों, पूर्वकी ओर या दक्षिण की ओर द्वार वाले, आठ हाथ लम्बे और चार हाथ चौड़े, रक्षाकारक वस्तुओं से (सरसों, अजवायन आदि युक्त) तथा मङ्गलकारी वस्तुओं (मधु-लाजा आदि) से युक्त घर में ले जाये।

वक्तव्य—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते भगवति शशिनि, कल्याणकरे मैत्रे मुहूर्त्ते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यः तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानि इष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य स्वस्ति वाचयेत्। पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्त्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकाऽऽगारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं परीक्षेत ॥ चरक शा० अ० ८-३७ ॥ ५ ॥

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्त हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ ६ ॥

कुक्षि के शिथिल होने पर, हृदयबन्धन के छूट जाने पर, जघन में दर्द होने पर समझना चाहिये कि स्त्री प्रसव करनेवाली है।

वि० मन्तव्य—यह प्रसव का लक्षण है, इसके पूर्व सू० ४ के अनुसार आस्थापन एवं अनुवासन का प्रयोग करके कोष्ठशुद्धि अवश्य कर देनी चाहिये ॥ ६ ॥

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥

प्रसव के उपस्थित होने पर कटि एवं पीठ भाग के चारों ओर दर्द होता है, मल आता है, और मूत्र बार-बार प्रवाहित होता है, योनिमुख से श्लेष्मा आती है। (भवति, मूत्रमभीक्ष्णं प्रसिच्यते, यह पाठ ठीक है)।

वक्तव्य—"तस्य स्तु खल्विमानि लिंगानि प्रजननकालमभितो भवन्ति। तद्यथा-क्लमो गात्राणां ग्लानिराननस्याक्ष्णोः शैथिल्यं विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः कुक्षेरवस्रंसनमधोगुरुत्वं, वंक्षणबस्तिकटिकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदो, यानेः प्रस्रवणमनन्नाभिलाषश्च ॥" चरक शा० अ० ८-३८ ॥ ये लक्षण आसन्नप्रसवा के हैं।

प्रसव की तीन अवस्थायें हैं, प्रथमावस्था—ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। द्वितीयावस्था

गर्भनाडीप्रबन्धमुक्तिः (२) श्रोणिवंक्षणवस्तिशिरःसु शूलं, स यदा विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति । बस्तिशिरोऽवगच्छति । आवीनां त्वरणम् । गर्भस्य परिवर्त्तनम् । योनिमुखप्रपत्तिः विलशयाभावश्च । इति तृतीयावस्था । यदा च प्रजाता स्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्याः अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्ना चेति ॥ चरक० शा० अ० ८ ॥

वि० मन्तव्य—प्रसव वेदना का नाम 'आवी' है, यह प्रवाहिका की वेदना के समान वेगवती वेदना होती है। कहा जाता है कि यह गर्भाशय की ऐंठन या पीड़न से उत्पन्न होती है या उसकी सूचक है और इसके साथ ही गर्भोदक का बड़े वेग के साथ प्रसेचन—निःसरण होता है—चरक के शब्दों में—ततोऽन्तरम् आवीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य (च० शा० अ० ८ ३८)। गर्भवती का जितना बड़ा उदर होता है उतना ही बड़ा गर्भ नहीं होता, अपितु गर्भाशय में गर्भोदक भरा रहता है, जिसमें गर्भ तैरता रहता है। इसका प्रसेचन हो जाने पर भी आवियाँ चालू रहती हैं। प्रथम द्वितीय आवियों के प्रभाव से गर्भोदक तो निकल ही जाता है। अब आवी का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है—जैसे पके आम को दबाने से (पीड़न से) प्रथम रस निकलता है और फिर दबाने से गुठली पर दबाव पड़ता है, वैसे ही गर्भ पर दबाव पड़ने से गर्भ—आम की गुठली के समान बाहर निकलने के लिये बाध्य होता है। अभीक्ष्णं........च—गर्भ का दबाव मलाशय पर पड़ने से पुरीष की और बस्ति पर पड़ने से मूत्र की बार २ प्रवृत्ति होती है और प्रकृति की विलक्षण महिमा है कि गर्भाशय के मुख से श्लेष्मा—लसीला द्रव पसीजने लगता है, जिससे गर्भ फिसलकर अपत्यपथ में से सुखपूर्वक बाहर आ जाय। आवी के दबाव से गर्भाशय का मुख खुल जाता है ॥७॥

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्, ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशला कर्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥८॥

प्रसव काल समीप आया जानकर शरीर पर अभ्यंग करके, गरम जल से स्नान करे। फिर शान्ति पाठ और स्वस्ति वाचन पढ़कर बालक और बालिकाओं से वेष्टित होकर पुन्नामफल हाथ में लेवे। फिर घी के साथ यवागू को पेट भर के पिलाये, फिर विस्तीर्ण और कोमल शय्या पर तकिया लगाकर पीठ के भार चित्त लेट करके पैरों को तानकर बैठे, और जिनसे किसी प्रकार का संकोच न हो, वृद्धा एवं प्रसूति करने में कुशल, नख को कटाई हुई चार स्त्रियाँ इसकी सेवा में रहें॥

वक्तव्य—आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यात् मृद्वास्तरणोपपन्नम्। तदध्यासीत सततस्तां ताः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्तो वाग्भिर्ग्राहिणीभिः सान्त्वनीयाभिः। च० शा० अ० ८-३६।

स्त्रियों के गुण—स्त्रियश्च बहुशः प्रजाता सौहार्दयुक्ताः सदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलाः त्यक्तविषादाः क्लेशसहिष्णवोऽभिमताः ॥ चरक० ॥

वि० मन्तव्य—प्रसव एक बहुत बड़ा काण्ड है। इस समय भगवान् ही रक्षा करता है, आवी एक प्रकार की दुःसह वेदना होती है। अनेक सुकुमारियाँ मूर्छित हो जाती हैं और अनेक मृत भी। अतः माङ्गलिक—कल्याण कारक कर्म और स्वस्ति वाचन (सुख हो भला हो कहलाना) और छोटे २ बच्चों का और उनका खेलना कूदना आदि और गर्भिणी के हाथ में फल आदि देना आवश्यक होता है। अतः एव अभ्यङ्ग तथा उष्णोदक से स्नान एवं प्राण रक्षार्थ यवागूपान भी आवश्यक होता है। ततः.....रिति - आवी के प्रारम्भिक वेगों के समय जब तक पुरीष, मूत्र एवं गर्भोदक की प्रवृत्ति होती रहे तब तक भूमि पर ही लेटना उचित होता है। इसके पश्चात् कोमल एवं विस्तीर्ण शय्या पर लेटाना और प्रसवोपचार करना चाहिये। कर्त्तितनखाः—अपत्यपथ के भीतर हाथ डालने की आवश्यकता पड़ सकती है, अतः प्रसव करानेवाली के पहिले ही नख काट देना अच्छा है। इस अवस्था में प्रायः प्रसव हो ही जाता है, परन्तु यदि न हो तो—॥८॥

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैतामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, नचाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवंक्षणवस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः, शनैः, ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुमूर्धाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥९॥

जब स्त्री लेट जाये, तब विशिखान्तर (अपत्यमार्ग) को अन्दर से बाहर की ओर मालिश करती हुई परिचारिका उससे कहे, हे सुभगे! प्रवाहण करो, किन्तु आवी (प्रसववेदना) न होने पर प्रवाहण न करो। गर्भ नाड़ी का बन्धन छूटने पर श्रोणी, वंक्षण, वस्तिशिर में पीड़ा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो गर्भ के बाहर आने पर जोर से प्रवाहण करो। गर्भ के योनिमुख में आ जाने पर और भी अधिक जोर करो। जब तक गर्भ बाहर न आ जाये। वेदना होने से पूर्व यदि प्रवाहण किया जायेगा तो पुत्र बहरा, गूँगा, कुबड़ा, टेढ़ी

ठोड़ीवाला, शिर में चोट लगा ,कास, श्वास, शोष से पीड़ित तथा विलक्षण आकार का उत्पन्न होगा।

वक्तव्य—ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युरनागताऽऽवीर्या प्रवाहिष्ठाः। या ह्यनागताऽऽवीः प्रवाहते, व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति। प्रजा चास्या विकृता, विकृतिमापन्ना वा श्वासकासशोषप्लीहाप्रसक्ता वा भवति। (२) तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहते। ततोऽनन्तरं बलवत्तरम्। च० शा० ८-४४।

वि० मन्तव्य—अपत्यपथ के भीतर बला तेल आदि किसी स्नेह का अभ्यङ्ग करे। इससे वायु का अनुलोमन हो जाता है, और प्रसव हो जाता है। तथापि यदि न हो तो—गर्भिणी से कहे कि—जब आवी का रँग हो तब प्रवाहण कर आदि २। यदि इतना करने पर भी प्रसव न हो तो—॥९॥

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्, प्राञ्जलमाकर्षेत् ॥१०॥

यदि गर्भ उलटा हो (नितम्ब नीचे, शिर ऊपर) तो उसे सीधा करें। सीधा हो (शिर नीचे हो तो) तो उसे बाहर खींचे। (प्रतिलोम कई प्रकार का है)—इसे मूढगर्भ चिकित्सा में कहेंगे।

वि० मन्तव्य—समझो कि मूढ गर्भ गर्भमूढ—टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है, तब उक्त चार स्त्री-परिचारिकाओं में जो सबसे निपुण हो गर्भ को सीधा करके—अपत्यपथ में हाथ डालकर सीधा करके निकाल लेवे यदि तथापि न निकले तो—॥१०॥

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥११॥

गर्भ के योनि में रुक जाने पर (बाहर न आने पर-वेदनायें बन्द हो जाने पर) काले साँप की केंचुली, अथवा मैनफल से योनि में धूपन करे। कलिहारी की जड़ को हाथ पैर में बाँधे। हुलहुल या विशल्या (कलिहारी) को धारण करे।

वि० मन्तव्य—यह धूपन आदि उपचार करे। यदि तथापि प्रसव न हो तो—अथर्व वेद के ज्ञाता ब्राह्मण द्वारा मन्त्र यन्त्र आदि का प्रयोग करे यथा—एक सिद्ध मत्र—

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥

यह मन्त्र गर्भवती के कान में कहना चाहिये और वह इसे ध्यान देकर सुने। अथवा निम्न मन्त्र से अभिमन्त्रित जल पीने को देवे यथा—

इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सहलवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥

एक सिद्ध यन्त्र—चक्रव्यूह का आकार कांस्य की थाली में हरिद्राद्रव से लिखकर दिखावे तथा शुद्ध जल से धोकर पिलावें। इतने पर भी यदि प्रसव न हो तो मूढगर्भ चिकित्सा अ० १५ के अनुसार उपचार करे ॥११॥

अथ जातस्योल्बं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्, ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥१२॥

बालक के पैदा होने पर प्रथम जरायु को हटाकर, घी और सैन्धव से मुख का शोधन करे। घी से स्निग्ध पिचु को सिर पर रक्खे। फिर नाभि नाड़ी को नाभि से आठ अंगुल नाप कर धागे से बाँधकर काट देवें। धागे के एक भाग को बच्चे के गले में बाँध देवें।

वक्तव्य—नाड़ी को दो स्थानों से बाँधते हैं। जिससे रक्त प्रवृत्ति बच्चे की तरफ से भी न हो, और माता की तरफ से भी न हो। जब तक नाड़ी में स्पन्दन प्रतीत होता रहे, तब तक नाड़ी को नहीं काटना चाहिये। स्पन्दन बन्द होना इस बात का चिह्न है कि माता से रक्त आना बन्द हो गया। इसको नाभि से दो इञ्च बाँधते हैं। गले में लटकाने से नाल मिट्टी आदि में खराब नहीं होती। मल मूत्र से बची रहती है। नाड़ी के ठीक प्रकार न काटने से—"असम्यक् कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डिकापिण्डकालिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम्।" गले में ढीला लटकाये। काटने के लिये—नाभिबन्धनात् प्रभृत्यष्टांगुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्द्धधारेण छेदयेत्ताम् ॥ चरक० शा० अ० ८॥

वि० मन्तव्य—यदि जात शिशु स्वस्थ है, तो ईश्वर का धन्यवाद करो। यदि गर्भनाल शिशु के साथ ही बाहर आ गई हो तो नाभि से आठ अंगुल पर सूत्र से बाँध कर—कसकर बाँधकर एक अंगुल आगे से काट देवे और यदि प्रसूता के गर्भाशय से सम्बद्ध हो तो नाल पर दो बन्धन लगाकर बीच से काट देना चाहिए, बन्धन लगा देने से शिशु तथा प्रसूता के शरीर से नाल द्वारा रक्त स्राव नहीं होता। ग्रीवा में बाँधने से झटका लगने का भय नहीं रहता। अन्यथा समय से उखड़ जाने पर अनेकानेक हानियाँ हो सकती हैं। और जब तक शिशु पूर्णरूप से प्रकृतिस्थ न हो तब तक नाल छेदन नहीं करना चाहिए। सच यह है, कि माता के शरीर से जन्म हो जाने पर भी शिशु को पोषण मिलता रहता है, जब तक नाल गर्भाशय से सम्बद्ध रहे तब तक

नालच्छेदन किया ही न जाय। अतएव भगवान् पुनर्वसु ने—अपरापातन के पश्चात् नालच्छेदन का विधान बतलाया है, (च० शा० अ० ८-४७-४८) ॥१२॥

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्, ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥१३॥

फिर ठण्डे जल से बालक को आश्वासित करके जातकर्म करने के पश्चात् घी और मधु से मिश्रित थोड़ी सुवर्णभस्म अनामिका अंगुलि से चटाये। फिर बलातैल का अभ्यंग करके बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की त्वचा से बनाये क्वाथ से अथवा एलादि गण के जल से या चाँदी अथवा सुवर्ण को तपाकर बुझाये जल से या कैथ के पत्तों के गरम कषाय से समय, दोष और वैभव का ध्यान रखकर स्नान कराये।

वक्तव्य—यह समझ लेना चाहिये कि मधु श्लेष्मा को निकालता है। बच्चे के मुख में रुकी श्लेष्मा इससे निकल जाती है। घी और स्वर्ण विषनाशक है। इसी से कहा है—'न सज्जति हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद् विषम्।' स्वर्ण खानेवाले के शरीर में विष प्रभाव नहीं करता। बच्चे पर विष जल्दी प्रभाव करता है, इसी से उसकी रक्षा की है। सर्वगन्ध से अभिप्राय-एलादि गण से है।

वि० मन्तव्य—सू० १२ के अनुसार शिशु के मुख नासा का परिमार्जन-शोधन कर देने पर भी यदि श्वास की गति न हो तो शीतल जल के छींटे मारने चाहिये, इससे शिशु हुलमसी लेता है और रो पड़ता है, श्वास की गति चालू हो जाती है—गर्भाशय में तो श्वास चलता ही नहीं (दे० सु० शा० अ० २ श्लो० ५०)। यदि चेतना हीन या मूर्च्छित हो तो-कानों के पास पाषाणों की अथवा कांसा के खड़ताल आदि की ध्वनि तथा सूर्य-पंखा आदि से वायु तब तक करे जब तक श्वास-प्रश्वास चालू हो जाय और हाथ-पांव हिलाना प्रारम्भ हो जाय, अर्थात् सचेतन हो जाय। यदि इतने पर भी कोई फल न हो तो सैन्धव लवण मिश्रित घृत वक्षस् पर मले, इससे वमन हो जाता है और जीवन लाभ हो जाता है। तथापि लाभ न हो तो नाल को अग्नि से तपावे, सम्भव है प्राण आ जायँ तत्पश्चात्-अभ्यङ्ग आदि उपचार करे॥१३॥

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥१४॥

हृदय में स्थित धमनियों के खुलने के पीछे—तीन या चार दिन के अनन्तर स्त्रियों में दूध आता है।

वक्तव्य—पहले पीयूष (कोलोस्ट्रम) आता है। जिसे बोलचाल की भाषा में खीस कहते हैं। इसके देने न देने में भेद है, इसके देने से मृदु विरेचक गुण के कारण यह मल को बाहर करता है। न देनेवाले भारी होने से इसको नहीं देते। वे इसके लिये मधु देते हैं।

वि० मन्तव्य—यहाँ स्तन्य का अर्थ उस स्तन्य-दूध से है जो शिशु के पीने योग्य होता है। वैसे तो श्वेत द्रव की प्रवृत्ति गर्भवती को ही होने लगती है, यथा—शा० अ० ३-३४ में कहा है तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति। जैसे गौ भैंस आदि का दूध भी ३-४ दिन पीने योग्य-शिशु के पीने योग्य नहीं होता वैसे ही मानुषी का भी नहीं होता। तीन चार दिन पर दूध की प्रवृत्ति होती है और 'स्तन्यावतरणे नारीणां ज्वरो दोषैः प्रवर्त्तते' अर्थात् दूध उतरने में प्रसूता को ज्वर हो जाता, है फलतः उस समय भी दूध नहीं पिलाया जाता, परन्तु यह ज्वर एक दो दिन में शान्त भी हो जाता है जो छटी का दूध कहलाता है ॥१४॥

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥१५॥

इसलिये पहले दिन घी और मधु के साथ थोड़ा सा स्वर्ण मन्त्र से पवित्र करके तीन बार पिलाये। दूसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया घृत देवे। तीसरे दिन भी यही देवे, फिर घी और शहद को (विषममात्रा में) बच्चे की हथेली की मात्रा में दो समय देकर स्तन पिलाना आरम्भ करे।

वक्तव्य—अनन्त बराबर सुवर्ण, इसकी मात्रा आधी रत्ती या चौथाई रत्ती दे। 'अनन्ता' पाठ मानकर हाराणचन्द्र जी 'सारिवाली' कहते हैं अष्टांगसंग्रह में दूर्वा ली है। यथा 'अनन्तामिश्रे मधुसर्पिषी—अनन्ता दूर्वा'।

"ऐन्द्री ब्राह्मी शंखपुष्पी वचेन्द्रीकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाभिमंत्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण वा मेधायुर्बलजननं प्राशयेद्, ब्राह्मीवचानन्ता शतावरी अन्यतमचूर्णं वा ॥"संग्रह।

चरक में पहले दिन स्तनपान करना कहा है। यथा–ततोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम्। तद्यथा मधुसर्पिषी मंत्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्।

वि० मन्तव्य—अतः तब तक मधुसर्पि आदि चटाकर जीवन यापन करे। अथवा वे द्रव देवे जिनकी व्यवस्था वृद्धा स्त्रियाँ करें ॥१५॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्ति-

पिप्पलीचित्रकशृंगवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके ॥१६॥

इसके पश्चात् सूतिका के शरीर पर बलातैल का अभ्यंग कराकर एरण्ड-भद्रदारु आदि वातहर औषधियों के क्वाथ से स्नान कराये। यदि दोष पूरी तरह न निकलता हो तो (रक्त बन्द हो गया हो तो) उसी दिन पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चित्रक, सोंठ के चूर्ण को गुड़ के गरम पानी के साथ पिलाये। इसी प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक दूषित रक्त न निकल जाये तब तक करे। रक्त का शोधन हो जाने पर विदारीगन्धादि गण से सिद्ध किये घी से युक्त यवागू को या सिद्ध किये दूध में बनाई यवागू को तीन दिन पीने के लिये देवे। फिर जौ, बेर, कुलत्थी सिद्ध या जांगल मांस रस के साथ शाली धान्यों का भात अग्निबल के अनुसार खाने को देवे। इस प्रकार डेढ़ (१½) महीने तक नियम पालन करने पर आहार-और आचार (विहार) परहेज को छोड़ने से 'विगतसूतिका' शब्द से कही जाती है (अर्थात् डेढ़ मास के पीछे उसके लिये सूतिका का परहेज नहीं रहता)। कई आचार्यों का मत है कि प्रसव के पीछे प्रथम बार आर्त्तव दर्शन तक वह सूतिका रहती है, उसे सूतिका का आहार विहार तब तक पालन करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—सशेषदोषां—यदि गर्भाशय से निकल जाने योग्य रक्त आदि न निकल गये हों। विगतसूतिकाऽभिधाना—अब उसका नाम 'सूतिका' या 'प्रसूता' नहीं रह जाता। अतः सूतिका के लिये विहित उपचारों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनरार्त्तव दर्शनात्—प्रसव से ४०-४५ दिन पर थोड़ा बहुत आर्त्तव दिखाई दे जाता है स्वस्थ स्त्री को। इसके पश्चात् किसी २ को प्रतिमास आर्त्तव होने लगता है और किसी २ को जब तक बालक को दूध पिलाती है तब तक नहीं होता। आर्त्तव दिखाई देने पर पुनः गर्भाधान की सम्भावना हो जाती है, परन्तु अधिकांश स्त्रियों को नियमितरूप से प्रसव से ४०.४५ दिन पर अथवा १-२-३-४-५ वर्ष पर गर्भाधान हुआ करता है ॥१६॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां स्नेहनित्या च स्यात् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवती; अबलां यवागूं पाययेत् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥१७॥

धन्वभूमि (मरुप्रदेश) में उत्पन्न प्रसूता को घी या तैल इनमें से किसी एक की मात्रा को पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान से पिलाये। बलवान् स्त्री को पाँच दिन स्नेह का पान, अभ्यंग आदि देवें। निर्बल प्रसूता को तीन या पाँच दिन यवागू देनी चाहिये। इसके बाद स्निग्ध अन्नसंसर्ग (पेया, विलेपी अन्न) विधि बरते।

वक्तव्य—"अथ सूतिकां बलातैलेनाभ्यज्यात्, बुभुक्षितां च पंचकोलचूर्णेन यवान्युपकुञ्चिकाचव्यचित्रकव्योषसैन्धवचूर्णेन वा युक्तामहःपरिणामिनीं यथासात्म्यं स्नेहमात्रां पाययेत् स्नेहयोग्यां तातहरौषधक्वाथं हस्तपंचमूली क्वाथं पीतवत्याश्च यमकेनाभ्यज्य वेष्टयेदुदरं वस्त्रेण। तथा न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयति अनवकाशत्वात्। जीर्णे तु स्नेहे पूर्वौषधिभिरेव सिद्धां विदार्यादिगणक्वाथेन वा क्षीरेण यवागूं सुस्विन्नां द्रवां मात्रया पाययेत्"॥ (अ० सं० शा० अ० ३)।

वि० मन्तव्य—धन्वभूमिजातां तु सूतिकां—धन्व भूमि-मरुभूमि आरोग्यद भूमि होती है, वहाँ की निवासिनी प्रायः अधिक स्वस्थ होती है, अतः उसे स्नेह की मात्रा का विधान किया गया है, अर्थात् उसे अधिक से अधिक घृत आदि का प्रयोग किया जा सकता है और वह उसे पच भी जाता है। वह ५-७ दिन में ही पुनः पूर्ववत् स्वस्थ-बलवती हो जाती है। अबलां—अनूपभूमि अनूप देश की निवासिनी प्रसूता प्रायः अबला-दुर्बला होती है। अतः उसे यवागू दलिया अथवा खिचड़ी आदि में मिलाकर स्नेह देना चाहिये। ११ दिन के पश्चात् उचित-स्वाभाविक भोजन की व्यवस्था करे, परन्तु वह स्निग्ध हो। इस प्रकार १॥-२ मास में प्रसूता पूर्ववत् पूर्ण स्वस्थ हो जाती है ॥१७॥

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत् क्रोधायासमैथुनादींश्च परिहरेत् ॥१८॥

प्रायः करके बहुत गरम जल से प्रसूता को स्नान करावे। क्रोध, थकान, मैथुन आदि से बचे।

वि० मन्तव्य—पुनरार्त्तव दर्शन पर्यन्त उष्णोदक से स्नान होना चाहिये और क्रोध आदिका पूर्णरूपसे परित्याग भी॥१८॥

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
सोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥१९॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
प्रतीदयोपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥२०॥

प्रसूता के मिथ्या आचार से या अपतर्पण के कारण प्रसूता को जो रोग उत्पन्न हो जाता है, वह कष्टसाध्य होता है, या असाध्य हो जाता है। इसलिये देश, काल और रोग सात्म्य को देखकर चिकित्सा करे। सदा परीक्षा करके इस प्रकार करे, जिससे कोई विपद या हानि न हो।

वि० मन्तव्य—प्रसूता अत्यन्त दुर्बल एवं कृश होती है, अतः थोड़े भी मिथ्या आहार-विहार से भीषण आपत्ति आ सकती है। प्रसूता को अपतर्पण-(भूखे प्यासे रहना) नहीं करना चाहिये। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-सूतिका को जो भी रोग हो जाता है, वह कष्टसाध्य अथवा असाध्य होता है, क्योंकि-गर्भ की वृद्धि के लिये उसके सब रस-रक्त आदि धातुओं का क्षय-व्यय हो चुका है और प्रसववेदना तथा रक्तस्राव से शरीर शून्य-निःसार हुआ होता है। अतः उसका उपचार-विधिपूर्वक-सावधान होकर करे और भौतिक (मासी आदि भूत नाशक), जीवनीय, बृंहणीय, मधुर तथा वातनाशक औषधों से सिद्ध-अभ्यङ्ग, उबटन, परिषेचन, अवगाहन, अन्न तथा पान की व्यवस्था करे। क्योंकि प्रजाता-प्रसूता नारियों का शरीर प्रायः खोखला होता है ॥१९,२०॥

अथापराऽपतन्त्याना्हाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबूकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्षक्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्पल्यादिं वा मद्येन सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरवस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन वा कृतनखेन हस्तेनापहरेत् ॥२१॥

बाहर न आई अपरा (कमल) आध्मान और आनाह करती है। इसलिये बाल लिपटी हुई अंगुली से इस प्रसूता के गले को अन्दर से खुरखुराए। कड़ुई तुम्बी, अमलतास, सरसों, सांप की केंचुली, इनको सरसों के तेल में मिलाकर योनिमुख में धूप देवे। कलिहारी की मूल के कल्क को इसके हाथ-पैरों पर लेप करे। इसके सिर पर थोर का दूध डाले। कूठ और कलिहारी के मूल कल्क को मद्य या मूत्र किसी एक के साथ पिलाये। शालिमूल के कल्क को या पिप्पल्यादि गण के कल्क को मद्य से पिलाये। सरसों, कूठ, कलिहारी, इनको थोर के दूध या सुरामण्डक में मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। इन्हीं से सिद्ध सरसों के तैल से वस्ति देवे। अथवा नख कटाये हुए हाथ को घी या तैल से चिकना करके इससे बाहर निकाल ले।

चरक में—"यस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टात् बलवन्निपीड्य सव्येन पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धुतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पादपार्ष्ण्या श्रोणिमाकोटयेत्। तस्याः स्फिचावुपसंगृह्य सुपीडितं पीडयेत्। अथास्या बालवेण्याकण्ठतालु परिस्पृशेत्॥ चरक० शा० अ० ८।४५।

वि० मन्तव्य—प्रसव के कुछ समय पश्चात् अपरा स्वतः गिर जाती है। यदि विलम्ब हो रहा हो तो उक्त उपचार करे। यथासम्भव उसका शीघ्र गिर जाना ही अच्छा होता है। अच्छा तो यह है कि—ज्यों ही प्रसव हो त्यों ही ध्यान दिया जाय कि गिरी अथवा नहीं, यदि नहीं गिरी तो उन परिचारिकाओं में से एक स्त्री दाहिने हाथ से-नाभि से चार अंगुल ऊपर से बलपूर्वक दबाकर और बाएँ हाथ से पीठ की ओर से दबाकर नीचे की ओर को निचोड़ देवें, जिससे "अपरा" बाहर आ जाय। यदि इससे भी न निकले तो उदर को तो दबाए रहे और अन्य स्त्रियाँ उक्त उपाय करें और तब तक निरन्तर करें जब तक अपरा गिर न जाय। अन्तिम उपाय यह है कि अपत्य पथ में हाथ डालकर अपरा को निकाल देवें। अपरा निकल आने पर नाड़ीच्छेदन करे और इसके पश्चात् भूख लगने पर स्नेहमात्रा अथवा स्नेह यवागू आदि यथोचित पथ्य देकर-उदर पर स्नेहाभ्यङ्ग करके-बड़े से और स्वच्छ वस्त्र से उदर का आवेष्टन कसकर कर देवें। इससे अवकाश न मिलने के कारण वायु उदर में कोई विकृति उत्पन्न नहीं कर सकता और गर्भाशय अपने स्वरूप में आ जाता है। अन्यथा कईयों का उदर बड़ा रह जाता है। एतदर्थ कश्यप संहिता का वाक्य स्मरणीय है, यथा—

प्रजातमात्रमाश्वास्य सूतां शक्ता प्रसाविका।
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा।
पीडयेद् दृढमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्।
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति॥

का० सं० सूतिकोपक्रमणीय। ४०-४५ दिन में गर्भाशय अपनी पूर्ववत् स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यदि उदर बड़ा ही रह जाय तो दशमूल, पिप्पलीमूल तथा सोया का क्वाथ पिलाते रहना चाहिये ॥२१॥

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ वस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति, ततश्च नाभिवस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम्। तत्र वीरतर्वादिसिद्धं जलमूषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा सुखोदकेन पिप्पल्यादिक्वाथेन वा, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिक्वाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादिक्वाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥२२॥

रूक्ष शरीरवाली प्रसूता स्त्री के तीक्ष्ण औषधियों से अविशोधित रक्त में, उस स्थान की वायु नाभि के नीचे, पार्श्वों में, वस्ति में, अथवा वस्ति शीर्ष में गाँठ उत्पन्न करती है। इससे नाभि, वस्ति और उदर में शूल होता है। पक्वाशय में सूई चुभने के समान पीड़ा होती है। यह फटता हुआ सा प्रतीत होता है। पेट चारों ओर फैलता है, मूत्र रुकता है, यह मक्कल्ल के (After pains) के लक्षण हैं।

वक्तव्य—"प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजनितशूलमकल्लः, अवरुद्धरक्तपाकजनितो विद्रधिरपि मक्कल्लः। डल्हणः—"विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति॥" चरक०।

चिकित्सा—इस मकल्ल में वीरतर्वादि गण के सिद्ध जल में ऊषकादिगण का प्रक्षेप देकर पिलाये यवक्षार के चूर्ण को गरम पानी से या पिप्पल्यादि क्वाथ से दे। पिप्पल्यादि चूर्ण को सुरामण्ड से देवें। वरुणादि क्वाथ में पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) और इलायची का प्रक्षेप देकर पिलाये। शालिपर्णी आदि के क्वाथ में देवदारु और मरिच मिलाकर देवे। या पुराने गुड़ को सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, इलाइची, तेजपात, नागकेसर, धनिया मिलाकर खाये। या केवल अरिष्ट (अभयारिष्ट-डल्हण) पीवे।

वि० मन्तव्य—गर्भाशय के शोधन का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। तदर्थ—मक्कल्ल नाशक उपायों का अवलंबन करे तथा अपरा पातन के उपायों का और आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे, इससे वायु का अनुलोमन हो जाता है, और वायु के अनुलोमन से गर्भाशय में रुके अपद्रव्य-अपरा एवं दुष्ट रक्त आदि सब बाहर निकल जाते हैं॥२२॥

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत् पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः रक्षाघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥२३॥

इसके पीछे बालक को रेशमी वस्त्र ओढ़ाकर रेशमी वस्त्र से बिछाई शय्या पर सुला देवे। पीलु, बेर, नीम, फालसा, इनकी शाखा से इसको हवा करे। प्रतिदिन इसके सिर पर तैल का फोया रक्खे। रक्षोघ्न धूप (सरसों, अजवायन, नीम के पत्ते नमक) से इसको धूप देवे। रक्षोघ्न द्रव्यों को इसके हाथ, पैर, शिर, ग्रीवा में बाँध देवे। तिल, अलसी, सरसों को इसके चारों ओर बिखेर देवे। घर में अग्नि जलती रक्खे। व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे विधान को बरते।

वि० मन्तव्य—शिर पर—ब्रह्मरन्ध्र पर गर्मियों के दिनों में नवनीत का पिचु भी उपयोगी होता है। बालक के घर में, शय्या में, कपड़ों में धूप देना चाहिये। धूपन द्रव्य हैं—जौ, सरसों, अलसी, हींग, गूगल, वचा, चोरपुष्पी, हरड़ या ब्राह्मी, दूब, जटामांसी, लोबान, साँप की केंचुली सबको दरदरा कूटकर घृत में मसलकर रख लेवे। बालक के शयन, आसन, ओढ़ना एवं बिछावन सब—कोमल, लघु, स्वच्छ एवं सुगन्धित हों। स्वेद, मल, जूएँ आदि से रहित तथा मल मूत्र में उपसृष्ट न हों, अर्थात् नये अथवा धुले भली भाँति सूखे हों। खिलौने—विचित्र, छनकनेवाले, सुन्दर, लघु जिन का अग्रभाग तीक्ष्ण न हों, जो मुख में प्रविष्ट न हो सकें, जो घातक न हों और डरावने न हों। च० शा० अ० ८॥२३॥

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा॥२४॥

फिर दसवें दिन माता-पिता, मंगल, कौतुक, स्वस्तिवाचन करके, मन के अनुकूल या नक्षत्र के अनुसार इस बच्चे का नामकरण करें।

चरक में—"द्वे नामनी कारयेत्, नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च। तत्राभिप्रायिकं घोषवदाद्यन्तस्थान्तम् ऊष्मान्तं वाऽवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनवप्रतिष्ठितम्। नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा"॥ चरक शा० ८-४५।

वि० मन्तव्य—नाम करण संस्कार—देश, जाति एवं कुल परम्परा के अनुसार किया जाता है। नाम—अभिप्रेत अर्थात् जो नाम रखना अभीष्ट हो। नक्षत्र नाम—ज्योतिः शास्त्रानुसार नक्षत्र का-अक्षर-जिस नाम में प्रथम हो। जिस नक्षत्र में जन्म होता है उस नक्षत्र के अक्षरों को ध्यान में रखकर नाम चुन लिया जाता है॥२४॥

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्का(सा)मरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनामव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामारोग्यबलवृद्धये बालस्य। तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्। ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चापवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्॥२५॥

फिर वर्ण के अनुसार—(ब्राह्मण के लिये ब्राह्मणी

इत्यादि) धात्रीको बुलाये। धात्री मध्यम आकार की (न बहुत लम्बी, न छोटी), बहुत उमर की न हो (मध्यम वय की प्रौढ़ा), नीरोगी, उत्तम स्वभाव की, चंचलता रहित, निर्लोभी, न मोटी, निर्मल दूधवाली, जिसके ओठ लम्बे न हों, जिसके स्तन लम्बे या ऊपर को न हों, अव्यंगी, व्यसनों से रहित, जीवित बालकवाली, मधुर दूधवाली, प्रेम करनेवाली, नीच कर्म न करनेवाली, उत्तम कुल में उत्पन्न होने के कारण बहुत से गुणों से युक्त, श्यामा इस प्रकार की धात्री बालक के आरोग्य, बल और वृद्धि के लिये होती है। इनमें ऊर्ध्वस्तनवाली बालक को कराल (आगे निकले हुए दांतोंवाला) बना देती है। लम्बे स्तनोंवाली नासिका के मुख को बन्द करके मृत्यु का कारण बनती है। फिर प्रशस्त तिथि में शिर समेत बच्चे को स्नान कराके नये वस्त्र पहनाकर उत्तर की ओर मुख करके बिठाये। धात्री को पूर्व की ओर मुख करके बिठाये। पहले दक्षिण स्तन को धोकर थोड़ा-सा दूध बाहर निकालकर निम्न मंत्र से आमन्त्रित करके पिलाये।

वि० मन्तव्य—यदि किसी कारण से जननी दूध पिलाने योग्य न हो अथवा न रहे तो धात्री का चुनाव करे। यदि प्रमादवंश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिये तैयार करे क्योंकि—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत् परं देहवृद्धये—अर्थात् जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टिवृद्धि के लिये परमोत्तम होता है। श्यामा-श्यामवर्णा स्त्री प्रायः स्वस्थ गौरी की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होती है, (पुरुष भी) और अतएव उसको दूध भी अधिक होता है—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति (डल्लन) दूध पिलाने की उक्त विधि जननी एवं धात्री दोनों के लिये समान है, और यह एक दिन के लिये ही नहीं प्रतिदिन या प्रतिबार इसी प्रकार स्तन्यपान कराना चाहिये। दूध पिलाने के पूर्व पिलानेवाली अपने स्तनों को हाथ से मसल लिया करे, जिससे दूध तरल हो जाय और स्तन चूचकों की कठोरता दूर हो जाय और अधिक दूध हो तो पर्याप्त, अन्यथा थोड़ा सा दूध चुआ दिया करे, इस प्रकार सू० २९ में कथित काम आदि विकार नहीं होते और शिशु को चूषण में सरलता हो जाती है। जीवद्वत्सा-जिसका अपना शिशु जीवित एवं स्वस्थ हो—यह दूध की उत्तमता का सूचक है। दोग्ध्री-धात्री को दो शिशुओं को पालना होता है, अतः दो के योग्य दूध होना आवश्यक है। धात्री के जो गुण लिखे हैं उनसे भी अधिक गुणोंवाली हो। वत्सला-इस शिशु के साथ अपने शिशु के समान स्नेह करनेवाली हो। कोई २ शिशु स्तन्य चूषण नहीं करते, परन्तु कुछ दिनों में अभ्यास हो जाने पर करने लगते हैं। तब तक सीपी या चम्मच में दुहकर दूध पिलाते रहना चाहिये ॥२५॥

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥२६॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥२७॥

मंत्र—हे सुभगे! तुम्हारे स्तनों में दूध को वहन करनेवाले चारों समुद्र बालक की वृद्धि के लिये हों। हे शुभानने! जिस प्रकार देवता अमृत का पान करके दीर्घायु हुए, उसी प्रकार तुम्हारा अमृत रूपी दूध पीकर बालक दीर्घायु हो ॥

वक्तव्य—श्यामा "शीतकाले भवेदुष्णा, ग्रीष्मकाले च शीतला। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते"। विस्तार के लिये मेरी पुस्तक "हमारे भोजन की समस्या" पढ़ें॥२६,२७॥

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद् व्याधिजन्म भवति ॥२८॥

इससे विपरीत नाना (भिन्न-भिन्न) दूध के उपयोग करने से—असात्म्य-होने के कारण रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—बार-बार दूध बदलते रहने से दूध अनुकूल नहीं होता। दूध के अनुकूल न पड़ने से रोग होते हैं। इसलिये एकही धात्री को रक्खे। इसी प्रकार गाय या बकरी एक का ही दूध बच्चे को देना चाहिये। बार-बार दूध बदलना नहीं चाहिये। माता के दूध के अभाव में धात्री का दूध, धात्री के अभाव में बकरी या गाय का दूध देवे "स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं हितम् ॥" वाग्भट में कहा है—मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले' ॥२८॥

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्तपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥२९॥

स्तनों में से दूध न निकलने के कारण दूध के रुके रहने से, स्तनों के कठोर एवं भरे होने पर-स्तनपान करने से, स्रोतों के भराव होने पर बच्चे को कास, श्वास, वमन होता है। इसलिए इस प्रकार का दूध न पिलावे।

वक्तव्य—स्तनों में दूध रुकने से स्तन भारी और कठोर होते हैं। बच्चा दबा नहीं सकता। या जोर से दबाने पर स्रोतों में दूध का जोर होने से दूध जोर से आकर बच्चे के मुख में भर जाता है, इससे कास श्वास होता है। अतः पहले स्तनों में से दूध निकालकर फिर पीने को देना चाहिए ॥२९॥

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्दमधुकशतावरीनालिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥३०॥

क्रोध, शोक, अममत्व आदि से दूध सूख जाता है। इस अवस्था में दूध को बढ़ाने के लिए मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जौ, गेहूँ, शालि, साठी, मांसरस, सुरा, काञ्जी, तिलखली, लहसुन, मछली, कसेरु, सिंघाड़ा, बिस, विदारीकन्द, मुलैहठी, शतावरी, नालिका, अलाबू, काल शाक आदि देवे।

वि० मन्तव्य—स्तनप्रवृत्ति के लिए देखिए-नि० स्था० अ० १० श्लो० १५ से २७। निरन्तर-सच्चा स्नेह ही स्तन्य की प्रवृत्ति का हेतु है तथापि यदि क्रोध शोक आदि के कारण स्तन्य प्रवृत्ति न हो तो उचित उपाय करे लाभ अवश्य होता है। स्तन्य का क्षय होने पर-स्तन ढीले हो जाते हैं। अथवा घट जाते हैं। इस दशा में कफवर्द्धक द्रव्यों का प्रयोग करे। (सु० सू० अ० १५ सू० १२) ॥३०॥

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति। न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहारतर्पितायाः, स्तन्यं पाययेत्, नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥३१॥

इसके पीछे दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह दूध-शीतल, निर्मल, पतला, शङ्ख के समान कान्ति का, जल में डाला हुआ मिश्रित हो जाता है, झाग रहित, तन्तु की भांति नहीं, पानी में न बैठता है और न ऊपर तैरता है, तो इस दूध को शुद्ध समझे। इससे बच्चे में आरोग्य शरीर की पुष्टि, बल की वृद्धि होती है। भूखी होने पर, शोक से दुःखी, थकी, दूषित धातु, गर्भवती, ज्वर आए हुए, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदग्ध भोजन या विरुद्ध भोजन किए, उपवास किए-इन अवस्थाओं में दूध न पिलावे। बालक को यदि औषध न पची हो तो उसे दूध न देवे। क्योंकि दोष औषध और मल से तीव्र वेगोत्पत्ति का भय रहता है।

वि० मन्तव्य—दूध पिलानेवाली के दूध की परीक्षा अवश्य कर ले। कदाचित् दूध अशुद्ध हो तो शिशु अस्वस्थ हो जाता है। एतदर्थ देखिए नि० स्थान अ० १० और शुद्ध दूध भी पिलानेवाली की क्षुधित आदि दशाओं में नहीं नहीं पिलाना चाहिये। यदि शिशु को कोई औषध दी गई हो जब तक वह पच न जाय तब तक दूध न पिलाया जाय। यदि बालक—मुखपाक आदि किसी कारण से स्तन चूचुक का आचूषण न कर सकता हो तो सीपी या चम्मच अथवा कोमल कपड़ा की बत्ती द्वारा दूध पिलाना चाहिये। शिशु दूध पीता रहे तब तक इस सूत्र को ध्यान में रखना चाहिए ॥३१॥

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥३२॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः।
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥३३॥

इसमें श्लोक भी हैं—धात्री के गुरु, विषम और दोषकारक भोजनों के करने से दोष शरीर में दूषित होते हैं, इससे दूध दूषित हो जाता है मिथ्या आहार विहार करनेवाली धात्री के दूषित हुए वातादि दोष दूध को भी दूषित कर देते हैं, इससे बच्चे में रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को कुशल वैद्य भली प्रकार पहचाने।

वि० मन्तव्य—यह सच है कि क्षीरपायी शिशु कोई अन्य पदार्थ तो खाता नहीं है, उसे यदि कोई विकार हो तो उसका कारण दूध ही हो सकता है। अतः दूध पिलानेवाली के आहार-विहार पर पूर्णरूप से ध्यान और नियन्त्रण रखना आवश्यक है। आहार रस से दुग्ध का निर्माण होता है, यथा—रसप्रसाद-मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥ तथा-आहाररसयोनित्वात् एवं स्तन्यमपि स्त्रियाः।' अतः धात्री के आहार-विहार से दूध में विकृति आती है और विकृत दूध पीने से शिशु में विकृति आती है। दुग्धशोधनार्थ धात्री को दुग्ध शोधक क्वाथ आदि पिलाना चाहिए ॥३२,३३॥

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥३४॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत्।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥३५॥
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३६॥

बच्चे के जिस अंग-प्रत्यङ्ग में वेदना होती है, वह उस स्थान को बार-बार स्वयं छूता है, परन्तु दूसरा कोई छूए तो वह रोता है। शिर में रोग होने पर आँखें बन्द कर लेता है, शिर को सीधा नहीं रखता। मूत्राशय में रोग होने पर मूत्र का रुकना, पीड़ा, प्यास और मूर्च्छा होती है। कोष्ठ में स्थित दोषों

को मल-मूत्र के रुकने से, विवर्णता से, वमन से, आध्मान से, आंतों की गड़गड़ाहट से पहचाने। सारे शरीर में उत्पन्न विकार को रोने से समझे।

वि० मन्तव्य—शिशु स्वतः बोलकर अपना कष्ट बतला नहीं सकता, अतः इन लक्षणों से और अपनी प्रतिभा से उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिये ॥३४-३६॥

तेषु यथाभिहितं मृदुच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा संयुक्तं विदध्यात्, धात्र्याश्च केवलं, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च पूर्ववत्, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः ॥३७॥

इन रोगों में इन रोगों के अनुसार कोमल कफ-मेद का लेखन करनेवाली, औषध को मात्रा से दूध पीनेवाले बच्चे को दूध और घी के साथ मिलाकर देवे। और धात्री को अकेली औषध पिलाये। दूध और अन्न खानेवाले बालक को पूर्व की भाति बच्चे और धात्री दोनों को औषध देवे। अन्न खानेवाले बच्चे में केवल बच्चे को ही कषाय आदि औषध देवे, धात्री को औषध न दे।

वि० मन्तव्य—शिशु तीन प्रकार के होते हैं १—क्षीरप अर्थात् केवल दूध पीनेवाले। २—क्षीरान्नाद अर्थात् दूध के साथ २ अन्न खानेवाले। ३—अन्नाद अर्थात् धात्री का दूध छोड़कर केवल अन्न पर निर्वाह करनेवाले। बालक को चाटने का भी अभ्यास नहीं होता, अतः दुग्ध एवं घृत में घोलकर औषध पिलानी चाहिये। औषध तीक्ष्ण या उग्र नहीं हो, क्योंकि शिशु स्वभावतः कोमल एवं सुकुमार होते हैं। चरक के शब्दों में—और यदि कुमार को कोई व्याधि आ जाय तो प्रकृति, निमित्त, पूर्वरूप, रूप एवं उपशय के द्वारा भली भाँति समझकर तथा रोगी, देश, काल, रागाश्रय आदि का विचारकर मधुर, मृदु, लघु, सुगन्धित, शीत एवं कल्याण कारक औषध एवं उपचारों का प्रयोग करते हुए चिकित्सा करे, क्योंकि कुमारों को इसी प्रकार के औषध एवं उपचार अनुकूल होते हैं, और इस प्रकार वे सुख का सदा के लिये लाभ करते हैं। जब वे स्वस्थ रहें तब स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान-व्यवस्था करे। इस प्रकार वह—बल, वर्ण, शरीर एवं आयुः की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेते हैं। (च० शा० अ० ८ ६६) ॥३७॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसंमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्पमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति ॥३८॥

एक मास से ऊपर की आयुवाले दूध पीनेवाले बच्चे को दूध-घी में मिलाई औषध को अंगुली के प्रथम दो पर्वों तक मात्रा में देवे। दूध और अन्न खानेवाले को औषध कल्क की, बेर की गुठली के बराबर मात्रा देवे। अन्न खानेवाले को बेर बराबर मात्रा देवे।

वक्तव्य—प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका। अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः॥ एकैको वर्धयेत्तावत् यावत्संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद् यावत् स्युः षोडशाब्दकाः ॥३८॥

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥३९॥

जिन जिन रोगों को नष्ट करनेवाले योग आगे कहे जायेंगे उन उन रोगों में उन उन योगों के कल्क से स्तनों पर लेप करके बच्चे को स्तन पिलाये।

वि० मन्तव्य—जो ज्वर आदि नाशक औषध बड़ी आयुवालों को दिये जाते हैं, वे ही बालक को देवे, परन्तु उनकी मात्रा न्यून हो, अथच यथासम्भव उनके लिये मृदु, मधुर, लघु एवं शीत औषधों का चुनाव करे ॥३९॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥४०॥
न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ।
विरेकवस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥४१॥

स्तनपायी शिशु को ज्वर में क्रमशः वातज्वर में एक दिन, पित्तज्वर में दो दिन और कफज्वर में तीन दिन घृत न देवे। क्षीरान्नभोजी को और अन्नभोजी को जैसा उचित समझे, वैसा करे। बच्चे को प्यास लगी है, इस धोखे में बार-बार स्तन न देवे। बिना जरूरत के बच्चे को वमन, विरेचन या वस्ति न देवे।

वक्तव्य—घी बच्चे को सदा देना चाहिये, योग्य मात्रा में ऐसा पता लगता है। इससे यह नियम ज्वर के लिये अपवाद रूप दिया है। बच्चे को रोता देखकर चुप कराने के लिये बार बार स्तन मुख में देना हानिकारक है। एरण्ड तैल का विरेचन के लिये उपयोग प्रायः करते रहना ठीक नहीं है। इन साधारण बातों का यहाँ निर्देश है।

वि० मन्तव्य—आवश्यकतानुसार लंघन आदि की व्यवस्था भी करे। यथा आमाशय विकारों में लंघन और हस्त्रडस्त्रा (श्वास) में वमन एवं विरेचन आवश्यक होता है ॥४०,४१॥

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥४२॥
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बुद्वेजनं तथा।

मस्तुलुंग के क्षय के कारण वायु तात्वस्थि को झुका देती है। तब बच्चे को प्यास लगती है, और चेहरा गरीब दीखता है। इसमें काकोल्यादि गण से सिद्ध घृत का पान

और अभ्यंग में उपयोग करे। शीतल पानी के सेचन से बच्चे को उद्वेजित करे।

वि० मन्तव्य—शिशु के शिर की कपालास्थियाँ अधूरी होने के कारण ब्रह्मरन्ध्र पर केवल त्वचा का ही आवरण होता है और वहाँ स्पर्श करने पर धमन प्रतीत होता है तथा वह स्थल पिलपिला रहता है। यदि किसी कारण से मेजा या मस्तुलुङ्ग का क्षय हो जाता है तो वहाँ वह स्थल निम्न—दबा हुआ हो जाता है। इसी को तालुपात कहते हैं, इस पर सर्वदा नवनीत का पिचु धरा जाता है, और धरना चाहिये। शीतल जल के छींटे मारने से शिशु ज्योंही "हुलभसी" लेता है, त्योंही निम्नता दूर हो जाती है, परन्तु तब जब कि मस्तुलुङ्ग पिण्ड खिसकने से तालु पात होता है। यदि क्षय से होता है तब नवनीत का पिचु धरने से लाभ होता है ॥४२॥

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ॥४३॥
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः।
गुदापाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानलेपनयोर्हितम् ॥४४॥

वायु से नाभि फूल जाये और उसमें वेदना हो तो इसको तुण्डिनाभि कहते हैं। इसमें वात नाशक स्नेहन स्वेदन, उपनाह बांधकर चिकित्सा करे। बच्चों के गुदा पाक में पित्तनाशक चिकित्सा करे। विशेष करके रसौंत का पान, और लेप में व्यवहार करे।

वि० मन्तव्य—नालच्छेदन के समय खिच जाने से अथवा उसके पश्चात् नालखण्ड खिचकर समय के पूर्व टूट जाने से "तुण्ड" नामक व्याधि हो जाती है, इसमें नाभि की गम्भीरता नहीं रहती है। पित्तातिसार आदि में अथवा पित्तप्रकोप से—मुखपाक के समान भी हो जाता है और कभी कभी गुदभ्रंश भी। इससे गुदवलियाँ हो जाती हैं, गुद में गिनामा हो जाता है॥

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धं, तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥४५॥

स्तनपायी शिशु को—सरसों, वच, जटामांसी, विदारी, चिरचिटा, शतावरी, सारिवा, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी कूठ और सैन्धव से सिद्ध घृत पिलाये। दूध और अन्नभोजी शिशु को—मुलेहठी, वच, चित्रक, पिप्पली, त्रिफला से सिद्ध किया घृत देवे। अन्नभोजी शिशुको—दशमूल, दूध, तगर, देवदारु, मरिच, मुलैहठी, वायविडंग, द्राक्षा, दोनों ब्राह्मी से सिद्ध घी देवे। इनसे बच्चे में नीरोगता, बल, मेधा और आयु बढ़ते हैं ॥४५॥

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेन्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात् सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत्, कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः, एवमविहतमना ह्यभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥४६॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥४७॥

बालक को इस प्रकार उठाये, जिससे उसके अंगों में तकलीफ़ न हो (अस्थि आदि न उतरें)। इसको कभी धमकायें नहीं। कभी भी एक दम से न जगायें क्योंकि बच्चा डर जाता है। बालक को एक दम दूसरों से खीच कर न लें, न इसको ऊपर उछालें, इससे वात आदि दोषों के कोप का भय रहता है। जल्दी बिठाना आरम्भ न करे, कुबड़ा होने के डर से। हानि न करनेवाली प्रिय बातों से सदा इसका मन प्रसन्न रक्खे इस प्रकार करने से बालक सदा प्रसन्न रहकर बढ़ता है, बलिष्ठ नीरोग और सुप्रसन्न रहता है। इसे उत्तम सत्त्व प्राप्त होता है। वायु, धूप, बिजली, प्रभा (चमक), वृक्ष, लता, खाली घर, गड्ढे आदि नीचे स्थान, ग्रहों की छाया तथा बुरे ग्रहों के उपद्रवों से बालक की रक्षा करे। गन्दे स्थान में आकाश में, ऊंची नीची जगह पर, गरमी, वायु, वर्षा में, धूल, धूम पानी में बच्चे को न छोड़े।

न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्माच्चस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र वा विधेयतामागच्छति, राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामानि चाह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥ चरक शा० अ० ८-६८ ॥४६,४८॥

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥४८॥

बालक को दूध सात्म्य जानकर उसे बकरी या गाय का दूध, माता का दूध पर्याप्त न होने पर योग्य मात्रा में देना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यदि धात्री का दूध पर्याप्त न हो तो बकरी का, वह न मिले तो गौ का दूध देना चाहिये। परन्तु ये दूध उष्ण करके पिलाए जायँ, आवश्यकता हो तो कुछ जल मिलाकर, उष्ण करके दिये जायँ। एक ही गौ अथवा बकरी का दूध देना चाहिये ॥४८॥

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥४९॥

छठे महीने में (जब दांत निकलते हैं) इस बालक को लघु और हितकर अन्न देवे।

वि० मन्तव्य—अन्न प्राशन का विधान छठे मास में अवश्य है, परन्तु यदि १–२ या ३–४ मास टाल दिया जाय तो और उत्तम है, और उचित तो यह है, कि जब तक दन्तोद्भेद न हो या पूर्णरूप से दन्त न आएँ तब तक अन्न का प्राशन न किया जाय अथवा अत्यन्त थोड़ा किया जाय, शीघ्र अन्न देने से—शिशु का उदर बढ़ जाता है और अनेक बाधाएँ भी होने लगती हैं। और जब अन्न खाने लग जाता है, तब उसे रोकना अथवा थोड़ा खाने के लिए बाध्य करना बहुत ही कठिन है, अथवा असम्भव है। बड़ी बुढ़ियों का विचार है कि जब तक जननी पुन: गर्भवती न हो तब तक अन्न देना ही न चाहिये, जितना ही अधिक दिनों में माता का दूध अथवा अपर्याप्त होने के कारण बकरी अथवा गौ का दूध पिया जाता है बालक उतना ही पुष्ट एवं स्वस्थ होता है और जीवन भर स्वस्थ रहता है। माता के गर्भवती होने पर भी माता का दूध छुड़ाकर बकरी का दूध यथासम्भव ३–५ वर्ष तक दिया जाय तो अत्युत्तम है। देखा जाता है कि जिन अभागों को थोड़े दिन दूध मिलता है अथवा शीघ्र अन्न देना प्रारम्भ कर दिया जाता है वे जीवन भर दुबले-पतले तथा अस्वस्थ रहते हैं ॥ ४९ ॥

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥५०॥

बालक को सदा अवरोध में (अन्त:पुर में) रक्खे, उपसर्ग (गिरना आदि) भय से उसको बचाये। ग्रहों के उपद्रवों से बालक की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—बालक के संरक्षण में सर्वदा सावधान रहना परमावश्यक है, वे संसार रूपी वाटिका के कोमल, सुगन्धित एवं मनोहर पुष्प हैं ॥ ५० ॥

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टोष्ठः क्रूरो भिन्नवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥५१॥

बालक उद्विग्न हो जाता है, डरता है, रोता है, बेहोश हो जाता है। नख दांतों से धात्री को और अपने को नोचता, काटता है। दांतों को कटकटाता है कराहता है, जम्भाई लेता है, भ्रुवों को ऊपर चढ़ाता है, ऊपर को देखता है, मुख से झाग फेंकता है। ओठों को काटता है। देखने में भयानक पतला-आम मल आता है, स्वर-दीन और पीड़ित होता है, रात को सोता नहीं, दुर्बल, मलिन अंगों का, शरीर से मछली, छुछुन्दर, खटमल की गन्ध आती है, पहले जिस प्रकार धात्री के दूध को चाहता था, वैसा अब नहीं चाहता, ग्रहों से आक्रान्त शिशु के ये सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षणों को उत्तर तंत्र में कहेंगे ॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५२॥

बालक के शक्तिमान् होने पर वर्ण के अनुसार उसको विद्या पढ़ावे ॥५२॥

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥५३॥

विद्याध्ययन करने पर जब आयु पच्चीस वर्ष की हो जाये तब सोलह साल की कन्या से इसका विवाह करवा दे। जिससे कि यह पितृऋण, धर्म, अर्थ काम और प्रजा को प्राप्त करे।

वक्तव्य—क्योंकि कहा है कि बिना संतान के स्वर्ग नहीं मिलता।

वि० मन्तव्य—पच्चीस वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री पूर्णरूप से बलवीर्य युक्त हो जाते हैं तभी उनका विवाह होना चाहिये। इस प्रकार वे दोनों—पित्र्य-माता पिता सास श्वसुर आदि बड़ों की सेवा कर सकते हैं, और उनके और्ध्व-दैहिक-श्राद्धादि कृत्य कर सकते हैं, धर्म—यज्ञ दान आदि एवं अपने धारण पोषण में समर्थ हो सकते हैं, अर्थ—धन कमाने के उपाय कर सकते हैं, काम—शारीरिक एवं मानसिक सुखों का लाभ और उपभोग कर सकते हैं और उत्तम सन्तान का उत्पादन कर सकते हैं और इसके विपरीत छोटी आयु में विवाह करने से उक्त सुखों का पूर्ण लाभ भी नहीं होता और भी वे दु:खी अथवा रोगी बने रहते हैं। आयु के उक्त २५ तथा १६ वर्षों का निर्देश उपलक्षण मात्र है, अत:—कोई पुरुष २० वर्ष की आयु में पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेता है, और कोई ३० वर्ष में प्राप्त करता है, अत एव-अष्टाङ्गसंग्रह में–२१ वर्ष, शार्ङ्गधर में २० वर्ष और मनुस्मृति में ३० वर्ष की आयु में विवाह का विधान किया गया है। परन्तु नारी का सोलह १६ वर्ष के पूर्व विवाह होना ही नहीं चाहिये, भलेही कोई कुछ कहे। वाग्भट के शब्दों में-पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संयुता। शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि। वीर्यवन्तं सुतं सूते, ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोगी अल्पायुः अधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा। अ० हृ० अ० १ ॥५३॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥५४॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥५५॥

पच्चीस वर्ष की आयु से कम आयु का पुरुष सोलह साल से कम आयु की कन्या में यदि गर्भाधान करता है, तो गर्भ

उदर में ही मर जाता है। यदि किसी प्रकार उत्पन्न हो जाये तो वह देर तक नहीं जीता। यदि किसी प्रकार जीवित रह जाये तो निर्बल इन्द्रियोंवाला होता है। इसलिये अत्यन्त छोटी आयु की कन्या में गर्भाधान न करे।

इसीसे संग्रह में कहा है—पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयाम्....उद्वहेत्। तस्यां षोडशवर्षीयायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत, तदा तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितं अवश्यं जनयतः॥

वि० मन्तव्य—१६ वर्ष से नीचे नारी को गर्भाधान हो जाने से सन्तान की हानि तो होती ही है, नारी को भी अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं, और जीवन भर के लिये रोगिणी बनकर जीना पड़ता है। उसके साथ २ पति देवता भी पत्नी एवं सन्तान के कष्टों से व्याकुल बने रहते हैं॥५४, ५५॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति॥५६॥

अति बूढ़ी, चिरकालीन रुग्णा, अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित स्त्री में गर्भाधान न करे। इसी प्रकार के व रुग्ण पुमान् में भी यही दोष होते हैं। (अर्थात् गर्भ उदर में मर जाता है)।

वि० मन्तव्य—अतिवृद्धा—५० वर्ष के पश्चात् भी कभी २ गर्भाधान हो जाता है, परन्तु वह गर्भ उत्तम गुण सम्पन्न नहीं होता। दीर्घरोगिणी—कुष्ठ अर्श आदि लम्बे रोगोंवाली स्त्री की सन्तान भी अर्श आदि से उपद्रुत होती है, अथवा जीर्ण ज्वर—यक्ष्मा, श्वास आदि रोगों से पीड़िता को प्रसव काल में मृत्यु आदि का भय हो सकता है और सन्तान भी रोगयुक्त, अपुष्ट तथा निर्गुण होती है। अन्येन वा विकारेण-उपदंश आदि योनि रोगों से उपद्रुत नारी में भी गर्भाधान करने से लाभ के स्थान में हानि ही होती है। इसी प्रकार के पुमान् भी इस योग्य नहीं होते कि वे गर्भाधान करें अन्यथा वे ही हानियाँ होती हैं, जो नारी के लिये कही गई हैं॥५६॥

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवंक्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च। तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीरपानैश्च। गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्। प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं च प्रक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः। वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्राकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम्, आनाहे हिङ्गुसौवर्चललशुनवचासिद्धम्। अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिकागैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दक्वाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्। अथादृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्यासिद्धं पयः पाययेत्। तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा बृहतीद्वयोरुपलशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते, रुजो गर्भश्चाप्यायते। व्यवस्थिते च गर्भे गव्येनोदुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्। अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि। वस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा। वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्। कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत। वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्। शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः, तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥५७॥

गर्भावक्रांति अध्याय में कहे तथा मूढ़गर्भ निदान में कहे कारणों से गर्भ के गिरते समय गर्भाशय-कटिवंक्षण-वस्ति में शूल होता है। रक्त दिखाई देता है। इसमें शीतस्पर्श, शीतवीर्य औषधियों से परिषेक, अवगाहन, प्रदेह आदि बरते। जीवनीय गण से सिद्ध किया दूध पीने को देवे। गर्भ के स्फुरण होने में उसको रोकने के लिए उत्पलादि गण से सिद्ध किया दूध बार-बार पीने को देवे। गर्भ के बहने के समय जलन, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, रक्त प्रदर, आनाह, मूत्र का अवरोध होता है। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसका आने पर कोष्ठ में शोथ होती है, इसमें स्निग्ध शीतल उपचार करें। वेदना होने पर मुद्गपर्णी, मुलैहठी, गोखरू, कटेरी से सिद्ध किये दूध में शर्करा और मधु मिलाकर पिलाये। मूत्र के अवरोध में पंचतृणमूल से सिद्ध दूध देवे। आनाह में हींग, संचल, लहसुन

और बचा से सिद्ध दूध देवे। रक्त के बहुत अधिक बहने पर कोष्ठागारिका (दिवारों में जो कीड़ा मिट्टी का घर बनाता है) नामक जन्तु के घर की मिट्टी, मजीठ, धाय के फूल, वनमालिका, गेरू, राल, रसौत इनका चूर्ण मधु से चटाये। बरगद आदि क्षीर वृक्षों की छाल या कोमल पत्ते जो मिल सकें उनको पीसकर दूध से पिलाये। उत्पलादि गण के कल्क को पीसकर दूध के साथ देवे। कसेरू, सिंघाड़ा, कमलकन्द, इनके कल्क को गरम किये दूध से देवे। गूलर के फल, पानी के कन्द इनके क्वाथ में शर्करा और मधु मिलाकर इससे चावलों को पीसकर देवे। बरगद आदि के क्वाथ में भिगोये वस्त्र के टुकड़े को योनि में रक्खे। यदि न दिखाई देने पर वेदना हो मुलहठी, देवदारु, मजीठ, विदारी से सिद्ध दूध पिलाये। अथवा अश्मन्तक, शतावरी, विदारी से या शालपर्णी आदिगण से सिद्ध दूध पिलाये। कटेरी, बड़ी कटेरी, कमल, शतावरी, सारिवा, विदारी और मुलहठी से सिद्ध दूध देवे। इस प्रकार करने से वेदनायें शान्त होती हैं, और गर्भ पुष्ट होता है। गर्भ के स्थिर हो जाने पर गूलर के कच्चे फलों से सिद्धकिये गाय के दूध से भोजन देवे। गर्भपात हो जाने पर लवण और स्नेहों से रहित उद्दालक (कोदो) से बनाई यवागू को पाचनीय (पञ्चकोल आदि) द्रव्यों से मिलाकर, जितने मास का गर्भ पात हुआ हो, उतने दिनों तक पिलाये। वस्ति में शूल होने पर दीपनीय द्रव्यों से युक्त पुराना गुड़ या अरिष्ट देवे। वायु के उपद्रवों के कारण गर्भ स्रोतों में छिपा रहता है, फिर वहाँ बहुत दिन रहने पर मर जाता है, इसमें मृदु स्नेहन आदि विधि से चिकित्सा करे।

उत्क्रोश—(कुरर) के मांस रस में बनाई यवागू में प्रचुर घी डालकर पिलाये। उड़द, तिल, कच्चे बिल्वफल से सिद्ध किये कुल्माषों (अर्ध स्विन्न गेहूँ या जो) को खाये। मधु मद्य माध्वीक मद्य पीछे से पीये। इस प्रकार सात दिन करे। समय (प्रसव समय तथा ६ या १० मास) के बीत जाने पर भी स्थिर रहे। गर्भ में—ऊखल में धान्य डालकर मूसल से कूटे। विषम सवारी या आसन (स्थान) को बरते। वायु से पीड़ित गर्भ सूख जाता है; यह गर्भ माता की कोख को पूरा नहीं भरता और धीमे से गति करता है। इस गर्भ की बृंहणीय द्रव्यों से सिद्ध दूध से और मांस रस से चिकित्सा करे। शुक्र और आर्त्तव के वायु से आक्रान्त होने पर जीवात्मा का अवतरण हो जाने पर उदर फूलता है, यह गर्भ जब कभी बिना किसी कारण के ही शान्त हो जाता है (बैठ जाता है या मर जाता है), तब इसको नैगमेष ने ले लिया है, ऐसा कहते हैं। यही गर्भ जब भी छिपा रहता है, तब इसको नागोदर कहते हैं, इसमें भी लीनगर्भ की भाँति चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। ततो यष्टीमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिसंस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत्। तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधो नाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्॥ (२) यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति गर्भे जातसारे पुष्पदर्शनं स्यात् अन्यो वा योनिस्रावः तस्याः गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति, निःसृतत्वात्। सकालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित्। उपवासव्रतकर्मपरायाः, पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति, परिशुष्कत्वात्। स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। तन्नागोदरमित्याचक्षते"॥ चरक०॥

जैसे गान्धारी का गर्भ समय के बहुत पीछे तक प्रसव नहीं हुआ था—फिर उसने गुस्से में उसे निकाल दिया था। जिस को महर्षि व्यास ने फिर बाहर रखकर पाला था। (३) गर्भ नष्ट होना—

असृङ् निरुद्धं पवनेन नार्याः
गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैः
उष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्॥
दृष्ट्वासृगेवं न च गर्भसंज्ञं
केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति॥ चरक॥

दूध पाक का नियम—

द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ ५७॥
अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः—॥ ५८॥
मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी॥ ५९॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च॥ ६०॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका॥ ६१॥
शृंगाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः॥
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः॥ ६२॥

इसके पश्चात् प्रत्येक मास में देने योग्य औषधियाँ कहते हैं। मुलहठी, सागौन के बीज, विदारी और देवदारु, पहले महीने में; अश्मन्तक, तिल, पिप्पली, मजीठ और शतावर, दूसरे मास में; वोदा, विदारी, प्रियंगु, कमलगट्टा, और अनन्तमूल, तीसरे महीने में; अनन्ता (दुर्वा या दुरालभा), सारिवा, रास्ना, भार्गी, और मुलहठी, चौथे मास में। कटेरी, बड़ीकटेरी,

गम्भारी, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कोमल पत्ते और छाल, घृत, इनको पाँचवें मास में। पृश्निपर्णी, बला, सहजन, गोखरू और गिलोय छठें मास में। सिंघाड़ा, बिस, द्राक्षा, कसेरु, मुलहठी और मिश्री सातवें मास में, प्रत्येक मास में दूध के साथ इनको देवे। ये सात योग आधे श्लोक में कहे गये हैं। गर्भ स्राव में क्रमशः दूध के साथ इनको बरतना चाहिये॥

कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिकाः।
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्भिषगष्टमे ॥ ६३ ॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥ ६४ ॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ ६५ ॥

आठवें मास में—कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, परवर, ईख, छोटी कटेरी, की जड़ से सिद्ध किया दूध देवे। नवम मास में—मुलहठी, दूर्वा, क्षीर विदारी और अतन्त मूल से सिद्ध दूध पीये। दसवें मास में—सोंठ और क्षीरकाकोली से सिद्ध किया दूध देना चाहिये। अथवा सोंठ, मुलहठी, देवदारु से सिद्ध किया दूध देवे। इस प्रकार से गर्भ पुष्ट होता है, और तीव्र वेदना शान्त होती है ॥ ६३-६५ ॥

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥६६॥

प्रसव निवृत्ति के पीछे यदि छः साल के ऊपर प्रसूति हो तो बालक अल्पायु होता है।

वक्तव्य—गर्भाशय या योनि दोष के कारण ही प्रसव-या गर्भाधान होना रुकता है। इनकी चिकित्सा न करने पर यदि आहार-विहार के कारण अचानक गर्भ रहकर प्रसव होता है, तो वह अल्पायु होता है।

वि० मन्तव्य—किसी २ को १५-२० वर्ष पश्चात् सन्तान होती है या होनी प्रारम्भ हो जाती है ॥६६॥

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥६७॥

गर्भवती स्त्री को यदि कोई महान् भयानक रोग उत्पन्न हो जाय तो मधुर-अम्ल अन्न के साथ वमन करे और मधुर-अम्ल अन्न से उसे अनुलोमन कराये। संशमनीय चिकित्सा करे। खान पान में नरम वस्तु देवे। मृदुवीर्य, प्रायः करके मधुर, गर्भ के लिये अविरोधि भोजन करे। गर्भ के अप्रतिकूल एवं कोमल जो योग्य क्रियायें—उपचार हों, उनको बरते।

वि० मन्तव्य—सामान्यतः गर्भिणी को वमन विरेचन का निषेध है, तथापि अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर करना चाहिये, यथा—अलसक विलम्बिका आदि विषविकारों में तथा कफजनित विकारों में-वमन तथा पित्तज विकारों में एवं पुरीषरोध आदि में विरेचन आवश्यक होता है ॥ ६७ ॥

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
मत्स्याक्षकः शंखपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥६८॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥६९॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥७०॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां तृतीयं शारीरस्थानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

(१) सुवर्ण भस्म, कूठ, मधु घृत और वच इन इनका उत्तम चूर्ण, (२) ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णभस्म, (३) अर्कपुष्पी, मधु, घी, सुवर्ण भस्म और वच, (४) स्वर्ण भस्म, वकायन, श्वेता (अपराजिता), दूर्वा, घी और मधु, ये चार प्राश आधे श्लोकों से बताये गये हैं। ये योग बालकों के शरीर-मेधा, बल और बुद्धि को बढ़ाते हैं।

वक्तव्य—कैडर्य का अर्थ गम्भारी उत्तम है। क्योंकि कहा भी है—

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम्।
शिताकाश्मर्यमधुकैः, हितमुत्थापने पयः ॥ ६८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

शारीरकोष्ठकानि

पंचविंशतितत्त्वानि

२५ पुरुषः

१ अव्यक्तम्

२ महान्

३ अहंकार

वैकारिकः (तैजससहायः) १४ एकादशेन्द्रियाणि | तैजसः | भूतादिः (तैजससहायः) १६ पंचतन्मात्राणि

(पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः)

१. श्रोत्रम् २. त्वक् ३. चक्षुः, ४. जिह्वा ५. घ्राणम्

विषयाः—शब्दः स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धः

पञ्चकर्मेन्द्रियाणि

१. वाक् २. हस्तः ३. उपस्थम् ४. पायुः ५. पादः

विषयाः—वचनम् आदानम्, आनन्दनम् विसर्गः, विहरणम्

१. शब्दतन्मात्रम् २. स्पर्शतन्मात्रम् ३. रूपतन्मात्रम् ४. रसतन्मात्रम् ५. गन्धतन्मात्रम्

२० आकाशं २१ अनिलः २२ अनलः २३ जलम् २४ उर्वी

त्वचां विभागाः

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य (भूतात्माधिष्ठितस्य) त्वचः सु० शा० शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव

सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति

संख्या	नाम	कार्यक्रमम्	प्रमाणम्	अधिष्ठानम्
प्रथमा	अवभासिनी	सर्ववर्णानवभासयति पंचविधां छायां च प्रकाशयति	व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा	सिध्मपद्मकंटकौ
द्वितीया	लोहिता		व्रीहिषोडशभागप्रमाणा	तिलकालकन्यच्छव्यंगानि
तृतीया	श्वेता		व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा	चर्मदलम् अजगल्ली मशकः
चतुर्थी	ताम्रा		व्रीहेरष्टभागप्रमाणा	विविधकिलासकुष्ठानि
पंचमी	वेदिनी		व्रीहिपंचभागप्रमाणा	कुष्ठविसर्पौ
षष्ठी	रोहिणी		व्रीहिप्रमाणा	ग्रन्थिः, अपची, अर्बुदम्, श्लीपदम्, गलगण्डम्
सप्तमी	मांसधरा		व्रीहिद्वयप्रमाणा	भगन्दरः, विद्रधिः अर्शः

कलाः (सप्त) (सु० शा० अ० ४.५. २३)

धात्वाशयान्तरमर्यादाः

संख्या	नाम	अधिष्ठानम्	कार्यम्
प्रथमा	मांसधरा	मांसम्	यस्यां सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति।
द्वितीया	रक्तधरा	मांसस्य अभ्यन्तरतः	तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहानश्च भवन्ति।
तृतीया	मेदोधरा	उदरस्थमण्वस्थिषु	
चतुर्थी	श्लेष्मधरा	सर्वसन्धिषु	स्नेहाभ्यक्तं यथा ह्यक्षचक्रं साधु प्रवर्तते संधयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्माणः तथा।
पंचमी	पुरीषधरा	पक्वाशयस्था	या अन्तःकोष्ठे मलमभिविभजत् यकृत्समन्तात् कोष्ठं च, तथाऽन्त्राणि समाश्रिता (सा) उण्डुकस्थं विभजते मलम्।
षष्ठी	पित्तधरा	पक्वामाशयमध्यस्था	या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति (पाकार्थम्)।
सप्तमी	शुक्रधरा	सर्वशरीरव्यापिनी	यथा पयसि सर्पिस्तु गूढं चेक्षौ रसो यथा शरीरेषु तथा शुक्रं विद्यात्।

अस्थिसंख्याविवरणम्—१

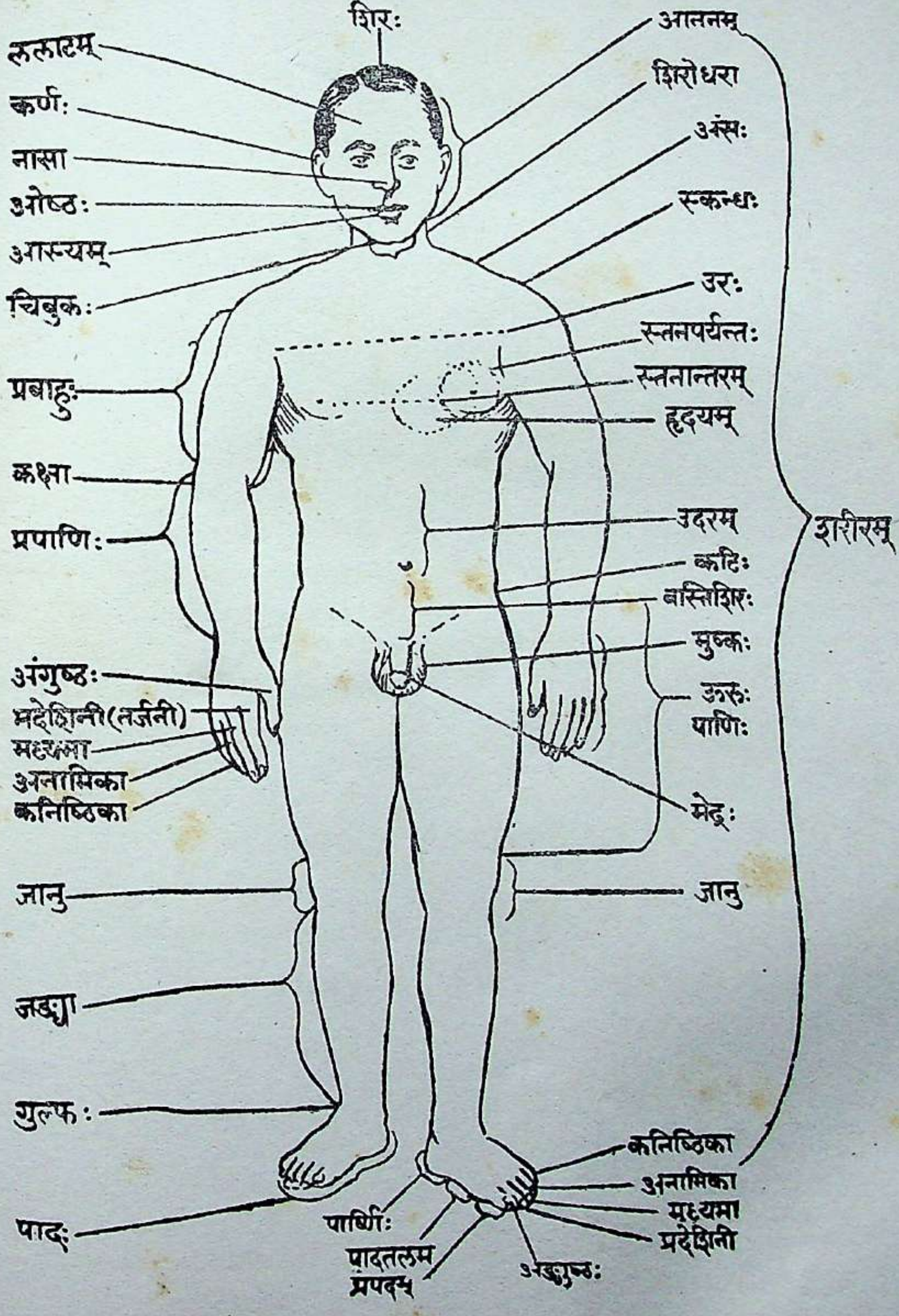
अस्थिनामानि	संग्रहे	चरके	सुश्रुते	प्रत्यक्षशारीरे
नखानि	२०	२०	न गणितानि	न गणितानि
अंगुल्यस्थीनि	६०	६०	६०	५६
अंगुलिशलाकाः	२०	२०	तलास्थीनि २०	२०
अंगुलिशलाकाबन्धने	४	अधिष्ठानानि ४	कूर्च-२०	पादकूर्चेषु १४ हस्तकूर्चेषु १६ = ३०
अंगुलिशलाकाकूर्चास्थीनि	८	—	गुल्फयोः २०	
गुल्फास्थीनि	४	४	२	
मणिबन्धास्थीनि	४	२	२	
पार्ष्ण्यस्थीनि	२	२	—	
मणिबन्धौ	२	—		
—	—	जानुकपालिके २	४	—
जंघास्थीनि	४	४	४	४
प्रकोष्ठास्थीनि	४	अरत्न्यस्थीनि ४	४	४
जान्वस्थीनि	२	२	२	२
कूर्परौ	२	—	२	—
ऊर्वस्थीनि	२	२	२	२
प्रगण्डास्थीनि	२	बाह्वस्थीनि २	२	२
एवम् शाखास्थीनि	१४०	१२८	१२०	१२०
पर्शुकाः	२४	२४	२४	२४
पर्शुकास्थालकानि	२४	२४	२४	—
पर्शुकास्थालकार्बुदानि	२४	२४	२४	—
पृष्ठे	३०	४५	३०	कशेरुका २४
उरसि	८	१४	८	उरःफलम् १
भगास्थि	१	१	१	—
त्रिकास्थिनी	१	—	१	१
नितंबास्थिनी	२	श्रोणिफलके २	२	२
अक्षकास्थिनी	२	२	—	२
अंसास्थिनी	२	—	—	—
अंसफलकास्थिनी	२	२	२	२
गुदास्थि	—	—	१	१
—	—	—	—	कण्ठास्थि १
एवमन्तराधौ	१२०	१३८	१७	५८

अस्थिसंख्याविवरणम् (२)

अस्थिनामानि	संग्रहे	चरके	सुश्रुते	प्रत्यक्षशारीरे	
ग्रीवायाम्	१३	१५	६	पृष्ठवंशे	
कंठनाड्याम्	४	—	४	गणितानि	
हनुबन्धने	२	२	३२	ऊर्ध्वहनु	२
दन्ताः	३२	३२			—
दन्तोलूखलानि	३२	३२	नगणिता		—
नासायाम्	३	१	३		२
शिरसि	६	शिरःकपालानि ४	६	शिरःकपालानि	४
गण्डास्थिनी	२	१	२		२
कर्णास्थिनी	२	—	२		—
जत्रु	२	२	—		२
तालु	१	१	१		—
हन्वस्थि	१	१	—		२
ललाटास्थि	—		—		१
	—				—
				जतुकास्थि	१
				झर्झरास्थि	१
				नासाशुक्तिके	२
				नासामध्यसिरिका	१
				अश्रुपीठे	२
एवं ग्रीवाशिरोस्थीनि,	१००	६४	६३	केवल शिरोस्थीनि	२२
एवम् शरीरेऽस्थि— संख्या—	३६०	३६०	३००		†२००

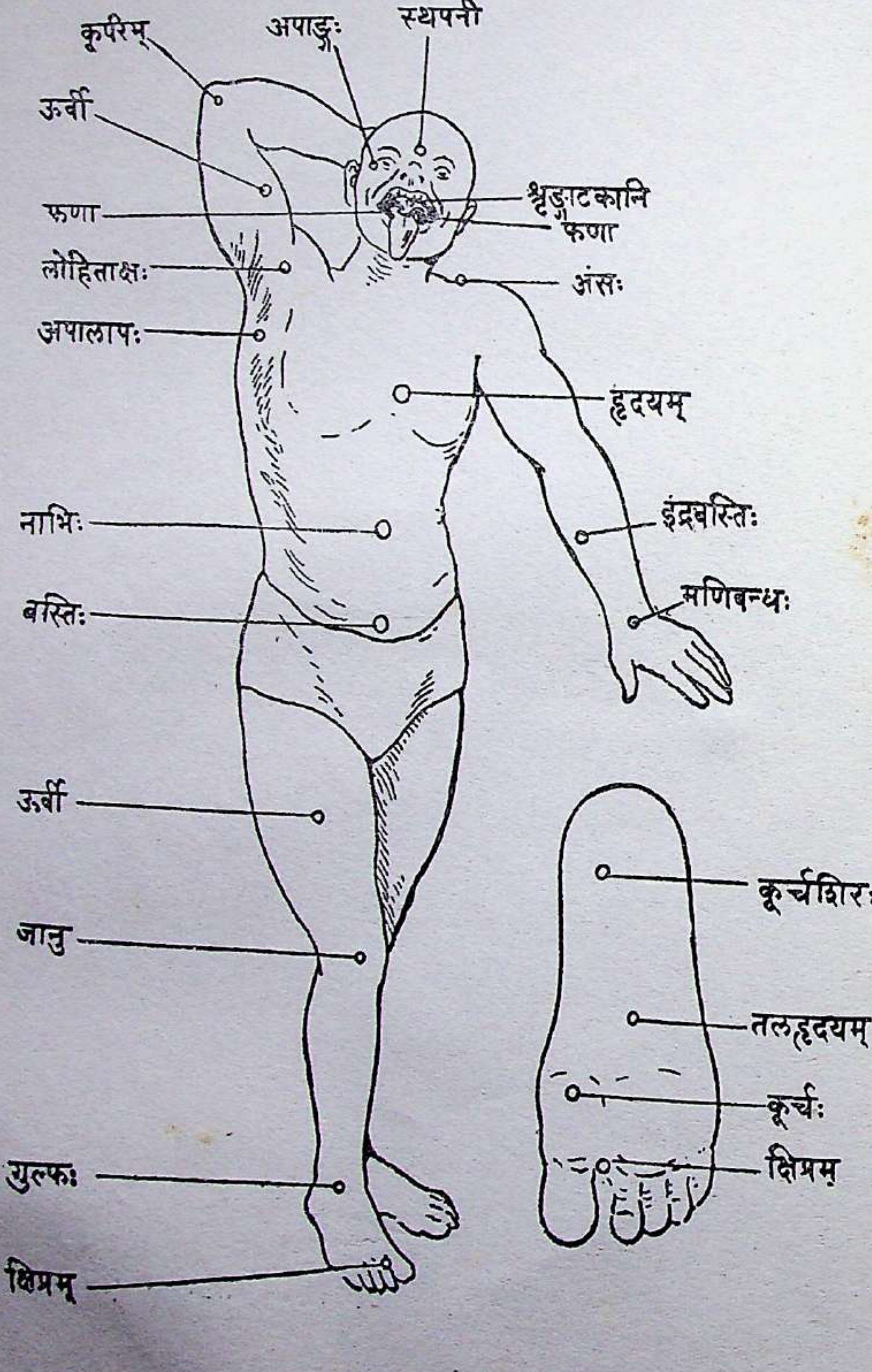
† केवल षट्संख्याकानि कर्णान्तरास्थीन्यन्तर्भाव्य २०६ संख्यामस्थ्नां ब्रूते ।

अंगप्रत्यंगानि ।

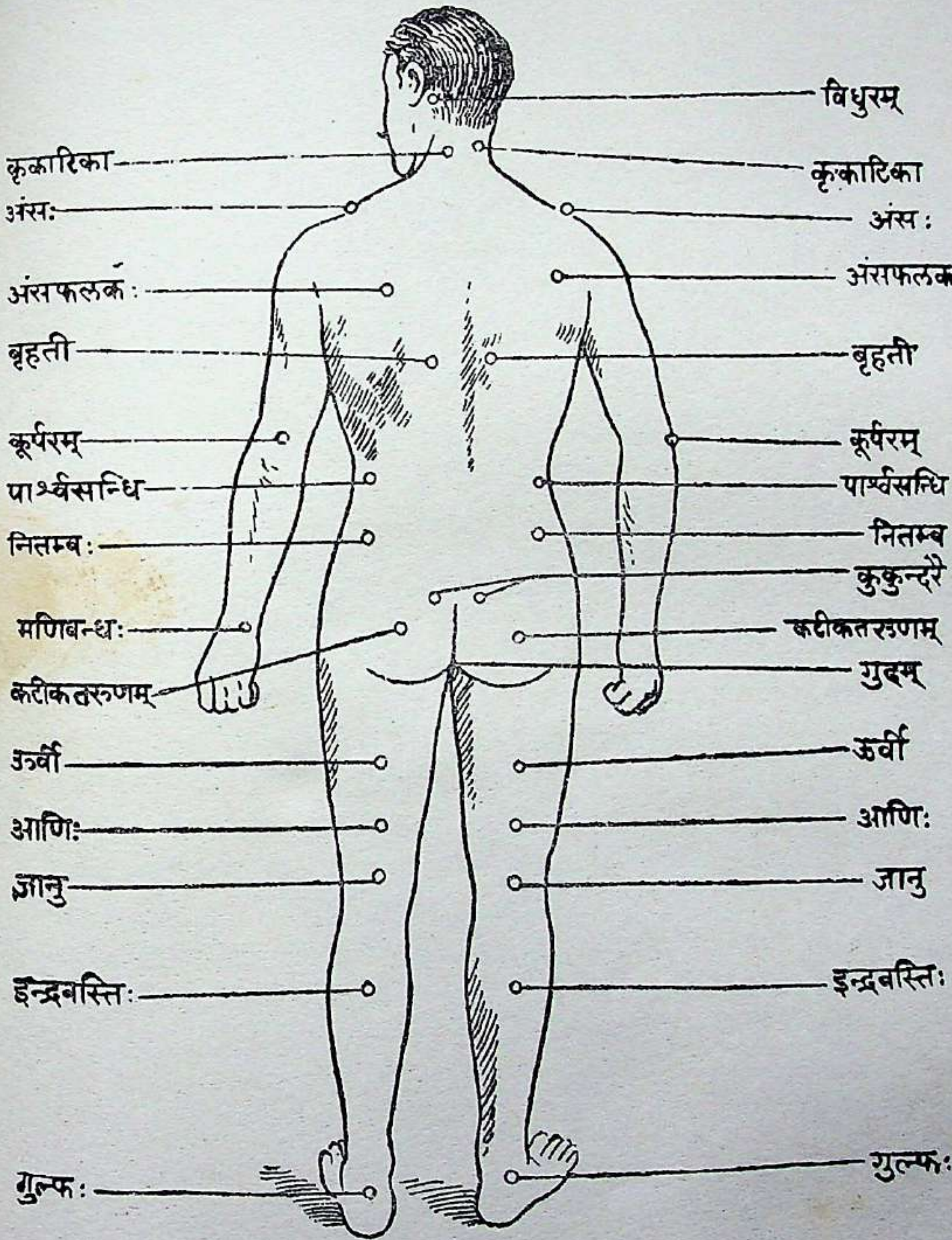


शिरः
ललाटम्
कर्णः
नासा
ओष्ठः
आस्यम्
चिबुकः
प्रबाहुः
कक्षा
प्रपाणिः
अंगुष्ठः
प्रदेशिनी (तर्जनी)
मध्यमा
अनामिका
कनिष्ठिका
जानु
जङ्घा
गुल्फः
पादः
आननम्
शिरोधरा
अंसः
स्कन्धः
उरः
स्तनपर्यन्तः
स्तनान्तरम्
हृदयम्
उदरम्
कटिः
बस्तिशिरः
मुष्कः
ऊरुः
पाणिः
मेढ्रः
जानु
शरीरम्
कनिष्ठिका
अनामिका
मध्यमा
प्रदेशिनी
पार्ष्णिः
पादतलम्
प्रपदम्
अङ्गुष्ठः

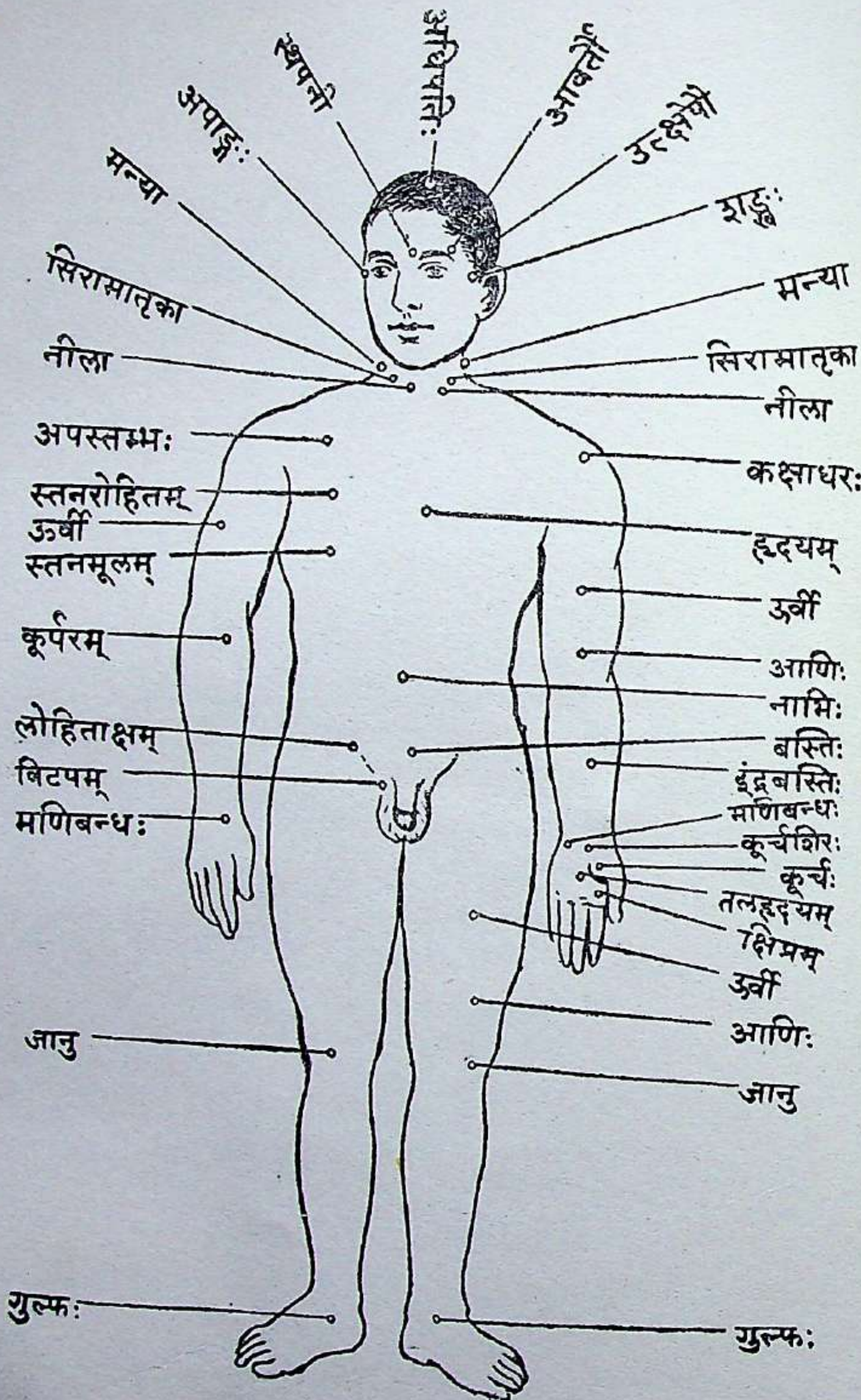
मर्मशारीरम् ।


कूर्परम्
अपाङ्गः
स्थपनी
ऊर्वी
शृङ्गाटकानि
फणा
फणा
लोहिताक्षः
अंसः
अपालापः
हृदयम्
नाभिः
इंद्रबस्तिः
मणिबन्धः
बस्तिः
ऊर्वी
कूर्चशिरः
जानु
तलहृदयम्
कूर्चः
क्षिप्रम्
गुल्फः
क्षिप्रम्

मर्मशारीरम् ।


विधुरम्
कृकाटिका
कृकाटिका
अंसः
अंसः
अंसफलकः
अंसफलकः
बृहती
बृहती
कूर्परम्
कूर्परम्
पार्श्वसन्धि
पार्श्वसन्धि
नितम्बः
नितम्ब
कुकुन्दरे
मणिबन्धः
कटीकतरुणम्
कटीकतरुणम्
गुदम्
ऊर्वी
ऊर्वी
आणिः
आणिः
जानु
जानु
इन्द्रबस्तिः
इन्द्रबस्तिः
गुल्फः
गुल्फः

मर्मशारीरम् ।



अपाङ्गः
स्थपनी
अधिपतिः
आवर्तौ
उत्क्षेपौ
शङ्खः
मन्या
सिरामातृका
नीला
मन्या
सिरामातृका
नीला
अपस्तम्भः
कक्षाधरः
स्तनरोहितम्
ऊर्वी
स्तनमूलम्
हृदयम्
ऊर्वी
कूर्परम्
आणिः
नाभिः
लोहिताक्षम्
बस्तिः
लिटपम्
इंद्रबस्तिः
मणिबन्धः
मणिबन्धः
कूर्चशिरः
कूर्चः
तलहृदयम्
क्षिप्रम्
ऊर्वी
आणिः
जानु
जानु
गुल्फः
गुल्फः

अस्थिसन्धयः २१०

(दशोत्तरे द्वे शते)

	सन्धिसंख्यास्थिराः		चेष्टावन्तः
१ शाखासु = ६८	०		६८
२ कोष्ठे = ५६	५६		३
३ मूर्धनि ८३	७३	+	१०
२१०=	१२९		८१

अस्थिसन्धिविस्तारवर्णनम्

				सन्धिसंख्या
(१) शाखासु—(६८)	एकस्मिन् सक्थिन एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां		३×४=१२	
	अंगुष्ठे	=	२	
	गुल्फे, जानुनि वंक्षणे, १ १ १	=	३ १७	
	एवं तिसृषु शाखासु	=	१७×४=	६८
(२) अन्तराधौ—(५६)	कटिकपालेषु	=	३	
	पृष्ठवंशे	=	२४	
	पार्श्वयोः	=	२४	
	उरसि	=	८	
			५६ =	५६
(३) मूर्धनि—(८३)	ग्रीवायाम्	=	८	
	कंठनाड्याम्	=	३	
	हृदययकृत्क्लोमनाडीषु कंठनाडीनिबद्धाः	=	१८	
	दन्तमूलेषु	=	३२	
	काकलनासामूर्धसु १ १ १	=	३	
	गंड–कर्ण–शंख–वर्त्म–नेत्र–हनुसंधिषु = २, २, २, २, २, २,		१२	
	भ्रुवारुपरिष्टात्	=	२	
	शिरःकपालेषु	=	५	
			८३ =	८३
२१०				२१०

स्नायूनां नवशतानि [९००]

		एकस्मिन् सक्थ्नि		स्नायुसंख्या
१ शाखासु	६००	एकैकस्यां पादांगुल्याम्	६ × ५—३०	
		तलकूर्चगुल्फेषु	१० × ३—३०	
		जंघायाम्	—३०	
		जानुनि	—१०	
		ऊरौ	—१०	
		वंक्षणे	—३०	
			१५० × ४—६००	६००
२ कोष्ठे	२३०	कट्याम्	—६०	
		पृष्ठे	—८०	
		पार्श्वयोः	—६०	
		उरसि	—३०	
			२३०	२३०
३ ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम	७०	ग्रीवायाम्	—३६	
		मूर्ध्नि	—३४	
			७०	७०
	९००			९००

द्विविधाः स्नायवः

- १ बाह्याः
- २ आभ्यन्तराः

चतुर्विधाः स्नायवः

- १ प्रतानवत्यः — शाखासु—
- २ वृत्ताः — सर्वसंधिषु—
- ३ पृथुल्यः — पार्श्वोरसि, पृष्ठे शिरसि।
- २ सुषिराः — आमपक्वाशयान्तेषु, बस्तौ

स्नायुकर्म

एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः॥

पेशीनां पंचशतानि [५००]

(मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते)

(१) शाखासु—	४००	पेशी संख्या
एकस्मिन् सक्थ्नि —		
एकैकस्यां पादांगुल्यां	३ × ५ = १५	
प्रपदे	—१०	
पादोपरि कूर्चसन्निविष्टाः	—१०	
गुल्फ-तलयोः	—१०	
५ ५		
गुल्फजान्वन्तरे	—२०	
जानुनि	—५	
ऊरौ	—२०	
वंक्षणे	१०	
	१०० × ४	४००

(२) कोष्ठे	६६	
पायौ	—१	
मेढ्रे	—१	
सेवन्याम्	—३	
वृषणयोः	—२	
स्फिचोः	५ × ५ = १०	
बस्तिशिरसि	—२	
उदरे	—५	
नाभ्याम्	—१	
पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टादीर्घाः	५ + ५–१०	
पार्श्वयोः	—६	
वक्षसि	—१०	
अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात्	—७	
हृदयामाशययोः	—२	
यकृत्प्लीहोण्डुकेषु	—६	
	६६	६६

(३) ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम्	= ३४	पेशी संख्या
ग्रीवायाम्	—४	
हन्वोः	—८	
काकलकगलयोः	—२	
९ १		
तालुनि	—२	
जिह्वायाम्	—१	
ओष्ठयोः	—२	
नासायाम्	—२	
नेत्रयोः	—२	
गण्डयोः	—४	
कर्णयोः	—२	
ललाटे	—४	३४
शिरसि	—१	
	३४	५००
स्त्रीणां तु विंशतिरधिकाः		
स्तनयोः	५ × २ = १०	
अपत्यपथे	—४	
गर्भच्छिद्रसंश्रिताः	—३	
शुक्रार्तवप्रवेशिन्यः	—३	
	३०	

पेशीनां स्थानवशात् नानास्वरूपत्वम् (प्रकाराः)

१. बहलाः	७. ह्रस्वाः
२. पेलवाः	८. दीर्घाः
३. स्थूलाः	९. स्थिराः
४. अणवः	१०. मृदवः
५. पृथवः	११. श्लक्ष्णाः
६. वृत्ताः	१२. कर्कशाः

सन्ध्यस्थिसिराः पेशीकर्म ।
स्नायुप्रच्छादकाः सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥

सिरासंख्याविवरणम् (सुश्रुतात्)

(सिरासंख्या—७००)

मूला सिरा—४०

वातवाहिन्यः	पित्तवाहिन्यः	कफवाहिन्यः	रक्तवाहिन्यः
१०	१०	१०	१०
(अरुणाः)	(उष्णाः नीलाः)	(शीताः गौर्यः स्थिराः)	(नात्युष्णशीतलाः रोहिण्यः)
वातस्थानगताः	पित्तस्थानगताः	कफस्थानगताः	रक्त-(यकृत् प्लीहा) स्थानगताः
१७५	१७५	१७५	१७५

वातवाहिन्यः सिराः १७५

एकस्मिन् सक्थ्नि	२५×४=१००	१००
कोष्ठे—		
श्रोण्याम् गुदमेढ्राश्रितः	८	
पार्श्वयोः द्वे द्वे	४	
पृष्ठे षट्	६	३४
उदरे षट्	६	
वक्षसि दश	१०	
जत्रुणः ऊर्ध्वम्		
ग्रीवायाम्	१४	
कर्णयोः	४	
जिह्वायाम्	६	
नासिकायाम्	६	४१
नेत्रयोः	८	
		१७५

एवम् पित्तकफरक्तवाहिसिरासु बोद्धव्यम् =७००

विशेषः पित्तवाहिषु—कर्णयोः २ नेत्रयोः १०

सिराः सप्तशतानि (७००)

	व्यधनीयाः सिराः	अव्यधनीयाः सिराः	सिरासंख्याः
(१) शाखागताः	३७४	१६	४००
(२) अन्तराधिगताः	१०४	३२	१३६
(३) मूर्धगताः	११४	५०	१६४
	६०२	९८	७००

व्यधनीयाव्यधनीयसिराणां विस्तारवर्णनम्

सिरासंख्या (७००)		अव्यधनीयसिरासंख्या (९८)		
(१) शाखागताः—		जालन्धरा	१	
एकस्मिन् सक्थ्नि शतं सिराः		ऊर्वीसंज्ञे	२	
१०० × ४ = ४००		लोहिताक्षसंज्ञा	१	
			४ × ४ =	१६
(२) अन्तराधिगताः—		वंक्षणयोः (विटपयोः)	४	
श्रोण्याम्	३२	कटीकतरुणयोः	४	
(गुदमेढ्राश्रयाः)			८	
पार्श्वगताः	१६	पार्श्वयोः तयोरूर्ध्वंगाम् एककाम्	१	
		पार्श्वसंधिसंज्ञाम् (मर्मणि)	१	
			२	
पृष्ठगताः	२४	पृष्ठवंशमुभयतः द्वे द्वे	२	
		ऊर्ध्वगामिन्यौ	२	
			४	३२
उदरगताः	२४	मेढ्रस्योपरि रोमराजीमुभयतो	२	
		द्वे द्वे	२	
			४	
वक्षोगताः	४०	हृदये द्वे	= २	
	१३६	स्तनमूलयोः	= ४	
		स्तनरोहितयोः	= ४	
		अपस्तम्भयोः	= २	
		अपालापयोः	= २	
			१४	

(३) मूर्धगताः—		नीले २ मन्ये २	=	४	
ग्रीवागताः	२४	मातृका	=	८	
		कृकाटिकयोः	=	२	
		विधुरयोः	=	२	
				१६	
हनुगताः	१६	सन्धिसंबंधिन्यौ	=	२	
जिह्वागताः	१६	रसवेदिन्यौ	=	२	
		वाक्प्रवर्तिन्यौ	=	२	
				४	
नासागताः	२४	गन्धवेदिन्यौ	=	२	
		तालुनि	=	१	५०
				३	
नेत्रगताः	५६	उन्मेष निमेषक्रिये अपांग	=	६	
ललाटे नासानेत्रगताः		२ २ २			
		केशान्तानुगता आवर्त स्थपनि	=	७	
		४ २ १			
				१३	
कर्णगताः	१६	शब्दवाहिन्यौ शंखसंधिगते	=	४	
		२ २			
शिरोगताः	१२	उत्क्षेपयोः सीमन्तेषु अधिपति	=	८	
		२ ५ १			
	१६४				
	७००				९८

मर्मविवरणं कोष्ठकम्

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः					स्थानम्	विशेषः
			मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म		
	(१) सद्यः प्राणहराणि—१९								
१	गुदम्	१	✿					स्थूलांत्रप्रतिबद्धम्	वातवर्चोनिरसनम्
२	वस्तिः (मूत्राशयः)	१		✿				कट्या अभ्यन्तरतः	अल्पमांसशोणितः धनुर्वक्र एकद्वारोऽधोमुखः
३	नाभिः	१		✿				पक्वामाशयमध्ये	
४	हृदयम्	१		✿				कोष्ठवक्षसोः स्तनयोश्च मध्ये	सत्वरजस्तमोधिष्ठानमामाशयद्वारम्
५	मातृकाः	८		✿				ग्रीवायामुभयतः	
६	शंखौ	२						भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपर्यनुकर्णललाटे	
७	शृङ्गाटकानि	४		✿	✿	✿		जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्रतर्पणीनां सिराणां तालुनि संनिपातः	
८	अधिपतिः (रोमावर्तः)	१					✿	अन्तर्मस्तकं सर्वोर्ध्वं सिरा, संधीनां संगमः	
	(२) कालान्तर प्राणहराणि ३०								
९	तलहृदयानि	४	✿					पादकरतलमध्ये मध्यमांगुल्यभिमुखेन	तत्र विद्धस्य रुजया मरणम्
१०	क्षिप्राणि	४			✿			अंगुष्ठांगुल्योर्मध्ये	तत्राऽऽक्षेपकेन मरणम्
११	इन्द्रबस्तयः	४	✿					पार्ष्णिमणिबन्धप्रभृति जंघाप्रपाणिमध्ये	शोणितक्षयान्मरणम्
१२	स्तनमूले	२		✿				वक्षसि स्तनयोरधस्ताद्द्वयङ्गुलमुभयतः	कफपूर्णकोष्ठस्य मरणम्
१३	स्तनरोहिते	२	✿					वक्षसि स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः	शोणितपूर्णकोष्ठस्य मरणम्
१४	अपस्तम्भौ	२						वक्षसि उभयोः द्वे वातवहे नाड्यौ	शोणितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम् (वातपूर्णकोष्ठतया इति सुश्रुतः)

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म	स्थानम्	विशेषः
१५	अपालापौ	२		❁				अंसपार्श्वान्तरयोर्मध्ये किंचित्पार्श्वभागे	पूयत्वमापन्नेन रक्तेन मरणम्
१६	कटिकतरुणे	२				❁		पृष्ठवंशस्य द्वयोः पार्श्वयोः विद्यमाने प्रतिश्रोणिकर्णावस्थिनी	शोणितक्षयात्पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते
१७	नितम्बौ	२				❁		पृष्ठवंशस्य द्वयोः पार्श्वयोः श्रोणिकर्णयोरुपरि पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पक्वाशयस्याच्छादने	अधःकाये शोफः दौर्बल्यं मरणम् च (अधःकाये शोष इति सुश्रुतः)
१८	पार्श्वसन्धौ	२		❁				जघनपार्श्वयोर्मध्ये तिर्यगूर्ध्वं च	शोणितपूर्णकोष्ठतया मरणम्
१९	बृहत्यौ	२					❁	पृष्ठवंशस्योभयतः स्तनमूलयोरार्जवेन	शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्मरणम्
२०	सीमन्ताः	५					❁	शिरसितिर्यगूर्ध्वं च कपालानां पंचसंधयः	उन्माद भ्रमचित्तनाशैर्मरणम् (भ्रम शब्दस्थले भयशब्दं प्राह सुश्रुतः)
२१	(३) विशल्यघ्नानि ३ उत्क्षेपौ	२						शंखयोरुपरि केशान्ते	अपशल्यो जीवति पाकाद्वा स्वयं पतिते शल्ये जीवति उद्धृतशल्यो न जीवेत्
२२	स्थपनी	१	❁					भ्रुवोर्मध्ये	उत्क्षेपवत्
२३	(४) विकलत्वकराणि ४४ कूर्चाः	४			❁			क्षिप्रस्योपरि द्व्यङ्गुले उभयतः	हस्तपादयोः भ्रमणवेपने
२४	जानुनी	२					❁	जंघोर्वोःसन्धाने	खञ्जता
२५	कूर्परौ	२					❁	प्रपाणिप्रबाहुसंगमे	कुणिता
२६	आणयः	४			❁			जानुकूर्परयोस्त्र्यंगुलादूर्ध्वमुभयतः	शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिबाहुता च
२७	ऊर्व्यः	४		❁				ऊरुप्रबाह्वोर्मध्ये	रक्तक्षयात् सक्थिप्रबाहुशोथः
२८	लोहिताक्षाणि	४		❁				ऊरुप्रबाह्वोर्मूले वंक्षणस्कन्धसन्ध्योरधस्तात्	रक्तक्षयात् पक्षाघातैः [सक्थि (प्रबाहु) शोष इत्यधिकं सुश्रुते]
२९	विटपौ	२			❁			वंक्षणवृषणयोर्मध्ये	षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा
३०	कक्षाधरौ	२			❁			कक्षाक्षमध्ये	कुणिता
३१	कुकुन्दरौ	२					❁	पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतः	स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टानाशश्च

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः					स्थानम्	विशेषः
			मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म		
३२	अंसौ	२			❀			ग्रीवाबाहुशिरोमध्ये अंसपीठ-स्कंधबन्धनौ	स्तब्धबाहुता
३३	अंसफलकौ	२				❀		पृष्ठवंशमुभयतो बाहुमूल-संबद्धे	बहुस्वापशोषौ
३४	नीले	२		❀				कंठनाडीमुभयतः	मूकता स्वरवैकृत्यं रसा-ग्राहिता वा
३५	मन्ये	२		❀				कंठनाडीमुभयतः	नीलावत्
३६	कृकाटिके	२		❀			❀	शिरोग्रीवयोः संधाने	चलमूर्धता
३७	विधुरे	२			❀			कर्णपृष्ठयोरधः संश्रिते	बाधिर्यम्
३८	फणौ	२		❀				घ्राणमार्गमुभयतः श्रोत्रमार्ग-प्रतिबद्धौ अभ्यन्तरतः	गन्धाज्ञानम्
३९	अपांगौ	२		❀				भ्रुवोः पुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णां बाह्यतः	आन्ध्यम् दृष्ट्युपघातो वा
४०	आवर्तौ	२			❀		❀	भ्रुवारुपारानम्रया	अपांगवत् रुजाशोफौ
४१	(५) रुजाकराणि ८ कूर्चशिरांसि	४					❀	गुल्फमणिबन्धसन्ध्योरधः	
४२	गुल्फौ	२			❀			पादजंघयोः सन्धाने	रुक्स्तब्धसक्थिता षण्ढता वा
४३	मणिबन्धौ	२					❀	करप्रयाण्योः सन्धाने	कुणिता

धमन्यः चतुर्विंशतिः (सु० शा० ६–४–६)

(नाभिप्रभवाः)

ऊर्ध्वगाः १०

हृदयमभिप्रपन्नाः त्रिधा जायन्ते ताः त्रिंशत्

वातवहे	२
पित्तवहे	२
कफवहे	२
शोणितवहे	२
रसवहे	२
शब्दवहे	२
रूपवहे	२
रसवहे	२
गन्धवहे	२
द्वाभ्यां भाषते	२
द्वाभ्यां घोषं करोति	२
द्वाभ्यां स्वपिति	२
द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते	२
द्वे अश्रुवाहिण्यौ	२
द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः	२
ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यां अभिवहतः	
	३०

अधोगामिन्यः १०

पित्ताशयमभिप्रपन्नाः आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते ताः त्रिंशत्

वातवहे	२
पित्तवहे	२
कफवहे	२
शोणितवहे	२
रसवहे	२
अन्नवाहिन्यौ (अंत्राश्रिते)	२
तोयवहे	२
मूत्रवहे (मूत्रबस्तिनाभिप्रपन्ने)	२
शुक्रवहे (शुक्रप्रादुर्भावाय)	२
शुक्रवहे (विसर्गाय)	२
वर्चोनिरसन्यौ (स्थूलांत्रप्रतिबद्धे)	२
द्वे तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदं अर्पयन्ति	८
	३०

तिर्यग्गाः ४

एकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसंख्येयाः .

तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि यैः स्वेदं अभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति, तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वांगगताः ।

ते एव रक्तमभिवहतो (विसृजतश्च) नारीणामार्तवसंज्ञम्

अथ चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद द्विव्रणीय चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वतरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—दो प्रकार के व्रणों को ध्यान में रखकर लिखी चिकित्सा अर्थात् व्याधि प्रतिकार ॥ १,२ ॥

द्वौ व्रणौ भवतः—शारीरः आगन्तुश्च। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः, आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषु परशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिजातनिमित्तः। तेन तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते ॥ ३ ॥

दो प्रकार के व्रण होते हैं—शारीर और आगन्तुक। इनमें शारीरिक व्रण-वायु, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपातजन्य हैं, आगन्तुज व्रण भी—पुरुष, पक्षि, हिंसकपशु, साँप आदि के गिरने से, पीड़न-प्रहार अग्नि-क्षार विष-तीक्ष्णौषध-काष्ठ आदि के टुकड़ों, कपाल, सींग, चक्र, बाण, परशु, शक्ति, कुन्त, आदि शस्त्रों के अभिघात से उत्पन्न होते हैं। इन दोनों में व्रणत्व सामान्य होने से, दो कारणों के कारण उत्पन्न होने के उद्देश्य से इस अध्याय को द्विव्रणीय कहते हैं। जैसा कि चरक में भी इस अध्याय का नाम "द्विव्रणीय" रक्खा है। यथा—'यो व्रणो पूर्वमुद्दिष्टो निजश्चागन्तुरेव च। श्रूयतां विधिवत्सौम्य तयोर्लिङ्गं सभेषजम्'' चरक ॥ ३ ॥

सर्वस्मिन्नेवागन्तुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारणविधिविशेषसन्धानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद्द्विकारणोत्थानप्रयोजनम्, उत्तरकालं तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥ ४ ॥

सभी प्रकार के आगन्तुज व्रणों में उसी समय क्षत की उष्णिमा को आगे न फैलने देने के लिये, पित्त की भाँति शीतल क्रिया को करने तथा व्रण को मिलाने के लिये मधु और घृत का उपयोग करना, ये दो कारणों के उत्पन्न होने के उद्देश्य हैं। पीछे से दोषों के कोप होने प्रर शरीरजन्य व्रणों की भाँति चिकित्सा है।

वक्तव्य—दो उद्देश्य होने से इसे द्विव्रणीय कहा है। आगन्तुज व्रण पीछे दोषों से मिल जाता है, यथा—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं, निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः। तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्, ज्ञात्वा ततः कर्म समादिशेत् ॥ डल्हण ने उत्तरकाल से सात दिन पीछे का समय माना है। सात दिन के पीछे आगन्तुज व्रणों में दोष की अधिकता से शारीरिक व्रणों की भाँति चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—आगन्तुक व्रण में तत्काल उक्त उपचार करने से पाक आदि का प्रारम्भ नहीं होता, परन्तु यदि हो ही जाय तो शारीर व्रण के समान शोधन रोपण आदि उपचार करे। जब तक—पाकादि का प्रारम्भ नहीं होता तब तक व्रण को आगन्तु समझा जाता है और उक्त उपचार किया जाता है, सन्धान के लिए—मधु १ तोला, गो घृत २ तोला मिला फेंटकर लेप करे और आवश्यकता हो तो सीवन कर्म करे। तदर्थ देखिये सू० अ० २५ के श्लोक १६ से २६। यही विशिष्ट कर्म का उपदेश करने के लिए व्रण को दो प्रकार का कहा—लिखा गया है। क्योंकि उसके पश्चात् दोषों का प्रवेश हो जाने पर—पाक आदि का प्रारम्भ हो जाने पर तो आगन्तु तथा शारीर दोनों व्रण समान ही होते हैं अर्थात् उनके लक्षण एवं चिकित्सा दोनों समान होते हैं ॥ ४ ॥

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः प्रसरणसामर्थ्यात्, यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे, शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके ॥ ५ ॥

दोषों का उपप्लव भेद संक्षेप में पन्द्रह प्रकार का है, यह भेद इन दोषों के फैलने के अनुसार है, इसको व्रण प्रश्नाधिकार में कह चुके हैं। एक भेद शुद्ध व्रण होने से व्रण सोलह प्रकार का है ऐसा कई मानते हैं।

वक्तव्य—दोष से वात, पित्त, कफ और रक्त चारों ही का यहाँ ग्रहण है, इसी से कहा है, "नर्ते देहः कफादस्ति, न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥" ॥ ५ ॥

तस्य लक्षणं द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं रुक्। 'व्रण' गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषः ॥ ६ ॥

व्रण के लक्षण दो प्रकार के हैं, सामान्य और वैशेषिक (विशिष्टता के सूचक)। इनमें सामान्य लक्षण दर्द होना है। व्रण-गात्रविचूर्णने इस धातु से व्रण शब्द बनता है, जिसका अर्थ शरीर में विचूर्णता करना है। विशेष-लक्षण—वातादि दोषों से लक्षणों की भिन्नता है।

वक्तव्य—वृणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति। आदेहधारणात्तस्मात् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥ सु० सू० अ० २१। शरीर जब तक रहता है, तब तक विवर्णता रहती है।

वि० मन्तव्य—व्रण में रुजा—वेदना होना सामान्य लक्षण है अर्थात् रुजा सब व्रणों में होती है। व्रण गात्रविचूर्णने धातु है—व्रणयति गात्रं विचूर्णयति इति व्रणः—अर्थात् जो गात्र को चूर २ कर देता है वह व्रण कहलाता है। जितने स्थान में व्रण होता है उतना स्थान चूर २ हो जाता है। देखिये सू० स्था० अ० २१-२२ तथा भगन्दर आदि के प्रकरण। व्रण का नाम है घाव। वह आगन्तु व्रण छः प्रकार का होता है—'छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च। घृष्टं आहुः तथा षष्ठं' और शारीर व्रण—वह है जो प्रथम शोथ उत्पन्न होता है और फिर उसके पककर फूटने पर घाव बनता है। इन सब में गात्र का विचूर्णन होता है, अतः "व्रण" कहलाता है ॥ ६ ॥

तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्, क्षिप्रजः पीतनीलाभः किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति पित्तात्, प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालावततः कठिनः पाण्डववभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति कफात्, प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात्, तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्यां, कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाल्पस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्यां, गुरुः सदाह उष्णः शीतपाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्यां, रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्णास्रावी चेति वातशोणिताभ्यां, घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिमृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्यां, रक्तो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरो सरक्तपाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्यां, स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्यः, कण्डूस्फुरणचुमचुमायमानप्रायः पाण्डुघनरक्तस्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः, दाहपाकरागकण्डूप्रायः पाण्डुघनस्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः; त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः; निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूस्वापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः, जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥ ७ ॥

वातजन्य व्रण—श्याव या अरुण वर्ण, पतला, या शीतल, पिच्छिल, थोड़े स्राववाला, रूक्ष, चटचट करनेवाला (फटने-चिरने के स्वभाव का), स्फुरण (फड़कन), खिचाव, तोद, भेद की अधिक वेदनावाला और मांस रहित (कम मांस का) होता है। पित्तजन्य व्रण-जल्दी उत्पन्न होता है, पीली झांईवाला, ढाक के फूल के पानी के समान, उष्ण स्राव युक्त दाह पाक सुर्खी एवं विकारकारी, पीली पिड़काओं से भरा होता है। कफजन्य व्रण—निरन्तर भयानक, कण्डू बहुल, मोटे किनारों का, सिरा स्नायु के जालों से भरा, कठिन, पाण्डु (श्वेत) वर्ण की झांई का, मन्द वेदना युक्त, श्वेत, शीतल, सान्द्र, पिच्छिल स्राव युक्त और गुरु होता है। रक्तजन्य व्रण—मूँगे की शाखा के समान कान्तिवाला, काले छाले, एवं पिडिकाओं के जाल से भरा, घुड़साल के समान तीक्ष्ण गन्धवाला, वेदना युक्त अतिशय धूमोद्गार करने जैसा, रक्त का स्राव करनेवाला और पित्त वर्ण के लक्षणोंवाला होता है। वात-पित्तजन्य व्रण—तोद, दाह, धूमोद्गार की प्रधानतावाला, पीली या लाल झांई का, वात-पित्त के व्रण के समान वर्ण एवं स्राव युक्त होता है। वात-कफजन्य व्रण—कण्डू युक्त, चुभने की दर्द, रूक्ष, भारी, कठोर, बार-बार शीतल-पिच्छिल और थोड़ा स्राव करनेवाला होता है। पित्त रक्त के कारण व्रण गुरु, दाहयुक्त, उष्ण, पीला और पाण्डुव्रण का स्राववाला होता है। वातरक्तजन्य वर्ण-रूक्ष, पतला, तोद (चुभने की दर्द) की अधिकता का, सोया हुआ सा, लाल—अरुण झांई का, वात-रक्त के समान वर्ण एवं स्राव युक्त होता है। पित्त रक्त के कारण—घी के मण्ड (उपरिभाग) के समान कान्ति का, मछली के धोये हुए पानी के समान गन्ध का, कोमल, फैलनेवाला, उष्ण एवं काला स्राव करनेवाला होता है। कफ रक्तजन्य व्रण—लाल, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, कण्डू बहुल, स्थिर, रक्त (लाल) एवं पाण्डु वर्ण का स्राव करता है। वात-पित्त-रक्तजन्य व्रण—स्फुरण, तोद, दाह, धूमोद्गमन बहुल, पीला-पतला रक्तस्राव करनेवाला होता है। वात कफ-रक्तजन्य-कण्डु, स्फुरण, चुमचुमायमान, तथा पाण्डुघट्ट रक्त स्राववाला होता है। पित्तकफ रक्त-जन्य व्रण-दाह-सुर्खी-पाक-कण्डुबहुल, पाण्डु घट्ट रक्त स्राववाला होता है। वात पित्त-कफ के कारण व्रण तीनों दोषों के वर्ण, स्राव, वेदना के लक्षणों से युक्त होता है। वायु-पित्त, कफ और रक्त के कारण व्रण—जलाने की भांति, मथने की भाँति, स्फुरण, तोद, दाह, पाक, सुर्खी, कण्डू, सुन्नता बहुल, नाना प्रकार की वेदना, वर्ण, स्राव से युक्त होता है। शुद्ध व्रण—जिह्वा तल के समान (दोनों से भरा-लाल) कोमल, स्निग्ध, चिकना, वेदना रहित, भली प्रकार स्थित, बिना स्राव का होता है।